पारमेश्वरागम-मीमांसा



सम्पादक

पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी

शोधप्रकाशन ग्रन्थमाला - ४१

पारमेश्वरागम-मीमांसा

शास्त्रगोष्ठी-विवरण

सम्पादक
राष्ट्रियपण्डित व्रजवल्लभ द्विवेदी
निदेशक, शैवभारती-शोध-प्रतिष्ठानम्

प्रकाशक
शैवभारती-शोध-प्रतिष्ठानम्
जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी - २२१ ००१

Research Publications Series—41

PĀRAMEŚVARĀGAMA MĪMĀṀSĀ

Edited by

PT. VRAJAVALLABHA DWIVEDI

Director, Shaiva Bharati Shodha Pratishthanam

SHAIVA BHARATI SHODHA PRATISHTHANAM

D. 35/77, Jangamawadimath, Varanasi - 221 001

Published by :
SHAIVA BHARATI SHODHA PRATISHTHANAM
D. 35/77, Jangamawadimath
Varanasi - 221 001

ISBN 81-86768-71-8 (Hb)
ISBN 81-86768-72-6 (Pb)

First published : 2006

Price : Rs. 500.00 (Hb) Rs. 450 (Pb)

Laser Typeset at :
Jauhari Process
Jangambari, Varanasi - 221 001

Printed at :
Mittal Offset
Sundarpur, Varanasi

शैवभारती शोध प्रतिष्ठान के संस्थापक
श्री काशीविश्वाराध्य ज्ञानसिंहासनाधीश्वर श्री १००८ जगद्गुरु
डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामी जी का

शुभाशीर्वचन

काशी जंगमवाड़ी मठ के श्री जगद्गुरु विश्वाराध्य जनकल्याण प्रतिष्ठान द्वारा संचालित शैवभारती शोध प्रतिष्ठान विगत अनेक वर्षों से प्राचीन शैवागमों के संशोधन, सम्पादन एवं प्रकाशन आदि कार्य करता आ रहा है। साथ ही साथ शास्त्र-संगोष्ठी का आयोजन भी समय-समय पर कर रहा है। इस शैवभारती शोध प्रतिष्ठान के निदेशक राष्ट्रियपण्डित श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी इन सभी कार्यों को सुचारु रूप से चला रहे हैं।

अट्ठाईस शैवागम वीरशैव धर्म-दर्शन के मूल स्रोत माने जाते हैं। उनमें पारमेश्वरागम एक प्रमुख आगम है। इसलिए पारमेश्वरागम को आधार मानकर हमारे शोधसंस्थान द्वारा एक राष्ट्रीय शास्त्रसंगोष्ठी आयोजित की गयी थी। उसमें विभिन्न प्रान्तों के ३१ विद्वानों ने भाग लेकर अपने विद्वत्तापूर्ण निबन्ध प्रस्तुत किये थे। उन सारे निबन्धों को एक ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है, यह जानकर हमें अपार आनन्द हुआ।

इस गोष्ठी में पढ़े गये षडक्षरीमन्त्र मीमांसा, कर्मज्ञानसमुच्चय, षट्स्थल का स्वरूप, सप्तविध शैव, निराभारी वीरशैव, शैवागमों में भक्ति की महिमा, वीरशैवदीक्षा में स्त्री, शूद्र आदि का अधिकार, लिङ्गधारण दीक्षा, शिवतत्त्व विमर्श, वीरशैवों की आचारमीमांसा, शैवमतों में वीरशैव मत का वैशिष्ट्य आदि विषयों पर विद्वानों के निबन्ध वर्तमान समय क़े अनुरूप समझे जाते हैं।

आगमशास्त्र में एक ही जन्म में मुक्ति के सिद्धान्त को बताया गया है। ''एकेन जन्मना मुक्तिः'' इस उक्ति के द्वारा पारमेश्वरागम उसका समर्थन करता है। श्री सिद्धान्तशिखामणि में—''जन्तुरन्त्यशरीरोऽसौ पिण्डब्दाभिधेयकः'' इस उक्ति से उसी

सिद्धान्त का समर्थन है। इन उक्तियों के विचार से वीरशैव सिद्धान्त में एक ही जन्म में मुक्त होने की बात सिद्ध होती है। यद्यपि मुक्ति चरम पुरुषार्थ है, सुलभतया प्राप्त नहीं होती। ऐसी दुर्लभ मुक्ति को एक ही जन्म में यदि पाना होगा, तो उसके कितनी साधना करनी पड़ेगी यह एक गंभीर विचारणीय विषय है।

इसके लिए वीरशैव सिद्धान्त में एक उत्कृष्ट शिवयोग का प्रतिपादन किया गया है। इस योग के साधक को जन्म के आठवें वर्ष में अपने परम्परागत गुरु से दीक्षा लेकर साधना में प्रविष्ट होना पड़ता है। इस साधक के लिए आठ प्रकार के आवरण (गुरु, लिंग, जंगम, विभूति, रुद्राक्ष, मन्त्र, पादोदक और प्रसाद), पांच प्रकार के आचार (सदाचार, शिवाचार, लिंगाचार, गणाचार एवं भृत्याचार), एवं षट्स्थल (भक्त, माहेश्वर, प्रसादी, प्राणलिंगी, शरण और ऐक्य) का मार्ग बताया गया है।

जो साधक उपर्युक्त साधना मार्ग से अपने जन्म के आठवें वर्ष से यदि प्रामाणिक रूप से साधना करेगा, तो उसे अवश्य उसी जन्म में मुक्ति मिल सकती है। इस साधना मार्ग में साधना करने के लिए उच्च-नीच कुल का तथा स्त्री-पुरुष का भेदभाव नहीं किया जाता। जाति के आधार पर अथवा लिंग के आधार पर दीक्षा नहीं दी जाती, किन्तु "शक्तिपातं समालोक्य दीक्षया योजयेदमुम्" इस उक्ति के अनुसार योग्यता-सम्पन्न किसी को भी दीक्षा दी जाती है। यदि साधक योग्य रहेगा, तो उसको साधना के बल पर एक ही जन्म में मुक्ति मिलने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती।

इसी सिद्धान्त के आधार पर आगमशास्त्रों में एक ही जन्म में मुक्ति पाने की बात कही गयी है। प्रस्तुत शास्त्रसंगोष्ठी में इन्हीं सिद्धान्तों पर विद्वानों के विद्वत्तापूर्ण निबन्ध प्रस्तुत किये गये हैं। इन सारे निबन्धों के "पारमेश्वरागम मीमांसा" इस नाम से ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित होने से ये सारी जनता को समझने के लिए सुलभ होंगे।

हम यहाँ आशा करते हैं कि जिज्ञासु वाचकगण इस ग्रन्थ से बहुत ही अपूर्व ज्ञान अर्जित कर सकते हैं। अतः इन सभी निबन्धों के वाचक विद्वानों को और इनके प्रकाशन में सहयोग करने वाले डॉ. ददन उपाध्याय, डॉ. हरिवंश पाण्डेय आदि सभी को अनन्त मंगलाशीर्वाद। विशेष रूप से अपनी वृद्धावस्था में भी तत्परतापूर्वक इनका सम्पादन करने वाले शैवभारती शोध प्रतिष्ठान के निदेशक राष्ट्रियपण्डित श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी जी के प्रति हम आशा करते है कि इनको शारीरिक एवं मानसिक रूप से स्वस्थ रखकर साहित्य सेवा करने की शक्ति भूतभावन विश्वनाथ प्रदान करें। अन्त में सभी को अनन्त मंगलाशीर्वाद।

इत्याशिषः

प्रस्तावना

वाराणसी के जंगमवाड़ी मठ द्वारा संचालित शैवभारती शोध प्रतिष्ठान के उद्देश्यों में एक समय-समय पर तन्त्रागम-शास्त्र पर, विशेषकर वीरशैव धर्म-दर्शन पर विद्वद्गोष्ठियों का आयोजन करना भी है। तदनुसार इस विषय के महनीय ग्रन्थ पारमेश्वरागम के विशिष्ट विषयों को लेकर एक अखिल भारतीय त्रिदिवसीय (१.१२.२००१ से ३.१२.२००१) शास्त्रसंगोष्ठी आयोजित की गई। विभिन्न राज्यों के अनेक विद्वान् इसमें सम्मिलित हुए और उसमें ३१ शोधनिबन्ध पढ़े गए। साथ ही उन पर उपस्थित विद्वानों में विचार-विनिमय हुआ। अब उन सभी निबन्धों को "पारमेश्वरागम मीमांसा" के नाम से प्रकाशित किया जा रहा है। विद्वानों के विचार-विनिमय को हम यहाँ दे नहीं पा रहे हैं, इसका हमें खेद है।

पारमेश्वरागम को आधार मानकर ही यह शास्त्रसंगोष्ठी आयोजित हुई थी। इस आगम में वीरशैव धर्म-दर्शन के प्राय: सभी प्रमुख विषय समाविष्ट हैं। उन सब पर यहाँ एकाधिक निबन्ध प्रस्तुत हुए हैं। पाठकों की सुविधा के लिए कि वे इन निंबन्धों की तुलनात्मक समीक्षा कर सकें, एक विषय के निबन्धों को एक साथ दिया गया है। जैसे कि पंचाक्षरी-षडक्षरी मन्त्र, ज्ञानकर्मसमुच्चय, षट्स्थलसिद्धान्त आदि। शैव भेदोपभेद, शैव भक्ति, वीरशैव दीक्षा में स्त्री-शूद्र आदि का अधिकार, वीरशैव मत में लिंग-पूजा, वीरशैव मत की अपनी विशिष्टता जैसे विषयों को यहाँ क्रमश: प्रस्तुत किया गया है। इनसे इस आगम की विशिष्टता पर और वर्तमान समय में इसकी सामाजिक नवनिर्माण में उपयोगिता पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

निबन्धों के लिए संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी भाषा को मान्यता दी गई थी। अधिकांश निबन्ध इन्हीं भाषाओं में निबद्ध हैं। मराठी भाषा के निबन्ध को भी मूल रूप में ही यहाँ प्रस्तुत किया गया है। कन्नड़ भाषा में लिखित एक निबन्ध भी हमें मिला, किन्तु मूल लेखक ने ही उसका हिन्दी स्वरूप भी प्रस्तुत कर दिया। हम इनके आभारी हैं।

आगम-तन्त्रशास्त्र में एक ही जन्म में मुक्ति के सिद्धान्त को मान्यता मिली है। जीवन्मुक्ति का सिद्धान्त अनेक भारतीय दर्शनों को भी मान्य है। इनके लिए एक विशेष प्रकार की दिनचर्या अपेक्षित रहती है, जिससे व्यक्ति कर्मसाम्य की स्थिति को प्राप्त कर

लेता है। इस स्थिति में सुन्दोपसुन्द-न्याय से शिवाराधक के पुण्य और पाप आपस में टकरा कर क्षीण हो जाते हैं। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में पौंस्न (आत्मगत) और बौद्ध (बुद्धिगत) के भेद से अज्ञान और ज्ञान के दो-दो भेद मान्य हैं। कर्मसाम्य की स्थिति में बौद्ध अज्ञान निवृत्त हो जाता है और बौद्ध ज्ञान के उदय से व्यक्ति जीवन्मुक्त स्थिति को प्राप्त कर लेता है। बौद्ध ज्ञान का उदय होने पर उसके पौंस्न अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। तब पौंस्न ज्ञान का उदय अवश्य होता है, किन्तु मुक्ति शरीरपात के उपरान्त ही मिलती है। सांख्य दर्शन के अनुसार वह चक्रभ्रमिवत्, कुम्हार के चाक की गति के समान वर्तमान शरीर को धारण किए रहता है। शैवागमों में हिंगु (हींग) त्यक्त पात्र और कस्तूरी का उदाहरण इसी प्रसंग में दिया जाता है। हींग के पात्र से हींग को और वस्त्रपेटिका से कस्तूरी या फिनाइल की गोली को हटा लेने पर भी हींग, कस्तूरी या फिनाइल की गन्ध बनी रहती है, उसी तरह जीवन्मुक्त का शरीर पौंस्न ज्ञान का उदय होने पर भी नष्ट नहीं होगा। सद्योज्योति शिवाचार्य की मोक्षकारिका के निम्न दो श्लोकों से ऊपर निर्दिष्ट जीवन्मुक्ति की स्थिति और मोक्ष की दशा की तुलना की जा सकती है—

अन्तःकरणवृत्तिर्या बोधाख्या सा महेश्वरम्।
न प्रकाशयितुं शक्ता पाशत्वान्निगडादिवत्।।१०६।।

यहाँ वर्णित बोध नामक अन्तःकरण की वृत्ति बौद्ध ज्ञान या संवित् से अभिन्न है। प्रपंचसार (१०.३) ने बोध और संवित् को पर्यायवाची माना है। बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति कराने से यह जीवन्मुक्ति की दशा तक साधक को पहुँचा पाती है, परमेश्वर का साक्षात्कार कराने में, अर्थात् मुक्ति को दिलाने में वह असमर्थ है। तब मुक्ति की प्राप्ति कैसे होगी ? इसकी विधि भी वहीं आगे बताई गई है—

शिवार्कशक्तिदीधित्या समर्थीकृतचिद्दृशा।
शिवं शक्त्यादिभिः सार्धं पश्यत्यात्मा गतावृतिः।।११.१।।

इस प्रकार पौंस्न ज्ञान के उदय से सारे आवरणों के नष्ट हो जाने पर साधक ऐसी मुक्तिदशा को प्राप्त कर लेता है कि फिर उसे नया जन्म नहीं लेना पड़ता। शाक्त तन्त्रों में इसे अपश्चिम जन्म कहा गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि द्वैतवादी सिद्धान्त-शैव, अद्वैतवादी काश्मीरशैव और द्वैताद्वैतवादी वीरशैव दर्शन में जीवन्मुक्ति और मुक्ति की प्राप्ति की प्रक्रिया प्रायः एक-सी है।

जीवन्मुक्ति दशा में व्यक्ति कुछ-न-कुछ करेगा ही। श्रीमद्भगवद्गीता का कहना है— "नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्" (३.५)। ऐसी स्थिति में कर्म-

साम्य दशा कैसे बनी रह सकती है ? इस प्रश्न का समाधान स्वयं श्रुति ने ही किया है कि जीवन्मुक्त व्यक्ति की सेवा करने वाले में उसके पुण्य संक्रान्त हो जाते हैं और उससे द्वेषभाव रखने वालों में उसके पाप कर्म, क्योंकि जीवन्मुक्त व्यक्ति का यह लक्षण अनेक स्थलों पर उद्धृत इस वचन में बताया गया है— "न हृष्यत्युपकारेण नापकारेण कुप्यति"। इस प्रकार हर्ष और विषाद से ऊपर उठे उस जीवन्मुक्त पुरुष में पुण्य और पाप की कोई स्थिति नहीं रहने पाती और उसकी कर्मसाम्य दशा में कोई व्यवधान नहीं आने पाता।

इस जीवन्मुक्ति दशा की प्राप्ति के लिए प्रस्तुत आगम के दो स्थल विशेष रूप से अवधेय हैं। प्रथम उद्धरण में शिवभक्त के आठ लक्षण प्रदर्शित हैं। ये वचन यहाँ दो स्थानों पर (१२.२६-२८ और १७.८३-८५) देखे जा सकते हैं। प्रकरण का उपसंहार इस तरह से किया गया है—

एतदष्टगुणं चिह्नं यस्मिन् म्लेच्छेऽपि दृश्यते।
स शिवेन्द्रो यतिः श्रीमान् स शुचिः स च पण्डितः।। (१२.२८)

ग्रन्थ देखने की जिज्ञासा बनी रहे, इस लिए शिवभक्त के उन आठ लक्षणों को हम यहाँ उद्धृत नहीं कर रहे हैं।

द्वितीय उद्धरण इस प्रकार है—

अद्वेष्टारोऽधिके स्वस्मात् स्वसमेष्वनसूयवः।
अतिरस्कारिणो न्यूने वीरास्ते शिवयोगिनः।। (८.१९)

शिवयोगी के लिए यहाँ द्वेष, असूया और तिरस्कार जैसे दुर्गुणों से दूर रहने का उपदेश दिया गया है। इस वचन की आप बौद्ध महाकवि मातृचेट के अध्यर्धशतक में भगवान् बुद्ध की स्तुति के प्रसंग में प्रस्तुत इस वचन से तुलना कीजिए—

अकृत्वेर्ष्यां विशिष्टेषु हीनाननवमत्य च।
अगत्वा सदृशैः स्पर्धां त्वं लोके श्रेष्ठतां गतः।।

पारमेश्वरागम के अगले वचन (८.३०) में भी स्पर्धा, असूया और तिरस्कार शब्द ही निर्दिष्ट हैं। इन वचनों में अद्भुत साम्य है। जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी से प्रकाशित ग्रन्थ *साम्ययोगमीमांसा* में प्रसंगवश दी गई एक टिप्पणी (पृ. १७६) में प्रो. मुकुटबिहारीलाल जी ने बताया है कि गाँधी जी स्पर्धा की नीति को अनैतिक और 'सहकारिता' के सिद्धान्त पर आधारित व्यवस्था को 'अहिंसात्मक' मानवीय गुण समझते थे। 'सहकारिता' के सिद्धान्त की तुलना हम कौटिल्य के अर्थशास्त्र में प्रदर्शित

संभूय-समुत्थान की प्रक्रिया से कर सकते हैं। मानव को इस ओर आगे बढ़ने का प्रयास अवश्य करना चाहिए।

प्रस्तुत आगम की एक और विशेषता यह है कि यहाँ सप्तविध शैवों के अतिरिक्त पंचविध सौगत मत (१.८) के साथ, वैदिक मत, पंचविध सौर मत, पंचविध वैष्णव मत (१.१०-१४) के साथ गाणपत्य आदि मतों का (१. १८-२१) तथा षड्विध दर्शनों का (१.२२-२३) उल्लेख कर शाक्त, कापाल, भैरव आदि तन्त्रों का भी परिगणन किया गया है। (१.२९-३२)। इन सबका परिचय प्रस्तुत आगम के प्रथम, सप्तम, अष्टम और नवम, पंचदश और सप्तदश पटलों में देखा जा सकता है। नौ से तेरह संख्या तक के निबन्धों में भी संक्षेप अथवा विस्तार से यह विषय संमिलित है। इस प्रकार तन्त्रागमशास्त्र के विभिन्न मत-मतान्तरों की, विशेष कर सप्तविध शैवों की और निराभारी वीरशैवों की यहाँ विशद चर्चा मिलती है। शक्तिसंगमतन्त्र के चतुर्थ खण्ड के संस्कृत उपोद्घात में तथा अन्यत्र भी हमने इस विषय को प्रस्तुत किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में तथा अन्यत्र भी इस शास्त्र का बहुत विस्तार हुआ था। हम बता ही चुके हैं कि आधुनिक सामाजिक और सांस्कृतिक समस्याओं के समाधान में इनका महनीय सहयोग हो सकता है।

हमारे सामान्य निवेदन को स्वीकार कर इस विषय के विख्यात विद्वानों ने अपनी रुचि के विषय को चुनने और उसे लिपिबद्ध करने में अपना अमूल्य समय दिया, इसके लिए हम सभी के प्रति अपना आभार प्रकट करते हैं। भविष्य में भी वे हमारा इसी प्रकार सहयोग करेंगे, इसका हमें पूरा विश्वास है। शैवभारती शोध प्रतिष्ठान के प्रकाशन सम्बन्धी कार्यों में डॉ. जी.सी. केण्डद मठ का सदा सहयोग रहा है। यहाँ प्रकाशित अंग्रेजी लेखों के संशोधन में डॉ. रमा घोष ने स्मरणीय सहायता की है। संस्कृत और हिन्दी निबन्धों के संशोधन में डॉ. शीतलाप्रसाद उपाध्याय, डॉ. ददन उपाध्याय और डॉ. हरिवंश पांडेय का सहयोग भुलाया नहीं जा सकता। आशा है कि इन सबका सहयोग हमें आगे भी मिलता रहेगा। हम इन सबके प्रति शैवभारती शोध प्रतिष्ठान की ओर से साधुवाद प्रकाशित करते हैं।

शैवभारती शोध प्रतिष्ठान
जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी
महाशिवरात्रि, संवत् २०६१

विद्वद्वशंवद
व्रजवल्लभ द्विवेदी
निदेशक

विषय-सूची

●

विषयोपस्थापन

काशी ज्ञानसिंहासनाधीश्वर शिवाचार्य महास्वामी जी, अध्यक्ष महोदय 'पद्मश्री' प्रो. विश्वनाथ वेंकटाचलम् जी, गोष्ठी के उद्घाटक प्रो. वी. कुटुम्ब शास्त्री जी, मुख्य अतिथि डॉ. एम. शिवकुमार स्वामी जी, पण्डितप्रवर प्रो. सुधांशुशेखर शास्त्री जी, उपस्थित शिवाचार्यगण, विद्वद्गण एवं बन्धु-भगिनियों !

आपके समक्ष मैं इस विद्वद्गोष्ठी के विचारणीय विषयों को उपस्थापित करने के लिये उपस्थित हूँ। इस विद्वद्गोष्ठी के मुख्य विषयों की उपस्थापना तो उस पत्र के साथ ही हो गई थी, जिसमें संलग्न सूची में अंकित किसी एक विषय पर निबन्ध लिखकर भेजने की प्रार्थना की गई थी। उनकी यहाँ पुन: चर्चा न कर कुछ विचारणीय मुद्दों को मैं उठाना चाहता हूँ , जो आज के भारत के ही नहीं, पूरी मानवता के भी चिन्ता के कारण बने हुए हैं।

प्राय: हम देखते हैं कि आधुनिक इतिहासज्ञ शिवागमों को मोहेंजोदड़ो-हड़प्पा से जोड़ते हैं और उसको द्रविड़ संस्कृति नाम देते हैं। द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विचार-सरणि का सहारा लेकर ये कहते हैं कि वैदिक संस्कृति के अग्रदूत आर्यों ने बाहर से यहाँ आकर द्रविड़ संस्कृति को पराभूत कर दिया। सिन्धु-सभ्यता की लिपि का जब तक सही वाचन नहीं हो जाता, तब तक इस तरह के विचारों को प्रस्थापित करने का कोई आधार हमें प्रतीत नहीं होता। हाँ, इस देश को छिन्न-भिन्न कर देने के प्रच्छन्न बीज हमें इसमें दिखाई पड़ते हैं और तमिलनाडु एवं श्रीलङ्का में ये अंकुरित होते हुए भी दिख रहे हैं। इसका शीघ्र प्रतीकार अपेक्षित है।

आज का भारत आचार्य शङ्कर से लेकर वल्लभाचार्य तक की लम्बी द्रविड़ाचार्यों की शिक्षा से सञ्चालित है। रामेश्वर से केदारेश्वर, सोमनाथ से वैद्यनाथ धाम तक स्थित द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों की यात्रा सभी श्रद्धावनत भारतीय करते हैं। वीरशैवाचार्यों ने भी श्रीशैल से उखी मठ पर्यन्त भारतभूमि में अपने पावन पाँच पीठों की प्रस्थापना की थी। पूरे भारतवर्ष की इस एकता को खण्ड-खण्ड कर देने वाले विचारों का यदि समय रहते अब भी हमने प्रतीकार नहीं किया, तो विश्व का यह प्राचीनतम देश भी आधुनिक सभ्यता और विचारों के प्रतीकरूपी गणराज्य की भाँति टुकड़े-टुकड़े हो जायेगा।

पारमेश्वरागम इसकी अनुमति नहीं देता। इस आगम की हम श्रीमद्भगवद्गीता के साथ तुलना कर सकते हैं। शिवागम सौरभ (कन्नड़ ग्रन्थ) के अनुबन्ध (पृ. ५७-६७) में तथा लिङ्गधारणचन्द्रिका के अतिविस्तृत अंग्रेजी भाषा के उपोद्घात (पृ. २४६-२५५) में यह कार्य किया भी गया है।

कश्मीरी प्रत्यभिज्ञादर्शन के महान् आचार्य अभिनवगुप्त ने निगम और आगम की परिभाषा देकर आगम के विषय में लिखा है– **"स च यो यस्य हृदये निरूढिमागतः स एव।.....न हि बुद्धो नाम नियतः कश्चित्, अपि तु भावना-बलप्रतिलब्धक्षणिकादिदृढविमर्शः। तस्य क्षणिकादिभावनोपदेशी गुरुः पूर्वबुद्धः, तस्याप्यन्य इति क्रमेणानियतवक्तृकत्वात् पारमेश्वरविमर्शमयतैव वस्तुतः। एवं चतुर्विंशतितत्त्वभावनाभावितः कपिलो मन्तव्यः। अत एव सर्वागमा अनादय एव"** (ई. प्र. वि. वि., भा. ३, पृ. ९६-९८)। इस परिभाषा के अन्तर्गत हम कृतान्तपञ्चक के नाम से प्रसिद्ध सांख्य आदि शास्त्रों का प्रामाण्य तो स्वीकार कर ही सकते हैं और सिद्धान्तशिखामणि जैसे वीरशैव धर्म-दर्शन के प्रतिनिधि ग्रन्थ में ऐसा किया भी गया है; साथ ही हम अन्य आधुनिक धर्मों का भी समावेश कर आचार्य शङ्कर के द्वारा प्रवर्तित पञ्चायतन अथवा षडायतन पूजापद्धति की तरह अन्य धर्मों में भी इस पद्धति का बीज-वपन कर सकते हैं। इस शुभ कार्य में भी पारमेश्वरागम हमारी सही सहायता कर सकता है। यहाँ कहा गया है—

स्त्रियस्तु लिङ्गधारिण्यः पुरुषा विष्णुसेवकाः।।
पुरुषा लिङ्गिनः केचिद् वैष्णव्यस्तु स्त्रियस्तथा।
तयोरहं गतिश्चैव मत्प्रीतिरुभयोः समा।।

(पा. १७. २०-२१)

आज हम इसी दृष्टि का सहारा लेकर समस्त भारतीय प्रजा में सौहार्द स्थापित कर सकते हैं। यहीं का दो जगह स्मृत अन्य वचन भी देखिये—

शिवभक्तेषु वात्सल्यं पूजायां चानुमोदनम्।
स्वयमभ्यर्चनं चैव तदर्थं चाङ्गचेष्टनम्।।
तत्कथाश्रवणे भक्तिः स्वरनेत्राङ्गविक्रिया।
शिवानुस्मरणं नित्यं सर्वथा तदकैतवम्।।
एतदष्टगुणं चिह्नं यस्मिन् म्लेच्छेऽपि दृश्यते।
स शिवेन्द्रो यतिः श्रीमान् स शुचिः स च पण्डितः।।

(पा. १२. २६-२८; एवं १७. ८३-८५)

मुकुटसंहिता का यह वचन भी इसी का समर्थन करता है— **"द्विजोऽपि मायी त्याज्यस्तु म्लेच्छो ग्राह्यो ह्यमायकः"**। शिवपुराण, गरुडपुराण जैसे ग्रन्थों में और पूरे भारत में विभिन्न भाषाओं के माध्यम से मुखरित सन्तों की वाणियों में इन्हीं विचारों की प्रस्तुति हुई है। ऐसा होने पर भी आज ब्राह्मणवाद, मनुवाद जैसे वैवर्तिक शब्दों के सहारे भारतीय प्रजा को भ्रमित ही नहीं किया जा रहा है, भारतीय धर्म और संस्कृति को अपसंस्कृतियों की गोद में बैठा देने का षड्यन्त्र भी रचा जा रहा है। भारतीय सनातन धर्म और संस्कृति के विरुद्ध किया जा रहा यह मिथ्या प्रचार ही आतङ्कवाद को प्रश्रय दे रहा है।

आगम-तन्त्रशास्त्र में कुल, जाति आदि के अभिमान को दुराग्रह अथवा पाश नाम दिया गया है। **"स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्"** भगवद्गीता के इस वचन को यहाँ पूरी मान्यता मिली है। वीरशैव आगमों में हम इसको स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। कूर्मपुराण में भी चतुर्वर्ण और जाति-व्यवस्था के स्थान पर ब्राह्म, शैव और वैष्णव नामक तीन वर्णों की भी सत्ता मानी गई है। बौद्ध तन्त्र कालचक्र की विमलप्रभा टीका में तीन मतों के रूप में इनकी चर्चा मिलती है। तन्त्रागमशास्त्र का सिद्धान्त है कि दीक्षा के बाद व्यक्ति की पूर्व जाति समाप्त हो जाती है, वह जिस मत की दीक्षा लेता है, वही उसकी पहचान रह जाती है। यहाँ का स्पष्ट उद्घोष है– **"प्राग्जात्युदीरणाद् देवि क्रव्यादत्वं शतं समाः"**। संन्यासी के लिए भी तो शास्त्रों का यही आदेश है कि वह अपनी पूर्व जाति को भूल जाय। वीरशैव धर्म में इसका पूरी तरह से पालन होता है और स्त्री को भी सभी अवस्थाओं में इष्टलिङ्ग के धारण और पूजन का अधिकार मान्य है।

निरन्तरता के साथ परिवर्तन भारतीय संस्कृति का विशेष गुण है। सेमेटिक धर्मों में ऐसा नहीं हो पाया है, अतः इन धर्मों के अनुयायी भारतीय सनातन धर्म को भी उसी रूप में देखते हैं, जो रूप उसका प्राचीन काल में था। ब्राह्मणवाद, मनुवाद जैसे शब्दों की प्रवृत्ति इसी मानसिकता को उजागर करती है। इसी के निवारण के लिए हमने "तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन" नामक अपने बृहद् ग्रन्थ में बताया है कि वैष्णव, शैव, शाक्त, बौद्ध, जैन और स्मार्त तन्त्रों के माध्यम से 'श्रमण-ब्राह्मणम्' की संकुचित दृष्टि का परित्याग कर कैसे नूतन विचारों को स्वीकार किया गया। **"पुराणमित्येव न साधु सर्वम्"** यहाँ महाकवि कालिदास ने भी यही कहा है। इन्हीं के आधार पर भारत में एक समन्वयात्मक दृष्टि का विकास हुआ। सन्तों, भक्तों, सूफियों और गुरुओं ने इन उपदेशों को अपनी-अपनी वाणी में पिरोया है। सेमेटिक धर्मों को भी इस परिधि में लाया जाना चाहिये कि वे भी अपने-अपने धर्मों के कालातीत तत्त्वों का परित्याग कर

सकें। इन धर्मों में प्रविष्ट दुराग्रहों का परित्याग अपेक्षित है। इनके हटने पर ही हम आतङ्कवाद जैसी अमानवीय दुष्प्रवृत्तियों पर सही रूप में रोक लगा सकते हैं।

तन्त्रागमशास्त्र सर्वथा वेदविरोधी है, यह धारणा भी सही नहीं है। हमने "तन्त्रागमशास्त्र पर वैदिक कर्मकाण्ड का प्रभाव" शीर्षक निबन्ध लिखा था। अभी हाल में प्रकाशित होने वाले "भारतीय संस्कृति का समग्र स्वरूप" नामक ग्रन्थ में इसका समावेश किया गया है। इसमें हमने बताया है कि दीक्षा के अवसर पर तथा मन्त्र-पुरश्चरण के प्रसङ्ग में आगम-तन्त्रशास्त्र की सभी शाखाओं में अग्नि-समाराधन का विधान है। पारमेश्वरागम के चतुर्थ पटल में भी यह विषय वर्णित है। बौद्ध कालचक्रतन्त्र की टीका विमलप्रभा में चतुर्थ ज्ञानाग्नि के निरूपण के प्रसङ्ग में ऋग्वेद और यजुर्वेद का मन्त्र भी उद्धृत है। परस्पर के विग्रह को भारतीय दृष्टि सदा नकारती रही है। सेमेटिक धर्मों की सङ्गति से यह दूषण इधर इसमें भी पुन: प्रविष्ट हो गया है, जो आगम-तन्त्रशास्त्र एवं उनसे अनुप्राणित सन्तों की वाणियों के कारण आँख-ओझल हो गया था। उन उपदेशों को पुन: **सतेज** बनाने की आवश्यकता है। पारमेश्वरागम इसमें हमारी सर्वाधिक सहायता कर सकता है।

किन गुणों के कारण कुमार सिद्धार्थ महात्मा बुद्ध कहलाये, बौद्ध महाकवि **मातृचेट** के एक श्लोक में उनका वर्णन इस प्रकार हुआ है—

अकृत्वेर्ष्यां विशिष्टेषु हीनाननवमत्य च।
अगत्वा सदृशैः स्पर्धां त्वं लोके श्रेष्ठतां गतः॥

पारमेश्वरागम में वीरमाहेश्वर शिवयोगी के विषय में भी यही बात इस तरह से कही गई है—

अद्वेष्टारोऽधिके स्वस्मात् स्वसमेष्वनसूयवः।
अतिस्कारिणो न्यूने वीरास्ते शिवयोगिनः॥

इन दोनों श्लोकों के अभिप्राय में कोई अन्तर नहीं है। स्पर्धा, असूया और तिरस्कार नामक भावों से ऊपर उठने का यहाँ उपदेश दिया गया है। स्पष्ट है कि पारमेश्वरागम का यह साम्ययोग आधुनिक साम्यवाद से बहुत ऊँची कोटि का है। इस उपदेश के अनुसार प्रत्येक मानव शिखर-पुरुष बन सकता है।

इन्हीं कुछ विषयों की चर्चा के साथ हम अपने वक्तव्य को विराम देना चाहते हैं।



पञ्चाक्षरीप्रपञ्चः (पञ्चाक्षरीमन्त्रस्य विशदं रूपम्)

डॉ. अन्तलूरिमृत्युञ्जयशर्मा

वेदान्ततत्त्वकरुणामृतसारमन्त्रं चिद्रूपदृक्परमशैवरहस्यमन्त्रम् ।
ज्योतिर्महोज्ज्वलनिरञ्जनरूपमन्त्रं वन्दे षडक्षरिसदाशिवनाममन्त्रम् ।।

विदितचरमेतद् भारतीयानामास्तिक्यभावनाभावितान्तःकरणानां समेषां विदुषां यद् निर्गुणनिरञ्जननिराकारपरब्रह्मण उपासनार्थं सकलानुग्रहाय मूर्तकल्पना इति । द्वयोरपि ब्रह्मणोर्मन्त्राधीनत्वं वेदागमपुराणेषु प्रसिद्धम् । तस्य श्रवण-मनन-निदिध्यासनपूर्वक-दर्शनार्थं मन्त्रस्य आवश्यकता चास्तीति ।

तादृशपरब्रह्मणो वाचकः प्रणवः । स च अकार-उकार-मकार-नाद-बिन्दु-रूपः पञ्चात्मकः सूक्ष्मः । तस्य स्थूलं रूपं नकारादियकारान्तः पञ्चाक्षरात्मकः । वाच्यवाचकयोरभेदात् परशिवाख्यं ब्रह्म पञ्चाक्षरात्मकं भवति ।

शिवो वा प्रणवो ह्येष प्रणवो वा शिवः स्मृतः ।
वाच्यवाचकयोर्भेदो नात्यन्तं विद्यते यतः ।।
ओङ्कारं परमं ब्रह्म सर्वमन्त्रेषु नायकम् ।
आद्यमन्त्रोऽक्षरं ब्रह्म त्रयी यस्मिन् प्रतिष्ठिता ।।
सर्वमन्त्रप्रयोगेषु ओमित्यादौ प्रयुज्यते ।
तेन सम्परिपूर्णानि यथोक्तानि भवन्ति हि ।।
ब्रह्मादिस्थावरान्तानां सर्वेषां प्राणिनां खलु ।
प्राणः प्रणव एवायं तस्मात्प्रणव ईरितः ।।

मन्त्राणां प्रणवः सेतुः-------इत्यादिप्रमाणैरोङ्कारस्य परशिवरूपत्वं सर्वमन्त्रादिमत्त्वं च प्रतिपादितम् । स च ओङ्कारो निर्गुणपरशिवब्रह्मणो वाचकः । स्थूलपञ्चाक्षरस्य तु सगुणवाचकत्वं प्रमाणैरवगम्यते ।

कठोपनिषदि नचिकेतं प्रति यमेन **''सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति''** इत्यारभ्य **'एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते''** इत्यन्तेन ओङ्कार एव परं ब्रह्म, तस्य उपासना अवश्यं कर्तव्येति बोधितम् ।

ओङ्कारः शिव एव, तस्मिन् अकारोकारमकारार्धमात्रात्मकानि चत्वार्यक्षराणि सन्ति। शिवशब्देऽपि शकार-इकार-वकार-अकार-रूपाणि चत्वारि अक्षराणि च। यथा ओङ्कारे सर्वे वेदाः सर्वं वाङ्मयं सर्वे सृष्ट्यादयः सन्ति, तद्वत् शिवशब्देऽपि शकारस्य स्थूलशरीरवाचकत्वं, जाग्रदवस्था, विश्व विराड् ऋग्वेदात्मकत्वं, इकारस्य सूक्ष्मशरीर-स्वप्नतैजसहिरण्यगर्भयजुर्वेदात्मकत्वं, वकारस्य कारणशरीरसुषुप्तिप्राज्ञ ईश्वरसामवेदरूपत्वम्, अकारस्य कारणातीतत्वं तुरीय आत्मपरमात्मब्रह्मणो वेद-वेदशिरोभागरूप-उपनिषद्रूपत्वं, समस्तोऽपि प्रपञ्चः शिवादेव आविर्भूय तस्मिन्नेव लीनं गमिष्यतीति शिवस्य विश्वरूपत्वमवगम्यते। अत ओङ्कारश्शिव एव। अपि च—

त्रयीं तिस्रो वृत्तीस्त्रिभुवनमथो त्रीनपि सुरा-
नकाराद्यैर्वर्णैस्त्रिभिरभिदधत्तीर्णविकृति ।
तुरीयं ते धाम ध्वनिभिरवरुन्धानमणुभिः
समस्तं व्यस्तं त्वां शरणद गृणात्योमिति पदम् ।।

त्रयीं वेदत्रयम्, तिस्रो वृत्तयः जाग्रत्-स्वप्नसुषुप्तयः, त्रिभुवनं भूर्भुवस्स्वर्लोकान्, ब्रह्मविष्णुरुद्रान्, विश्वतैजसप्राज्ञान्, वा अकारादिवर्णैः अभिदधद् ओमिति पदं समस्तमुदित-मिति व्याख्यया अकार-उकार-मकार-बिन्दु-नाद-रूप-पञ्चेश्वर-पञ्चब्रह्म-पञ्चकृत्यरूपक-त्वं च प्रणवस्य प्रतिपादितम्। किञ्च–

यो वेदादौ स्वरः प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठितः ।
तस्य प्रकृतिलीनस्य यः परः स महेश्वरः ।।

इति प्रकरणवाक्याभ्यां प्रणवस्य माहेश्वरशेषत्वमवगम्यते। माण्डूक्योपनिषदि च ओमित्येतदक्षरमुपक्रम्य "अयमात्मा चतुष्पाद्" इति वाच्यवाचकयोश्चतुर्धा विभागपुरस्सरं विश्वतैजसप्राज्ञानां जाग्रदादिवैशिष्ट्यमुक्त्वा अवस्थात्रयातीतं निरुपाधिकं शिवाख्यं चतुर्थनादार्थत्रयज्ञेयमुपसंहारे प्रतिपादितम्।

अथर्वोपनिषदि च य ओङ्कारः सः प्रणवः यः प्रणवः स सर्वव्यापी, यः सर्वव्यापी सोऽनन्तः, योऽनन्तस्तत्तारं यत्तारं तत्सूक्ष्मम्, यत्सूक्ष्मं तच्छुक्लम्, यच्छुक्लं तद् वैद्युतम्, यद्वैद्युतं तत्परं ब्रह्म, स एको रुद्रः, स ईशानः, स भगवान् महेश्वरः, स महादेव इंत्यन्तेन ओङ्कार एव तारयति, स एव परब्रह्म इति, स रुद्र-ईशान-महेश-पदवाच्यः शिव एव" इति स्पष्टमुक्तं भवति। "**ज्योतिर्मयं परं लिङ्गं श्रुतिराह शिवात्मकम्**" इत्यादिवेदागमवचनैः शिवात्मकं ज्योतिर्लिङ्गमोङ्कार एव— "ओङ्कार एव लिङ्गं स्यात् सर्वकारणकारणम्। ओमिति तद्ब्रह्मपदं लिङ्गाकारं महेश्वरम्" ॥ तदेव नकारादियकारान्तेन स्थूलपञ्चाक्षरीरूपेण परिणतं भवति।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म नमः शिवायेत्यजायत। ओमित्येकाक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्। ओङ्काररूप एकाक्षरमेव दृश्यादृश्यप्रपञ्चरूपं सर्वम्। तद्व्याख्यानमेव वेदः। "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति, रूपाणि सर्वाणि च यद्वदन्ति, यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति। तत्ते पदं सङ्ग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥" (कठवल्ली- १.१५)

"तदेव लिङ्गं प्रथमं प्रणवं सार्वकामिकम्" इत्यादिशिवपुराणवचनैश्च प्रणवस्य लिङ्गरूपत्वमवगम्यते। एवं च वेदागमपुराणवचनैः प्रणवस्य परब्रह्मवाचकत्वम्, तस्यैव च शिवरूपत्वं निरूपितं भवति।

परमेश्वरेण प्रथमं स्वस्वरूपभूत ओङ्कारमन्त्र उपदिष्टः। तद्गताकाशादिरूपपञ्चवर्णानां शिवस्य पञ्चमुख-पञ्चकृत्य-पञ्चभूतात्मकत्वम्, अ-इ-उ-ऋ-ऌ-रूपपञ्चस्वराणां कचटतपादिपञ्चवर्गाणां चोत्पादकत्वम्, ततः त्रिपदागायत्रीप्रादुर्भावः, ततो समस्तवेदादिविद्यानामाविर्भावश्च पुराणादिष्वभिवर्णितः।

पञ्चाक्षरवाच्यस्य शिवस्य षडध्वनां च सर्वेषां मन्त्राणां मूलभूतत्वेनेयं पञ्चाक्षरीमन्त्रो मातेति गीयते। अयमेवार्थो वैदिकाचारनिर्णये—

सप्तकोटिमहामन्त्राः पञ्चाक्षरपुरस्सराः।
मन्त्राणां परमो मन्त्रः शिव इत्यक्षरद्वयम्॥

इत्यनेन समर्थितः।

वेदचतुष्टये मध्यमणिरिव विद्यमाने यजुर्वेदे चतुर्थकाण्डे विद्यमानं रुद्राध्याये सोऽयं पञ्चाक्षरीमन्त्रः "नमः शिवाय" चेति, जाबालोपनिषदि च "ओमित्यग्रे व्याहरेत्, नम इति पश्चात्। ततः शिवायेत्यक्षरत्रयम्" ओमित्यग्रे व्याहरेत्, नम इति पश्चात्, ततो महादेवायेति पञ्चाक्षराणि। नातस्तारकः परमो मन्त्रस्तारकोऽयं पञ्चाक्षरः कोऽयं शैवो मनुः शैवस्तारकोऽयमुपदिश्यते मनुरविमुक्ते शैवेभ्यो जीवेभ्यश्शैवोऽयमेव मन्त्रस्तारयति। स एव ब्रह्मोपदेशो। ब्रह्म सोमोऽहं पवते। इति वैदिकोऽयं पञ्चाक्षरः शैवागमेषु—

ओङ्कारपूर्वकत्वेन षडक्षर इति कथ्यते।
ओङ्कारपूर्वमन्त्रोऽयं पञ्चाक्षरमयः परः।
वेदागमेषु सर्वेषु षडक्षर इति गीयते॥

स तु शिवात्मकः, नार्थवादरूपः। भवसागरमग्नानां देहिनां हिताय हरः स्वयमेव ओम् नमश्शिवायेति प्राह। स्थूलसूक्ष्मरूपपञ्चाक्षरयोर्नात्यन्तं भेदो विद्यत इति—

अ-उ-माश्चैव नादश्च कला चेत्यंशपञ्चकम्।
मिलित्वा प्रणवो जज्ञे सूक्ष्मपञ्चाक्षरात्मकः॥

तथा नमः शिवायेति स्थूलपञ्चाक्षरो भवेत् ।
प्रतिपाद्ये महत्त्वेऽपि नानयोर्विद्यते भिदा ।।

इत्यनेन ज्ञायते । सिद्धान्तशिखामणावपि—

प्रणवेनैव मन्त्रेण बोध्यते निष्कलः शिवः ।
पञ्चाक्षरेण मन्त्रेण पञ्चब्रह्मतनुस्तथा ।।
- -
उभयात्मा शिवो मन्त्रे षडक्षरमये स्थितः ।।

इति प्रणवपञ्चाक्षरयोः शिवस्य सकलनिष्कलरूपकत्वं दृढीकृतम् । सिद्धान्तसारावलावपि– नमः पीठमिति प्रोक्तं.........ओङ्कारं लिङ्गमाख्यातं षड्वर्णं लिङ्गमुच्यते । इत्यन्तेन ओङ्कारपञ्चाक्षर्योः शिवरूपत्वमभिन्नत्वं च प्रतिपादितम् ।

शिवानुभवसूत्रे षष्ठाधिकरणे च—

ओङ्कारवदना देवी............... ।
सतारा लिङ्गरूपिणी शिवमन्त्राभिधा ।।

इत्यन्तेन च षडक्षर्या लिङ्गस्य भिन्नत्वं शिववाचकत्वं चोक्तम् । विमलागमे च–

तारकं दण्डकं चैव कुण्डली अर्धचन्द्रकम् ।
..................ओमिति ज्योतिरूपकम् ।।

इत्यन्तेन तारक-दण्डक-कुण्डली-अर्धचन्द्र-बिन्दुशब्दैर्ब्रह्म-विष्णु-रुद्र-ईश्वर-सदाशिवज्योतीरूप ओङ्कारः, सूक्ष्मो नकारादियकारान्तः स्थूल इति ओङ्कारस्य पञ्चाक्षरेणाभिन्नत्वं सूक्ष्मपञ्चाक्षरत्वं च सम्यक्तया प्रतिपादितम् ।

अस्मिन्नेवागमे पञ्चाक्षरीकल्पे मन्त्रमाहात्म्यादिवर्णनपूर्वकं सद्योजातादिपञ्चमुखेभ्य एकैकशः पञ्चविंशतिः महामनवः प्रादुरासन्निति वर्णितम् । अर्थ-वर्ण-पद-वाक्यभेदेन परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरीति चतुर्विधा उक्तयोऽस्मिन् सन्ति । ओमर्थः– अकार-उकार-मकारेषु अकारो लिङ्गः, उकारोऽङ्गः, मकारस्तयोस्संयोग इति हेतोरोङ्कारश्च लिङ्गाङ्गसंयोगरूपोऽर्थः प्रतिपादितः । एवमेव–

नमःपदं तत्खलु जीववाची
शिवःपदं तत्परमात्मवाची ।
अयेति तादात्म्यपदं तदेतं
नमः शिवायेति जगाद मन्त्रः ।।

इत्यनेन पञ्चाक्षर्या अपि शिवजीवैक्यबोधकत्वेन ओङ्कारपञ्चाक्षर्योरभिन्नत्वं शिववाचकत्वं च सुस्पष्टम्। नादियान्तः स्याद्वर्णः नमः शिवायेति पदम्, नमः शिवायेति वाक्यम्। मनोभवो अर्थ इति, दृग्भवो वर्ण इति, वाग्भवः पदमिति, वपुर्भवो वाक्यमिति चोक्तम्।

पारमेश्वरागमे पञ्चाक्षरमन्त्रोद्धारः-

जीवपूर्वं मरुत्पूर्वं स्मरपूर्वं समन्वितः।
पार्श्वमक्षिसमायुक्तं वरुणस्थं धनुप्रिये॥

"वह्निपूर्वं ततो देवि मन्त्रः साक्षान्मदात्मकः" इति श्रीविद्यार्णवे त्रिकाश्वासे "पञ्चमस्य तु वर्गस्य" इत्यारभ्य- "एष पञ्चाक्षरो मन्त्रः प्रणवाद्यः षडक्षरः। यत्साधनात्तु मनुजाः शिवसायुज्यमाप्नुयुः॥" इत्यन्तेन पञ्चाक्षरमन्त्रोद्धारं कृत्वा तस्य परशिवब्रह्मणो वाचकत्वम्, ब्रह्म विद्यात्वम्, परशिवब्रह्मानन्दप्रापकत्वं च सम्यक्तया प्रतिपादितम्।

पारमेश्वरागमे एकादशपटले पञ्चाक्षरीजपानुष्ठाननिरूपणसन्दर्भे सर्वविद्या-बीजभूतत्व-वेदसारत्व-समस्तजीवानां मूलभूततत्त्वस्य शिवस्य वाचकत्वान्मूलमिति, सप्तकोटि-महामन्त्रोपमन्त्राणां सूत्ररूपत्वं शिवज्ञानविद्यास्थानानां षडक्षररूपभाष्यत्वमुपवर्णितम्।

एवं पञ्चाक्षरीमाहात्म्यमुपवर्ण्य एकैकाक्षरस्य वर्ण-ऋषि-च्छन्दो-देवतानिरूपणम्, मन्त्रवर्णन्यासादिकं, मन्त्र-ग्रहणविधिः, षडध्वशोधनम्, जपविधानं च समग्रतया निरूपितम्। मन्त्रपुरश्चर्या, जपविधिप्रकारः, तस्य च मानसिक-उपांशु-वाचिकत्वरूपत्रैविध्यम्, सगर्भत्वम्, अगर्भत्वम्, सध्यानत्वं च निरूप्य, जपमालालक्षणम्, जपे अङ्गुलीविनियोगविधिः, पञ्चाक्षरीमन्त्रमाहात्म्यम्, संख्याभेदेन फलभेदश्च प्रतिपादितः। नैष पञ्चाक्षरो मन्त्रो जापकानामेव मुक्तिप्रदः, अपि तु, तत्प्रभावेण सर्वेषां पापिनामपि उद्धारो भवतीति सानन्दोपाख्यानादवगम्यते।

श्रीमद्भगवत्पद्मपादाचार्यैः- **"त्यागो हि नमसो वाच्य आनन्दप्रकृतेस्तथा"** इत्यारभ्य अतोऽहं च समा भद्र शिवा योऽहं न संशयः" इत्यन्तैस्त्रयोविंशतिश्लोकैः पर- शिवाभिन्नमोक्षविद्यारूपब्रह्मविद्यायाः शिवपञ्चाक्षर्या भाष्यं लिखितम्।

१. अत्र नमःशब्दस्य त्यागार्थकत्वम्, आत्मेतरगेहदेहेन्द्रियान्तःकरणादिकं सर्व त्यजामि अनात्मतया उत्सृजामि।

२. नमःशब्दस्य प्रणवार्थकत्वं दैन्यापरपर्यायसेवारब्धये परमभक्तिप्राप्तिः फलम्।

३. नमःशब्दस्य हे देवेश नञा अव्ययेन=जगदात्मनो जगदाकारेण भासमानस्य परमेश्वरस्यापि तव मनसः परिणामो भावविकार आकाशादिरूपो देहान्तःकरणादिरूपश्च निषिध्यते।

४. नमसो ध्यानमर्थः, ध्यानं च निदिध्यासनमेव शिवायेति तादर्थ्ये चतुर्थी, तस्याः शिवार्थमर्थः। प्रत्यगात्मतादात्म्यलाभाय इत्यर्थः। अहं शिवतादात्म्यलाभाय नमनं निदिध्यासनं करोमीति वाक्यार्थः।

५. नमःशब्दस्य दासार्थकत्वं **''ईशानः सर्वविद्यानां ईश्वरः सर्वभूतानाम्''** इत्यादिश्रुतिभिः सर्वभूतनियन्तृत्वकथनेन भूतानां दासत्वम्, ईश्वरप्रवर्त्यत्वं चोक्तमिति नमःशब्दस्य नमस्कारोऽर्थः। हे शिवः नमनकर्ता अहं तव दासः, ''यो यच्छ्रद्धः स एव सः'' इत्येवं मां ज्ञात्वा आत्मस्वरूपज्ञानप्रदानेन आत्मस्वरूपं मा कुरु।

६. नमःशब्दस्य न मा यस्यास्ति इति माशब्दस्य लक्ष्मीवाचकत्वं, मम लक्ष्मीर्नास्ति, सोऽहं नमःशब्दवाच्यः। हे मायेश! दरिद्रमज्ञानं निराकृत्य लक्ष्मीं विद्यां प्राप्तुमिच्छामि, तस्माद् विरक्ताय मुमुक्षवे अधिकारिणे मह्यं प्रापय।

७. नमःशब्दस्य परिणामराहित्यं, बृहदारण्यकोपनिषदि नेति नेतीत्यत्र प्रतिपादितं सकलनिषेधाधिष्ठानत्वेन ब्रह्मणः सर्वाश्रयत्वं परिच्छिन्नस्य जीवस्य स्वरूपज्ञानाद् अपरिच्छिन्नत्वरूपत्वं चार्थ निरूप्य, शिवं निरतिशयाखण्डैकरसानन्दस्वरूपं आप्राप्तः=आ समन्तात् परिपूर्णतया प्राप्तः शिवायेति त्वं निगद्यसे। शिवां यात इति शिवाय, शिवां शक्तिं ब्रह्मविद्यारूपां यातः अयासीदिति शिवाय तस्य सम्बोधने हे शिवाय अत एव हे महाभद्र परमकल्याणरूप त्वं शिवायोऽसि निजस्वरूपस्थोऽसि, अहं तु मायया अविद्यया निर्विद्योऽस्मीति नमः। शिवं राषि इति ज्ञप्तिः ज्ञानं स्वस्वरूपाविर्भावः, तया ज्ञप्त्या शिवं निरतिशयानन्दरूपमात्मतत्त्वं राषि जानासि यतः कारणात्, अतस्त्वं शिवाय इति। हे शिव! त्वं नमश्शब्दोक्तं निराकारं शिवाय परिपूर्णं ब्रह्मासि। सर्वदा एकरसोऽपि तव परिपूर्णत्वात् ममापि तद्रूपत्वाद् अहमपि परिणामरहितः शिवाय परिपूर्णरूपश्चाहं न संशयः। इति नमःशिवशब्दौ जीवब्रह्मप्रतिपादकौ, एतत्पञ्चाक्षरीब्रह्मविद्योपासनया जीवः स्वस्वरूपज्ञानं प्राप्य शिव एव भवतीति प्रतिपादयता हरिनामदत्तेन सकलोपनिषदर्थपरिबृंहणात्मकशारीरकमीमांसाभाष्यस्य शिवपञ्चाक्षरीभाष्यस्य च विषयैक्यं निरूप्य, शिवपञ्चाक्षर्या ब्रह्मविद्यात्वं सविस्तरं सयुक्तिप्रमाणं सुप्रतिष्ठापितम्।

एवं सगुणनिर्गुणप्रतिपादकयोः स्थूलसूक्ष्मपञ्चाक्षरीमहामन्त्रयोर्माहात्म्यं विस्तरशो वक्तुं ब्रह्मादीनामप्यशक्यम्। एषैव पञ्चाक्षरी वेदपुराणागमेषु ''नमस्ताराय'' ''नातस्तारको नातस्तारकः'' इति तारकत्वेन प्रतिपादिता एतामेव विश्वेश्वरः अविमुक्तक्षेत्रे मुमुर्षूणां प्राणावसानसमये स्वयमुपदिशतीति सुस्पष्टम्। स्थूलब्रह्मवाचकः पञ्चाक्षरः प्रणवसाहित्येन निर्गुणब्रह्मवाचकः सन् षडक्षरीति गीयमानो जीवानां षडूर्मिनिवृत्तिपूर्वकषट्स्थलपरशिव-ब्रह्मणः परानन्दरूपं मोक्षं ददातीत्यैहिकामुष्मिकरूपफलप्रदानपूर्वकं मोक्षैकान्तिकत्वेन

मोक्षविद्या ब्रह्मविद्येति च नाम्ना वेदागमपुराणेषु प्रतिपादितः। अत एव पारमेश्वरागमादिषु तादृशब्रह्मविद्यायाः स्वरूपं साधकानुग्रहाय एव समुपवर्णितमस्ति। अतः सा–

तप्तचामीकरप्रख्या पीनोन्नतपयोधरा।
चतुर्भुजा त्रिनयना बालेन्दुकृतशेखरा।।
पद्मोत्पलकरा सौम्या वरदाभयपाणिका।
सर्वलक्षणसम्पूर्णा सर्वाभरणभूषिता।।
सितपद्मासनासीना नीलकुञ्चितमूर्धजा।।

इत्येवमस्माभिः स्तूयत। इति शिवम्।

●

पञ्चाक्षरी षडक्षरी चेति शिवमन्त्रस्य विस्तृतमीमांसा

डॉ. एम. शिवकुमारस्वामी

प्रस्तावना

वीरशैवमते साधनमार्गस्तु षट्स्थलात्मको भवति। भक्तस्थलं माहेश्वरस्थलं प्रसादिस्थलं प्राणलिङ्गिस्थलं शरणस्थलमैक्यस्थलं चेति षट्स्थलानि सन्ति। अस्य साधनमार्गस्यारम्भो वीरशैवदीक्षया भवति। वीरशैवदीक्षाद्वारा भक्तोऽष्टावरणसम्पन्नो भूत्वा साधनमार्गे प्रवर्तते। अष्टानामावरणानां समाहारोऽष्टावरणम्। गुरुः, लिङ्गम्, जङ्गमः, भस्म, रुद्राक्षः, मन्त्रः, पादोदकम्, प्रसादश्चेति अष्टौ आवरणानि भवन्ति। तानि साधनमार्गे प्रवृत्तस्य भक्तस्य श्रद्धारक्षकभूतानि, अत एवावरणानीति कथ्यन्ते। तत्र यो भक्तमिष्टप्राणभावाख्यलिङ्गत्रयप्रदानरूपया दीक्षयाऽनुगृह्णाति स गुरुः। वेधामनुक्रियाख्यत्रिविधदीक्षाद्वारा कारणसूक्ष्मस्थूलशरीरेषु स्थाप्यमानं भावप्राणेष्टलिङ्गाख्यं लिङ्गत्रयं लिङ्गम्। तत्र साक्षीभूतो ज्ञानवैराग्यसम्पन्नः शिवयोगी च जङ्गमः। एतानि त्रीणि पूज्यान्यावरणानि भवन्ति। भस्मरुद्राक्षमन्त्राश्चेति त्रीणि पूजासाधनभूतान्यावरणानि। **'नारुद्रो रुद्रमर्चयेत्'**[१] इत्युक्तरीत्या भक्तो भस्मरुद्राक्षरूपै रुद्रचिह्नैः समलङ्कृतः सन् भावलिङ्गप्राणलिङ्गानुसन्धानपूर्वकमिष्टलिङ्गं पूजयित्वा शिवमन्त्रं जपति। पादोदकं प्रसादश्चेति पूजाफलरूपमावरणद्वयम्। भक्तः पादोदकप्रसादौ स्वीकरोति।

षट्स्थलात्मकस्य वीरशैवसाधनमार्गस्य प्रतिपादनं प्रथमतया शैवागमोत्तरभागेषु समुपलभ्यते। अष्टावरणानां चोल्लेखः प्रथमतया शैवोपनिषत्सु विद्यते। तत्राऽष्टावरणशब्दो न प्रयुक्तः। परन्त्वष्टावरणानां सर्वेषामुल्लेखो दृश्यते। तथा हि– रुद्रोपनिषदि गुरुलिङ्गजङ्गमाः शिवस्वरूपिण इति वर्ण्यन्ते– ''जङ्गमरूपः शिवः, शिव एव जङ्गमरूपः। .....ओम् आत्मा परशिवद्वयो गुरुः शिवः। .....गुरुः शिव एव लिङ्गम्''[२] इति। तस्यामेवोपनिषदि मन्त्रभस्मपादोदकतीर्थानां माहात्म्यं वर्ण्यते– ''ब्राह्मणः

१. ''नाशिवः शिवमभ्यस्येन्नाशिवः शिवमर्चयेत्। नाशिवस्तु शिवं ध्यायेन्नाशिवः शिवमाप्नुयात्॥
(चन्द्रज्ञानागमः, उत्तरभागः, क्रियापादः, २२.३८.)

२. Unpublished Upaniṣads, Adyar, Madras, 1933, p. 308.

पञ्चाक्षरमनुर्भवति । .....ब्राह्मणास्त्रिपुण्ड्रधृतः । .....लिङ्गाभिषेकं निर्माल्यं गुरोरभिषेकतीर्थं माहेश्वरपादोदकं जन्ममालिन्यं क्षालयन्ति''[१] इति । लिङ्गोपनिषदि– ''सर्वदेहेषु लिङ्गधारणं भवति । .....इष्टप्राणभावेषु लिङ्गधारणं वदन्ति''[२] इति लिङ्गधारणस्य विषयो निरूपितः । वज्रपञ्जरोपनिषत्, सिद्धान्तशिखोपनिषत्, जाबाल्युपनिषत्, बृहज्जाबालोपनिषत्, भस्मजाबालोपनिषत्, रुद्राक्षजाबालोपनिषदित्यादिषु शैवोपनिषत्सु भस्मनिर्माणविधिः, भस्मोद्धूलनस्नान-त्रिपुण्ड्रधारणविधयः, रुद्राक्षोत्पत्तिविचारः, रुद्राक्षधारणविधिश्चेत्यादयः सम्यङ्निरूपिताः । शैवागमोत्तरभागेषु पुनरष्टावरणशब्दप्रयोगपूर्वकमष्टावरणानामुल्लेखो विवरणं च विद्येते । तथा हि– विशेषतया चन्द्रज्ञानागमोत्तरभागे द्वितीयपटले– ''गुरुर्लिङ्गं जङ्गमश्च तीर्थं चैव प्रसादकः । भस्मरुद्राक्षमन्त्राश्चेत्यष्टावरणसंज्ञिताः ।।''[३] इत्यष्टावरणानामुल्लेखः कृतः, ततः परं सप्तपटलेषु तेषां विवरणं च दत्तम् । तत्र वीरशैवानां जपसाधनभूतो मन्त्रः पञ्चाक्षरी षडक्षरी चेति कथ्यते । स च शिवमन्त्र एक एव, ओङ्कारपूर्वकत्वे षडक्षर इति, अन्यथा पञ्चाक्षर इति च व्यवह्रियते । अस्मिन् प्रबन्धे तु शैवागमोत्तरभागानुसार-मुभयात्मकस्यास्य मन्त्रस्य विचारः प्रस्तूयते ।

मन्त्रस्याऽऽकारः स्वरूपं नामानि च

पञ्चाक्षरः षडक्षरश्चेत्युभयात्मकोऽयं शिवमन्त्रस्तैत्तिरीयसंहिताया रुद्राध्यायस्याऽष्टमानुवाकाद्[४] उद्धृतः । तत्र ''नमः शिवाय'' इत्यस्ति स्वरूपं मन्त्रस्य पञ्चाक्षरात्मकम् । पञ्चब्रह्मोपनिषदि पञ्चाक्षरमन्त्रस्य स्वरूपं महत्त्वं च निरूप्येते–

पञ्चाक्षरमयं शम्भुं परब्रह्मस्वरूपिणम् ।
नकारादियकारान्तं ज्ञात्वा पञ्चाक्षरं जपेत् ।।
सर्वं पञ्चात्मकं विद्यात् पञ्चब्रह्मात्मतत्त्वतः ।।
पञ्चब्रह्मात्मिकीं विद्यां योऽधीते भक्तिभावितः ।
स पञ्चात्मकतामेत्य भासते पञ्चधा स्वयम्[५] ।। इति ।

पञ्चाक्षरमयं परब्रह्मस्वरूपिणं शङ्करं विदित्वा नकारादियकारान्तं पञ्चाक्षरमन्त्रं जपेत् । जगदिदं सर्वं पञ्चब्रह्मस्वरूपत्वात् पञ्चात्मकमिति जानीयात् । यो भक्तिभावान्वितः

---

१. चन्द्रागमः, पृ. ३०८-३०९ ।
२. तत्रैव, पृ. ३११ ।
३. चन्द्रज्ञानागमः, उत्तरभागः, क्रियापादः, २.२ ।
४. तैत्तिरीयसंहिता, ४.११.८ ।
५. The Śaiva Upaniṣads, पृ. ८४, पञ्चब्रह्मोपनिषद्, ३०-३२ ।

सन् पञ्चाक्षरमन्त्ररूपिणीं पञ्चब्रह्मात्मिकीं विद्यां ध्यायते, स पञ्चात्मकतां प्राप्य पञ्चब्रह्मस्वरूपेण भासते। अत्रापि ''नकारादिमकारान्तम्'' इत्युक्तिद्वारा रुद्राध्याये यो मन्त्रस्य क्रमो विहितः ''नमः शिवाय'' इति, स एव क्रमो विवक्षितः। स एव क्रमः शैवागमोत्तरभागेषु विहितः। तथा हि—

आदौ नमः प्रयोक्तव्यं शिवायेति ततः परम्।
सैषा पञ्चाक्षरी विद्या सर्वश्रुतिशिरोगता[१] ।।
नमःशब्दं वदेत्पूर्वं यान्तं शिवपदं ततः[२]।
आदौ नमः प्रयोक्तव्यं शिवायेति ततः परम्[३] ।।

एवं नमःशब्दं प्रथममुच्चार्याऽनन्तरं शिवायेति चतुर्थ्यन्तं पदमुच्चरेत्। अयं क्रमः सर्वश्रुतिशिरोगतस्य पञ्चाक्षरमन्त्रस्य विद्यते। समस्तानां विद्यानां मूलकारणं पञ्चाक्षरीविद्या। पृथिव्यां यथा वटबीजं सूक्ष्ममपि महतो वृक्षस्योद्भावकं भवति, तथाऽत्यन्तसूक्ष्मोऽप्ययं पञ्चाक्षरमन्त्रो महतः फलस्य दाता भवति। तथा चोक्तम्—

आद्यबीजमिदं देवि विद्यानामप्यशेषतः।
सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरं सारं वटबीजं यथा भुवि[४] ।। इति।

अस्य मन्त्रस्य प्राशस्त्यं चान्यत्र सम्यग् वर्णितम्—

विद्यासु श्रुतिरुत्कृष्टा रुद्रैकादशिनी श्रुतौ।
मन्त्रः पञ्चाक्षरस्तत्र शिव इत्यक्षरद्वयम्[५] ।। इति।

विद्यासु वेदविद्यायाः श्रेष्ठत्वम्, वेदे रुद्राध्यायस्यैकादशानुवाकानां प्राशस्त्यम्, तत्राऽष्टमानुवाकस्थस्य पञ्चाक्षरमन्त्रस्य प्राशस्त्यतरत्वम्, तत्रापि ''शिव'' इत्यक्षरद्वयस्य प्राशस्त्यतमत्वमत्र सम्यगुद्घोषितम्। अत एवोक्तम्- **''मम पञ्चाक्षरो मन्त्रः कल्पवृक्षो धरात्मजे''**[६] इति। अयमेव मन्त्र ओङ्कारपूर्वकत्वे षडक्षरः सम्पद्यते। तथा चोक्तम्—

एषा पञ्चाक्षरी विद्या प्रणवाद्या षडक्षरी[७]।

१. चन्द्रज्ञानागमः, उत्तरभागः, क्रियापादः, ८.५।
२. सूक्ष्मागमः, उत्तरभागः, क्रियापादः, ३.१३।
३. पारमेश्वरागमः, २२.३०।
४. सूक्ष्मागमः, उत्तरभागः, क्रियापादः, ३.११।
५. कारणागमः, उत्तरभागः, क्रियापादः, ८.४।
६. पारमेश्वरागमः, ११.२९।
७. तत्रैव, ११.३२।

प्रणवेन समायुक्तं षडक्षरमिति स्मृतम्[१] ।।

पूर्वोदाहृतपञ्चब्रह्मोपनिषदुक्तदिशा सूक्ष्मागमे षडक्षरमन्त्रस्य शिवतनुत्वं पञ्चब्रह्मात्मकत्वं च प्रदर्शितं—

ओङ्कारो मम देहः स्यान्नकाराद्यास्तथैव च ।
सद्यादिपञ्चवक्त्राणि क्रमादेवं वरानने ।।
पञ्चब्रह्मात्मको मन्त्रः प्रणवाद्यः षडक्षरः[२] ।। इति ।

ओङ्कारः परशिवस्य शरीरं भवति, नकारादियकारान्तानि पञ्चाक्षराणि च तस्य सद्योजातादिपञ्चवक्त्राणि भवन्ति । एवं पञ्चाक्षरमन्त्रः पञ्चब्रह्मात्मकः, स एव प्रणवाद्यः सन् षडक्षर इति व्यवह्रियते । अयमेव भावः पारमेश्वरागमस्याऽस्यामुक्तौ वरीवर्ति—

ईशानाद्यानि सूक्ष्माणि ब्रह्माण्येकाक्षराणि तु ।
मन्त्रे नमः शिवायेति संस्थितानि यथाक्रमम्[३] ।। इति ।

ईशानादिपञ्चब्रह्ममन्त्राः सूक्ष्मातिसूक्ष्माः सन्तः पञ्चाक्षरमन्त्रस्यैकैकाक्षराणि भूत्वा नमः शिवायेति रूपं धृतवन्तः । त एवोकारपूर्वकत्वे षडक्षरमन्त्रस्वरूपं धारयन्ति । तदेव कथ्यते वटबीजन्यायेन—

तद् बीजं सर्वविद्यानां मन्त्रमाद्यं षडक्षरम् ।
अतिसूक्ष्मं महार्थं च ज्ञेयं तद्वटबीजवत्[४] ।। इति ।

अयं षडक्षरमन्त्रः सर्वस्मात् प्रथमः, सर्वविद्यानां बीजम्, अत्यन्तं सूक्ष्मोऽपि महदर्थगर्भितः । स च वटबीजवद् ज्ञेयः । यथा वटबीजं सूक्ष्ममपि महतो वृक्षस्य कारणं भवति, तथायं मन्त्रः सूक्ष्मोऽपि सर्वविद्यानां मूलं भवति ।

अस्य मन्त्रस्य नामानि एवं विद्यन्ते—

मूलं विद्या शिवं चैव सूत्रं पञ्चाक्षरस्तथा ।
नामान्यस्य विजानीयादोङ्कारो हृदयं मतम्[५] ।। इति ।

---

१. सूक्ष्मागमः, उत्तरभागः, क्रियापादः, ३.१३; ४.३५– "पञ्चाक्षरो महामन्त्रः प्रणवेन युतः शिवे" ।

२. तत्रैव, ४.३६-३७ । षडक्षर इति प्रोक्तो मन्त्रराजाह्वयः परः ॥

३. पारमेश्वरागमः, ११.२६ ।

४. तत्रैव, ११.२० ।

५. चन्द्रज्ञानागमः, उत्तरभागः, क्रियापादः, ८.१७ ।

मूलं विद्या शिवः शैवं सूत्रं पञ्चाक्षरं तथा।
षडक्षरं च तस्याहुर्नामानि मुनयो मनोः[१] ।। इति च।

सर्वविद्यानां सर्वमन्त्राणां च बीजत्वान्मूलम्, **''आद्यबीजमिदं देवि विद्यानामप्यशेषतः''**[२] **''तद् बीजं सर्वविद्यानाम्''**[३] इत्यागमोक्तेः। अनेन मन्त्रेण शिवज्ञानरूपं शुद्धज्ञानं जायत इति, अयं मन्त्रः शिवज्ञानमेवेति वा विद्या, **''एतावद्धि शिवज्ञानमेतावत्परमं पदम्''**[४] इत्यागमोक्तेः। **''यो जनः कीर्तयेद्भक्त्या शृणुयाद्वा समाहितः। सर्वपापविनिर्मुक्तः स याति मम सन्निधिम्।।''**[५] इति पारमेश्वरागमोक्तदिशा, **''पञ्चाक्षरात् परं नास्ति परित्राणं कलौ युगे''**[६] इति चन्द्रज्ञानागमोक्तरीत्या च मङ्गलकारकत्वात् शिव इत्यस्य मन्त्रस्य नाम। **''अल्पवर्णसमायुक्तमधिकार्थमसंशयम्। सारात्सारतरं शैवं मन्त्रं मोक्षैककारणम्।।''**[७] इत्यागमोक्तदिशा सर्वेषां शिवसम्बन्धितत्त्वानां बोधोऽस्माज्जायत इति शैवसूत्रमुच्यते। पञ्चाक्षरः षडक्षरश्चेति वर्णसंख्याधारेण मन्त्रस्य प्रसिद्धे नामनी।

अस्य मन्त्रस्य ऋष्यादिनिर्देशः

अस्य मन्त्रस्य ऋषिर्वामदेवः, छन्दः पङ्क्तिः, देवता शिवः, प्रणवः बीजम्, शक्तिर्नम इति, कीलकं शिवायेति, मोक्षे च विनियोगः। तथा चोक्तम्–

वामदेव ऋषिः पङ्क्तिश्छन्दो देवो शिवः प्रभुः।
बीजं प्रणव एव स्यान्नमः शक्तिरुदाहृता।।
शिवाय कीलकं मोक्षे विनियोगः प्रकीर्तितः[८] ।।
वामदेव ऋषिश्चास्य पङ्क्तिश्छन्द उदाहृतः।
देवता च शिवः साक्षात् प्रणवो बीजमुच्यते।।
उमा शक्तिरिति प्रोक्ता न्यासश्चैव षडक्षरैः[९] ।।

---

१. पारमेश्वरागमः, ११.४४।
२. सूक्ष्मागमः, उत्तरभागः, क्रियापादः, ३.११।
३. पारमेश्वरागमः, ११.१०।
४. सूक्ष्मागमः, उत्तरभागः, क्रियापादः, ३.८५।
५. पारमेश्वरागमः, ११.१०४-१०५।
६. चन्द्रज्ञानागमः, उत्तरभागः, क्रियापादः, ८.८३।
७. सूक्ष्मागमः, उत्तरभागः, क्रियापादः, ३.१०।
८. सूक्ष्मागमः, उत्तरभागः, क्रियापादः, ३.२३-२४।
९. चन्द्रज्ञानागमः, उत्तरभागः, क्रियापादः, ८.१२।

वेदमूलस्यास्य मन्त्रस्य साफल्यार्थमनुष्ठानमपेक्ष्यते। शैवागमाः शैवमन्त्राणामृष्यादीनुक्त्वाऽनुष्ठानविधानं निरूपयन्ति। मन्त्राणां स्वाधीनार्थं पुरश्चरणविधिरावश्यकः। पुरश्चरणे पुनः पञ्चाङ्गोपासना, जपः, होमः, तर्पणम्, अभिषेकः, रुद्रभोजनं चेति षडङ्गानि भवन्ति। गीता, सहस्रनाम, स्तवः, कवचम्, हृदयं चेति पञ्चाङ्गोपासनायां भवन्ति। प्रतिमन्त्रं नमः, स्वाहा, वषट्, हुम्, वौषट्, फट् इति पल्लवाः। करन्यासः, देहन्यासः, अङ्गन्यासश्चेति न्यासत्रयं दिग्बन्धनं चेति क्रिया अपेक्षिताः। अत्र शैवागमाः पूर्वोक्तरीत्या पञ्चाक्षरीमन्त्रस्य ऋष्यादिनिर्देशपूर्वकमनुष्ठानमुपदिशन्ति। अत्रोदाहृते चन्द्रज्ञानागमवाक्ये **"न्यासश्चैव षडक्षरैः"** इत्युक्तम्। न्यासक्रमः, पुरश्चरणविधानं जपविधानं च पश्चान्निरूप्यन्ते।

शैवागमोक्तानि मन्त्राङ्गानि

चन्द्रज्ञानागमे पारमेश्वरागमे च पञ्चाक्षरमन्त्रस्याङ्गानि सम्यङ् निरूपितानि—

नकारः शिर उच्येत मकारस्तु शिखोच्यते।
शिकारः कवचं तद्वद्वाकारो नेत्रमुच्यते॥
यकारोऽस्त्रं नमः स्वाहा वषट् हुं वौषडित्यपि।
फडित्यपि च वर्णानां मन्त्राङ्गत्वं यथा तथा[१] ॥ इति।

हृदयं मूलविद्येयं नकारः शङ्करः शिवः।
शिखा मकारः कवचं शिकारो वापि दृक्त्रयम्॥
यकारोऽस्त्रं नमः स्वाहा वषड् वौषट् फडित्यपि।
षड्भिर्वर्णैः षडङ्गानि कुर्यान्मन्त्रस्य पार्वति[२] ॥ इति च।

अत्र मूलविद्या हृदयस्थानीया। शङ्करस्वरूपवान्नकारः शिरः, मकारः शिखा, शिकारः कवचम्, वाकार नेत्रत्रयम्, यकारोऽस्त्रस्थानीय इति पञ्चाक्षराणि परमात्मनः पञ्चाङ्गानि भवन्ति। एवं षडक्षरमन्त्रस्य षडक्षराणि नमः, स्वाहा, वषट्, हुम्, वौषट्, फट्, इति षट् पल्लवरूपाणि भवन्ति। एतेषां पल्लवानां विनियोगस्त्वङ्गन्यासे दृश्यते। तथा हि– हृदयाय नमः, शिरसे स्वाहा, शिखायै वषट्, कवचाय हुम्, नेत्रत्रयाय वौषट्, अस्त्राय फट्। भूर्भुवस्स्वरोमिति दिग्बन्धः। इत्येवं पञ्चाक्षरमहामन्त्रस्य यकारादि-ओङ्कारान्ताक्षराणां प्रयोगपूर्वकं सृष्टिन्यासक्रमेऽङ्गन्यासे प्रयोगो विद्यते। एवमेव स्थितिन्यास-संहारन्यास-क्रमयोरप्यङ्गन्यासे एतेषां प्रयोगो दृश्यते। पश्चाद्दीयमाने न्यासक्रमे द्रष्टव्यम्।

---

१. चन्द्रज्ञानागमः, उत्तरभागः, ८.२८-२९
२. पारमेश्वरागमः, १२.४५-४६

प्रकृतं शैवागमोक्तदिशा पञ्चाक्षरमन्त्रस्य प्रत्यक्षरं वर्णादिषोडशरूपत्वं ऋष्यादिषड्रूपत्वं देवतादित्रिरूपत्वं च तुलनात्मकरीत्या दीयन्ते।

पञ्चाक्षरस्य प्रत्यक्षरं रूपाणि

चन्द्रज्ञानागमेऽस्य पञ्चाक्षरमन्त्रस्य प्रत्यक्षरं वर्णादिषोडशरूपता प्रदर्शिता। सूक्ष्मागमे पारमेश्वरागमे च भिन्नक्रमेण प्रत्यक्षरं षड्रूपता त्रिरूपता च प्रदर्शिते।

१. प्रथमं तावच्चन्द्रज्ञानागमोक्तरीत्या वर्णादिषोडशरूपता[१]- तत्र वर्णः, देवता, शक्तिः, आधारः, छन्दः, ऋषिः, स्थानम्, ब्रह्म, आयुधम्, कला, गुणः, चक्रम्, प्रकाशः, करणम्, वायुः, ज्ञानेन्द्रियं चेति षोडशरूपाणि मन्त्रस्य प्रत्यक्षरमुक्तानि। तथा हि-

नकारस्य वर्णः पीतः, देवता ब्रह्मा, शक्तिः सावित्री, आधारः पृथिवी, छन्दोऽनुष्टुप्, ऋषिर्वसिष्ठः, स्थानं पश्चिममुखम्, ब्रह्म सद्योजातः, आयुधं वज्रम्, कला निवृत्तिः, गुणः कठिनः, चक्रं चतुरस्राकारवत्, प्रकाशो ज्वलदग्निसदृशः, करणं मनः, वायुः प्राणः, ज्ञानेन्द्रियं घ्राणं च।

मकारस्य वर्णो जलसदृशश्वेतः, देवता विष्णुः, शक्तिर्लक्ष्मीः, आधारो जलम्, छन्दस्त्रिष्टुप्, ऋषिर्विश्वामित्रः, स्थानमुत्तरवक्त्रम्, ब्रह्म वामदेवः, आयुधं पद्मम्, कला प्रतिष्ठा, गुणो द्रवस्वभावः, चक्रं चन्द्रार्धाकारवत्, प्रकाशो चन्द्रिकावत्, करणं बुद्धिः, वायुरपानः, ज्ञानेन्द्रियं जिह्वा च।

शिकारस्य वर्णो वह्निसदृशरक्तः, देवता रुद्रः, शक्तिर्गौरी, आधारोऽग्निः, छन्द उष्णिक्, ऋषिर्जमदग्निः, स्थानं दक्षिणाननम्, ब्रह्म अघोरः, आयुधं स्वस्तिकः, कला विद्या, गुणो दीप्तः, चक्रं त्रिकोणाकारवत्, प्रकाशस्तडित्सदृशः, करणमहङ्कारः, वायुर्व्यानः, ज्ञानेन्द्रियं नेत्रं च।

वाकारस्य वर्णो वायुसदृशहरितः, देवता ईश्वरः, शक्तिरम्बिका, आधारो वायुः, छन्दो बृहती, काश्यप ऋषिः, स्थानं पूर्ववक्त्रम्, ब्रह्म तत्पुरुषः, आयुधं बिन्दुस्वरूपम्, कला शान्तिः, गुणः स्पर्शः, चक्रं षडस्राकारवत्, प्रकाश इन्द्रनीलद्युतिवत्, करणं चित्तम्, वायुरुदानः, ज्ञानेन्द्रियं स्पर्शश्च।

यकारस्य वर्णो व्योमसदृशनीलः, देवता सदाशिवः, शक्तिरुन्मनी, आधारो व्योम, छन्दो जगती, ऋषिर्भारद्वाजः, स्थानमूर्ध्वमुखम्, ब्रह्म ईशानः, आयुधं त्रिशूलम्,

---

१. चन्द्रज्ञानागमः, उत्तरभागः, क्रियापादः, ८.२२-४७; स्थानविषये ८.२६, अस्मिन् श्लोके भेदो दृश्यते- पञ्चब्रह्ममुखान्याहुः स्थानं तेषां सुरोत्तम। पूर्वादि चोर्ध्वपर्यन्तं नकारादि यथाक्रमम्॥

कला शान्त्यतीता, गुणः शून्यम्, प्रकाशश्चन्द्रमणिप्रकाशवत्, करणं प्रकृतिः, वायुः समानः, ज्ञानेन्द्रियं श्रोत्रं च।

२. सूक्ष्मागमे तावत् पञ्चाक्षरमन्त्रस्य प्रत्यक्षरमृष्यादिषड्रूपता एवं प्रदर्शिता[१]– ऋष्यादिषड्रूपाणि नाम ऋषिः, छन्दः, देवता, वर्णः, स्वरः, मुखं चेति।

तत्र प्रथमाक्षरस्य नकारस्य ऋषिर्गौतमः (चन्द्रज्ञानागमे वसिष्ठः), छन्दो गायत्री (चन्द्रज्ञानागमे अनुष्टुप्), देवता नन्दी (चन्द्रज्ञानागमे ब्रह्मा), स्वर आद्यः (उदात्तः। चन्द्रज्ञानागमे नोक्तः), वर्णः पीतः (चन्द्रज्ञानागमेऽपि पीतः), मुखं पूर्वम् (चन्द्रज्ञानागमे पश्चिमम्) च।

द्वितीयाक्षरस्य मकारस्य ऋषिरत्रिः (चन्द्रज्ञानागमे विश्वामित्रः), छन्द उष्णिक् (चन्द्रज्ञानागमे त्रिष्टुप्), देवता रुद्रः (चन्द्रज्ञानागमे विष्णुः) वर्णः कृष्णः (चन्द्रज्ञानागमे श्वेतः), स्वर अनुदात्तः (चन्द्रज्ञानागमे नोक्तः), मुखं दक्षिणं (चन्द्रज्ञानागमे उत्तरम्) च।

तृतीयाक्षरस्य शिकारस्य ऋषिर्विश्वामित्रः (चन्द्रज्ञानागमे जमदग्निः) छन्द अनुष्टुप् (चन्द्रज्ञानागमे उष्णिक्), देवता हरिः (चन्द्रज्ञानागमे रुद्रः), वर्णो धूम्रः (चन्द्रज्ञानागमे रक्तः), स्वर उदात्तः (चन्द्रज्ञानागमे नोक्तः), मुखं पश्चिमं (चन्द्रज्ञानागमे दक्षिणं) च।

चतुर्थाक्षरस्य वाकारस्य ऋषिरङ्गिराः (चन्द्रज्ञानागमे काश्यपः), छन्दो बृहती (चन्द्रज्ञानागमेऽपि बृहती), देवता ब्रह्मा (चन्द्रज्ञानागमे ईश्वरः), स्वरः प्रचयः (चन्द्रज्ञानागमे नोक्तः), वर्णः स्वर्णवर्णः (चन्द्रज्ञानागमे हरितः), मुखमुत्तरं (चन्द्रज्ञानागमे पूर्वं) च।

पञ्चमाक्षरस्य यकारस्य च ऋषिर्भारद्वाजः (चन्द्रज्ञानागमेऽपि भरद्वाजः), छन्दो विराट् (चन्द्रज्ञानागमे जगती), देवता स्कन्दः (चन्द्रज्ञानागमे सदाशिवः), स्वरः स्वरितः (चन्द्रज्ञानागमे नोक्तः), वर्णो रक्तः (चन्द्रज्ञानागमे नीलः), मुखमूर्ध्वम् (चन्द्रज्ञानागमेऽप्यूर्ध्वं) च।

३. पारमेश्वरागमे तु पञ्चाक्षरस्य प्रत्यक्षरं देवता, मुखम्, स्वरश्चेति त्रिरूपता प्रदर्शिता[२]–

नकारस्य देवता शिवः चन्द्रज्ञानागमे ब्रह्मा, सूक्ष्मागमे नन्दी, मुखं पूर्वम् (चन्द्रज्ञानागमे पश्चिमम्, सूक्ष्मागमेऽपि पूर्वम्), स्वर उदात्तश्च (चन्द्रज्ञानागमे नोक्तः,

---

१. सूक्ष्मागमः, उत्तरभागः, क्रियापादः, ३.२६-३०; पारमेश्वरागमेऽपि पञ्चाक्षराणां क्रमशः– गौतमः, अत्रिः, विश्वामित्रः, अङ्गिराः, भारद्वाजश्च ऋषयः; गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, विराट् चेति छन्दांसि। (१२.३१-४०)

२. पारमेश्वरागमः, २२.४२-४३।

सूक्ष्मागमेऽप्युदात्तः)। मकारस्य देवता रुद्रः (चन्द्रज्ञानागमे विष्णुः, मुखं दक्षिणम् (चन्द्रज्ञानागमे उत्तरम्, सूक्ष्मागमेऽपि दक्षिणम्), स्वर उदात्तश्च (चन्द्रज्ञानागमे नोक्तः, सूक्ष्मागमे त्वनुदात्तः)। शिकारस्य देवता महादेवः (चन्द्रज्ञानागमे रुद्रः, सूक्ष्मागमे हरिः), मुखं पश्चिमम् (चन्द्रज्ञानागमे दक्षिणम्, सूक्ष्मागमेऽपि पश्चिमम्), स्वर अनुदात्तश्च (चन्द्रज्ञानागमे नोक्तः, सूक्ष्मागमे तु उदात्तः)। वकारस्य देवता ईश्वरः (चन्द्रज्ञानागमेऽपि ईश्वरः, सूक्ष्मागमे तु ब्रह्मा), मुखम् उत्तरम् (चन्द्रज्ञानागमे पूर्वम्, सूक्ष्मागमेऽपि उत्तरम्), स्वर उदात्तश्च (चन्द्रज्ञानागमे नोक्तः, सूक्ष्मागमे तु प्रचयः)। यकारस्य देवता परमेश्वरः (चन्द्रज्ञानागमे सदाशिवः, सूक्ष्मागमे स्कन्दः), मुखम् ऊर्ध्वम् (चन्द्रज्ञानागमे सूक्ष्मागमे चोभयत्राप्यूर्ध्वम्), स्वरः स्वरितश्च (चन्द्रज्ञानागमे नोक्तः, सूक्ष्मागमेऽपि स्वरितः)।

एवं पञ्चाक्षरमन्त्रस्य प्रत्यक्षरमुक्तप्रकारेण वर्णादिषोडशरूपत्वेन, ऋष्यादिषड्रूपत्वेन, देवतादित्रिरूपत्वेन वा ज्ञेयं ध्येयं च। एकैकमक्षरमपि तथा वर्णादिरूपवैभवयुक्तत्वेन भाव्यते चेन्मन्त्रसमृद्धिर्जायते। मन्त्रसमृद्ध्या फलसमृद्धिर्निश्चिता। यद्यप्येवं शैवागमेषु ऋष्यादिविषये परम्पराभेदेन मतभेदो वर्तते, तथापि स्वगुरूक्तदिशा स्वकीयपरम्परानुसारमृष्यादिविषयं सम्यग् ज्ञात्वा पञ्चाक्षरमन्त्रस्याऽनुष्ठानं करणीयम्। उक्तं च चन्द्रज्ञानागमे—

एकमेव प्रधानं तु पञ्चाक्षरमिति स्मृतम्।
काम्यसिद्धिप्रयोगेण प्रत्यक्षं पञ्चधा भवेत्।।
ततः प्रस्तारकं प्रोक्तं विंशत्येकशतं भवेत्।
एवं पञ्चाक्षरोत्पत्तिर्गुरोर्वक्त्रेण लभ्यते[१] ।। इति।

पञ्चाक्षरमन्त्र एक एव प्रधानतया ज्ञातः। काम्यफलप्राप्त्यर्थं ये प्रयोगा विद्यन्ते, तेषामनुसारेण पञ्चाक्षरमन्त्रः साक्षात् पञ्चस्वरूपधारणं करोति। प्रस्तारभेदेनास्य मन्त्रस्य विंशत्युत्तरशतं (१२०) प्रकाराः शास्त्रेषूक्ताः। एवं पञ्चाक्षरोत्पत्तिं गुरुमुखेन ज्ञात्वा तदनुष्ठानं करणीयमिति रहस्यम्। "**जपेदक्षरलक्षं वै चतुर्गुणितमादरात्**"[२] इत्युक्तरीत्या पुरश्चरणविधौ वर्णादिरूपत्वेन मन्त्रस्य प्रत्यक्षरग्रहणं तु मन्त्रसमृद्ध्यर्थमपेक्षितमेव।

"**मन्त्रं पञ्चविधं प्रोक्तम्**"[३] इत्युक्तरीत्या पञ्चाक्षरमन्त्रस्य पञ्चविधत्वं सुप्रभेदागमे उक्तम्। तत्र पञ्चमस्वरूपनिरूपणात्मके पञ्चमप्रकरणे प्रसादपञ्चाक्षरी, मायापञ्चाक्षरी, सूक्ष्मपञ्चाक्षरी, स्थूलपञ्चाक्षरी, मूलपञ्चाक्षरी चेति पञ्चाक्षरमन्त्रस्य पञ्चविधत्वं प्रोक्तम्।

---

१. चन्द्रज्ञानागमः, उत्तरभागः, क्रियापादः, ८.४२-४३।
२. तत्रैव, ८.५०।
३. तत्रैव, ८.४४।

पञ्चानामपि प्रकाराणामोङ्कारपूर्वकत्वं विहितम्। ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रैं ह्रौम् इति सर्वेषां बीजाक्षराणां पञ्चाक्षरमन्त्रात्पूर्वम्, ओङ्कारादनन्तरं च समावेशे प्रसादपञ्चाक्षरी। बीजाक्षरेष्वन्तिमस्य हाने मायापञ्चाक्षरी। अन्तिमयोर्द्वयोर्हाने सूक्ष्मपञ्चाक्षरी। अन्तिमानां त्रयाणां हाने स्थूलपञ्चाक्षरी। सर्वेषां बीजाक्षराणां हाने मूलपञ्चाक्षरी च। रम्भापुरी, उज्जयिनी, हिमवत्केदारः, श्रीशैलम्, काशी चेति पञ्चपीठानामधिपतयो वीर-नन्दि-भृङ्गि-वृषभ-स्कन्दगोत्राधीशा जगद्गुरवस्तत्परम्परानुयायिन उपाचार्याः क्रमेणैतेषां पञ्चविधमन्त्राणामुपदेशेऽधिकृताः।

चन्द्रज्ञानागमे पञ्चाक्षरस्य मन्त्रस्य स्थूलसूक्ष्मप्रकारौ केवलौ भिन्नस्वरूपेणोक्तौ—

अ-उ-माश्चैव नादश्च कला चेत्यंशपञ्चकम्।
मिलित्वा प्रणवो जज्ञे सूक्ष्मपञ्चाक्षरात्मकः॥
तथा नमः शिवायेति स्थूलपञ्चाक्षरो भवेत्[1] ॥ इति।

अ उ म नादः कला चेति प्रणवस्य पञ्चांशा भवन्ति। तादृशः प्रणवा मिलित्वा सूक्ष्मपञ्चाक्षरो जायते। तथैव 'नमः शिवाय' इति स्थूलपञ्चाक्षरो भवति। **''सूक्ष्मं मूलं भवेदस्य स्थूलं विवरणं मतम्''**[2] इत्युक्तरीत्याऽनयोर्महत्त्वे भेदो नास्ति।

पञ्चाक्षरस्य पञ्चतत्त्वस्वरूपत्वम्

सूक्ष्मागमोक्तदिशा पञ्चाक्षरमन्त्रः पञ्चतत्त्वात्मकः। तथा हि– पृथिवी, जलम्, तेजः, वायुः, आकाशश्चेति पञ्चमहाभूतानि; गन्धतन्मात्रा, रसतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, शब्दतन्मात्रा चेति तन्मात्रापञ्चकम्; घ्राणः, जिह्वा, नेत्रम्, चर्म, श्रोत्रं चेति पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि; वाक्, पाणि, पादः, पायुः, उपस्थश्चेति पञ्चकर्मेन्द्रियाणि; सद्योजातः, वामदेव;, अघोरः, तत्पुरुषः, ईशानश्चेति पञ्चब्रह्माणि; सृष्टिः, स्थितिः, लयः, तिरोधानम्, अनुग्रहश्चेति पञ्चकृत्यानि– एतानि सर्वाणि महतो मन्त्रस्य पञ्चाक्षरस्य पञ्चाक्षरैर्बोध्यानि।[3] किं बहुना, यानि यानि लोके विशेषतः पञ्चविधत्वेन प्रसिद्धानि तानि सर्वाणि पञ्चाक्षरमयानीति बोध्यम्। तथा चोक्तं सूक्ष्मागमे—

लोके हि पञ्चधा यानि प्रसिद्धानि विशेषतः।
ज्ञेयानि तानि सर्वाणि पञ्चाक्षरमयानि हि[4] ॥ इति।

---

१. चन्द्रज्ञानागमः, उत्तरभागः, क्रियापादः, ११.४३-४४।

२. तत्रैव, ११.४५।

३. सूक्ष्मागमः, उत्तरभागः, क्रियापादः, ४.५८-५९।

४. तत्रैव, ४.६०।

षडक्षरमन्त्रस्य षट्तत्त्वस्वरूपत्वम्

सूक्ष्मागमे एव षडक्षरमन्त्रस्य षडक्षराणां यकारादि-ओङ्कारान्तक्रमेण निवृत्तिमार्गतः सुसूक्ष्मं षट्तत्त्वस्वरूपत्वं प्रदर्शितम्। तथा हि– पूर्णता, नित्यता, आनन्दः, चिद्रूपता, सत्यरूपता, मिश्ररूपता चेति षट्तत्त्वरूपाणि; परः, गूढः, शरीरस्य शिवः, लिङ्गम्, अनादिः, महांश्चेत्यपराणि षट्तत्त्वरूपाणि; पराशक्तिः, आदिशक्तिः, इच्छाशक्तिः, ज्ञानशक्तिः, क्रियाशक्तिः, चिच्छक्तिश्चेति षट् शक्तयः; शिवसादाख्यम्, अमूर्तसादाख्यम्, मूर्तसादाख्यम्, कर्तृसादाख्यम्, कर्मसादाख्यम्, महासादाख्यं चेति षट् सादाख्यानि; महालिङ्गम्, प्रसादलिङ्गम्, चरलिङ्गम्, शिवलिङ्गम्, गुरुलिङ्गम्, आचारलिङ्गं चेति षड्लिङ्गानि; ऐक्यस्थलम्, शरणस्थलम्, प्राणलिङ्गिस्थलम्, प्रसादिस्थलम्, माहेश्वरस्थलम्, भक्तस्थलं चेति षट्स्थलानि; सद्भावः, सुज्ञानम्, सुमनाः, निरहङ्कारः, सद्बुद्धिः, सुचित्तं चेति षट् हस्ताः; ब्रह्मा, विष्णुः, रुद्रः, ईश्वरः, सदाशिवः, परशिवश्चेति षड्देवताः। एवं यानि यानि षडात्मकानि भवन्ति, तानि सर्वाणि षडक्षरमन्त्रस्य षडक्षररूपाणि भवन्ति[१]।

स्फटिकवर्णः, श्वेतवर्णः, नीलवर्णः, रत्नवर्णः, पीतवर्णश्चेति पञ्चवर्णरूपाणि यानि षडक्षरमन्त्रस्य यकारादिनकारान्तानि पञ्चाक्षराणि, तानि पृथिवी, जलं, तेजः, वायुः, आकाशश्चेति पञ्चमहाभूततत्त्वानां बीजानि, वर्णातीत ओङ्कारस्तु सर्वतत्त्वानां बीजम्। तेषामेव यादीनामक्षराणां क्रमेण ईशः, महेश्वरः, शिवः, विद्या, आत्मा, परशिवश्चेति तत्त्वतः षड्रूपाणि विद्यन्ते।[२] पुनस्तत्र यकारो वेदसहस्रस्वरूपः, वाकार अथर्ववेदस्वरूपः, शिकारः सामवेदरूपः, मकारो यजुर्वेदस्वरूपः, नकारः ऋग्वेदरूपः, ओङ्कारस्तु सर्वज्ञानस्वरूप इति सर्ववेदमयोऽयं षडक्षरमन्त्रः[३]। अत एवोक्तम्—

तस्मादशेषवेदानां मन्त्राणां च विशेषतः।
मूलबीजमयं मन्त्रश्चिन्तारत्नमिवापरम्[४]।। इति।

अस्यायमर्थः— सर्वेषां वेदानां सर्वेषां च मन्त्राणां मूलबीजभूतोऽयं षडक्षरमन्त्रश्चिन्तामणिरिव वाञ्छितफलप्रदायको भवति। सारवती चेयमुक्तिः—

षडात्मकं जगत्सर्वं षडक्षरसमुद्भवम्।
स्थीयते लीयते चास्मिन् तस्माद् ब्रह्मात्मको मनुः[५]।। इति।

---

१. सूक्ष्मागमः, उत्तरभागः, क्रियापादः, ४.३७-४७।
२. तत्रैव, ४.४८-५२।
३. तत्रैव, ४.५२।
४. तत्रैव, ४.५३।
५. तत्रैव, ४.५४।

यद् यत् षट्तत्त्वस्वरूपं जगत्, तत्सर्वं षडक्षरमन्त्रादुत्पद्यते, तत्रैव स्थीयते, तस्मिन्नेव लीयते च। अतः स मन्त्रो जगत्सृष्टिस्थितिलयकारणभूतस्य ब्रह्मणः स्वरूपमिति ज्ञेयम्।

पञ्चाक्षरमन्त्रमहिमा

पञ्चाक्षरमन्त्रस्य षडक्षरमन्त्रस्य च महिमानं प्रत्येकतया वर्णयन्ति। तत्र प्रथमं पञ्चाक्षरमन्त्रस्य महिमा शैवागमोक्तदिशा विमृश्यते। सूक्ष्मागमे पञ्चाक्षर्या माहात्म्यं सम्यङ् निरूपितम्। सप्तकोटिमन्त्रेषु पञ्चाक्षरीमन्त्रस्य श्रेष्ठत्वं तत्रादौ प्रतिपादितम्। शैवमन्त्राणां ये जापका भवन्ति, ते शिवप्रसादेन जन्ममृत्युभयाकुलात् संसारात् समुद्धृता भवन्ति। तत्रापि पञ्चाक्षरीमन्त्रः श्रेष्ठतरो भवति। तथा चोक्तम्—

मन्त्राणामपि शैवानां मुख्या एकादश स्मृताः।
तत्राघोरो महामन्त्रः सर्वाभीष्टप्रदो नृणाम्॥
तस्मादपि श्रेष्ठतरा मम पञ्चाक्षरी शिवे।
अस्य मन्त्रस्य चैवान्ये उपमन्त्राः प्रकीर्तिताः[१] ॥ इति।

शैवमन्त्रेषु षडङ्गमन्त्राः पञ्चब्रह्ममन्त्राश्चेत्याहत्यैकादशमन्त्रा मुख्या भवन्ति। तेषां मध्येऽघोरमन्त्रः (अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्य इत्यादिमन्त्रः) मनुष्याणां सर्वाभीष्टफलप्रदः। तस्मादपि पञ्चाक्षरमन्त्रः श्रेष्ठतरः। अन्ये मन्त्रा अस्य पञ्चाक्षरमन्त्रस्यैवोपमन्त्रा इति संस्तुताः। अस्य मन्त्रस्य महता प्रभावेण वेदधर्माः शाश्वताः सञ्जाताः, इतिहासपुराणानि समस्ताश्चागमाः सर्वलोकोपकारकाः सञ्जाताः, ब्रह्मा, विष्णुः, रुद्रः, देवेन्द्रः, अन्याश्च देवताः, आदित्यादयः सर्वे ग्रहाः, भूर्भुवस्स्वरादयो लोकाः, गन्धर्वाः, किन्नराः, सिद्धाः, अन्ये च देवतात्मानः सनातनाः सम्भूताः। एतावत्प्रभावयुक्तोऽयं पञ्चाक्षरात्मको महामन्त्रः[२]। अयं मन्त्रः सर्वसिद्धिप्रदः सर्वतत्त्वप्रकाशकश्च।[३] अन्यमन्त्रापेक्षयाऽस्य मन्त्रस्य वैशिष्ट्यं वर्तते। तदुक्तम्—

सूक्ष्मा क्रियाऽधिकफलं सर्वसाधारणं शिवे।
विनाऽऽयासेन संसिद्धिः पञ्चाक्षरमहामनोः॥
अस्मादायासबहुलाः सर्वे मन्त्राश्च तत्क्रियाः[४] ॥ इति।

---

१. सूक्ष्मागमः, उत्तरभागः, क्रियापादः ३. ५-६।
२. तत्रैव, ३. ७-९।
३. तत्रैव, ३. १०४।
४. तत्रैव, ३. ५९।

अन्ये मन्त्राः सर्वे तत्क्रियाश्चाऽऽयासबहुलाः, परं तु पञ्चाक्षरमहामन्त्र आयासेन विना फलप्रदः, सर्वसाधारणश्च; लिङ्गवर्णादिभेदं विना सर्वेऽस्याधिकारिणः। तत्क्रिया तु सूक्ष्मा, परन्तु अधिकफलदा। एवमेवोक्तं पारमेश्वरागमे- **"तदल्पं वेदसाराख्यं भुक्तिदं च विमुक्तिदम्"**[१] इति। यानि विद्यास्थानानि भवन्ति, तानि सर्वाणि पञ्चाक्षरमन्त्रे विलीयन्ते, पुनस्ततो निर्गच्छन्ति।[२] ये चेमं मन्त्रमाश्रयन्ते, ते कलियुगेऽपि दृढव्रता भूत्वा मुक्तिं प्राप्नुवन्ति[३]।

चन्द्रज्ञानागमोक्तदिशा सदाचारविहीनस्यापि पतितस्यापि रक्षकोऽयं पञ्चाक्षरमन्त्रः। अस्मात् परो न कश्चिन्मन्त्रः। सर्वास्ववस्थासु शिवभक्तिमतोऽयं मन्त्रो निष्फलो न भवति। कस्याप्ययं न शत्रुः सुसिद्धस्याऽसिद्धस्य वा। तथा चोक्तम्—

सर्वावस्थां गतस्यापि मयि भक्तिमतः सदा।
सिद्ध्यत्येष न सन्देहो नापरस्य तु कस्यचित्॥
न कदाचन कस्यापि रिपुरेष महामनुः।
सिद्धो वाऽथ सुसिद्धो वा साध्यो वाऽथ भविष्यति[४]॥ इति।

तत्र सिद्धेन गुरुणोपदिष्टो मन्त्रः सुसिद्धः, असिद्धेन गुरुणोपदिष्टः सिद्धः, स्वयमाराधितः साध्यश्चेत्युच्यते। तदुक्तम्—

सिद्धेन गुरुणादिष्टः सुसिद्ध इति कथ्यते।
असिद्धेनापि वा दत्तः सिद्धः साध्यस्तु केवलम्[५]॥ इति।

सर्वदाऽयं मन्त्रः सफलः। गच्छंस्तिष्ठन्, उपविशन्, स्वस्थः परवशो वा, शान्तो कुपितो वा, स्वेच्छकर्म कुर्वन्, शुचिर्वाऽशुचिर्वा, आचारवाननाचारवान् वा, सर्वोऽपि पञ्चाक्षरीजपस्य फलभाग् भवति।[६] मन्त्रान्तरेषु सिद्धेष्वयं मन्त्रः सिद्ध इति वक्तुं न शक्यते। परं तु महामन्त्रेऽस्मिन् सिद्धे सर्वे मन्त्राः सिद्धा भवन्तीति निश्चितम्। एतावान् महिमाऽस्य मन्त्रस्य[७]।

ारमेश्वरागमे त्विदमुक्तम्- सर्ववेदोक्तिप्रकारेण सर्वकाले सर्वस्थानेषु सर्वदोऽयं

---

१. पारमेश्वरागमः, ११.९।
२. सूक्ष्मागमः, उत्तरभागः, क्रियापादः, ३.७५।
३. तत्रैव, ३.७६।
४. चन्द्रज्ञानागमः, उत्तरभागः, क्रियापादः, ८.८७-८८।
५. तत्रैव, ८.८९।
६. तत्रैव, ८.८४-८६; पारमेश्वरागमः, १०.८५-८७।
७. चन्द्रज्ञानागमः, उत्तरभागः, क्रियापादः, ८.९२।

पञ्चाक्षरमन्त्र इति । अतस्तं सर्वत्र सर्वदा जपेत् ।[१] यथा लोकेषु कैलासः, देवेषु शङ्करः, मुक्तिपरेषु मतेषु वीरशैवम्, मित्रेषु ज्ञानम्, मुक्तिसाधनेषु भक्तिः, मर्त्येषु शैवश्च श्रेष्ठतया परिगण्यते, तथा मन्त्रेषु पञ्चाक्षरः श्रेष्ठतया निश्चीयते । तथा चोक्तम्—

न कैलासात् परो लोको न दैवं शङ्करात्परम् ।
न वीरशैवाच्च मतं नास्ति मुक्तिपरं सुखम् ।।
नास्ति ज्ञानात्परं मित्रं न भक्तेः साधनं परम् ।
न शैवादधिको मर्त्यो मन्त्रः पञ्चाक्षरः परः[२] ।।

यदि शाठ्येनाऽऽलस्येन परिहासेन मायया स्वभावेन वा, येन केनापि प्रकारेण वा शैवः पञ्चाक्षरः सकृदेव स्मर्यते चेत्, शिवस्वरूपं प्राप्यते; किं पुनर्भक्तिपूर्वकमयं मन्त्रो जप्यते चेत्, अस्मिन् मन्त्रे भक्तितो जप्ते सति भुक्तिमुक्तिश्च निःसंशयं प्राप्येते ।[३] पञ्चाक्षरजापको ब्रह्महत्यादिभिः पापैर्मुच्यते । अत्र संशयो नास्ति[४] । एवं शैवागमेषु पञ्चाक्षरस्य माहात्म्यं सम्यगुक्तम् ।

षडक्षरमन्त्रमहिमा

ओङ्कारपूर्वकत्वे पञ्चाक्षरमन्त्र एव षडक्षरमन्त्रो भवतीत्युक्तम् । षडक्षरमन्त्रस्त्वधिकेनोङ्कारमाहात्म्येन वैशिष्ट्यं प्राप्नोति । ओङ्कारस्य तु माहात्म्यमथर्वशिर उपनिषदि सम्यग् वर्णितम्– "तस्योत्तरतः शिरो दक्षिणतः पादो य उत्तरतः स ओङ्कारो य ओङ्कारः स प्रणवो यः प्रणवः स सर्वव्यापी यः सर्वव्यापी सोऽनन्तो योऽनन्तस्तत्तारं यत्तारं तत्सूक्ष्मं यत्सूक्ष्मं तच्छुक्लं यच्छुक्लं तद्वैद्युतं यद्वैद्युतं तत्परं ब्रह्म स एकः स रुद्रः स ईशानः स भगवान् स महेश्वरः स महादेवः"[५] इति । ममोङ्कारमुद्दिश्य पारमेश्वरागमे यदुच्यते, तस्यायं भावः– ओमित्येकाक्षरे मन्त्रे त्रिगुणातीतः सर्वज्ञः सर्वकृत्प्रभुः शिवः विशेषतया स्थितः । शिवः परमात्मा प्रणवस्वरूपेणाऽधिकः । अत एव प्रणवाभ्याससम्भवया भक्त्या तत्स्वरूपं ज्ञातुं शक्यते । शिवरुद्रादिशब्दाः प्रणवपरा एव । प्रणववाच्यस्य शिवस्य भावनात् प्रणवजपाच्च परा सिद्धिः प्राप्यते । नास्त्यस्मिन् विषये संशयलेशोऽपि । तस्मादागमविशारदाः प्रणवमेकाक्षरं देवमाहुरिति ।[६] तत् कीदृशमिति चेत्तत्रैवोच्यते—

---

१. पारमेश्वरागमः, १०.८८ ।
२. तत्रैव, १०.८९-९० ।
३. तत्रैव, १०.९३-९५ ।
४. तत्रैव, १०.९९ ।
५. अथर्वशिरः, ४४ ।
६. पारमेश्वरागमः, २२.१२-२४ ।

वाच्यवाचकयोरैक्यं मन्यमाना मनस्विनः ।
ज्ञायते योगिभिर्ध्याने बोधानन्दाव्ययाद्वयः[१] ।।

अर्थान्मनस्विनो वाच्यं शिवं वाचकमोङ्कारं चैकत्वेन मन्यन्ते। अत ओङ्कारः साक्षात् शिव एव। अयमेवोङ्कारो योगिभिर्ध्यानद्वारा ज्ञानानन्दाव्ययाद्वयतत्त्वरूपेण भाव्यते। एवं ज्ञानानन्दाव्ययाद्वयतत्त्वरूपस्य शिवस्य वाचकत्वेनोङ्कारः परमश्रेष्ठः।

अ-उ-म इति वर्णैर्युक्तः सन् प्रणवस्त्रिवर्णः। ह इति नादस्य योजनया स प्रशस्ततरो भवति। परमात्मनो दक्षिणमुखाद् अकारः, वाममुखाद् उकारः, मध्यममुखात् (ऊर्ध्वमुखात्) मकारः, इति प्रणवघटकानां त्रिवर्णानामुत्पत्तिरुक्ता[२]। एतैः सह हकारयोजनया प्रणवो मोक्षदः सम्पद्यते। तत्राऽकारो ब्रह्मबीजमुकारो विष्णुबीजं मकारो रुद्रबीजं च। तेषां मेलनेन शिवस्य शरीरं सम्पन्नम्[३]। एवमेवाऽकारोकारौ प्रकृतिपुरुषात्मकौ, मकारस्तयोर्द्वयोर्नियन्ता, नादः (हकारः) साक्षात् सदाशिवश्च। अकारोकारमकाराः क्रमेणेच्छाक्रियाज्ञानशक्तिस्वरूपाः, नादः परशिवस्वरूपश्चेत्युच्यते।[४] इत्येवमादिभिर्माहात्म्यांशैः सम्पन्नः प्रणवः साकल्यं शाम्भवं सौख्यं सावश्यं सायुज्यं चेति पञ्चविधो भवति। तत्र अ उ म ह– इति साकल्यप्रणवः, अ उ म ह इ– इति शाम्भवप्रणवः, अ उ म ह ई– इति सौख्यप्रणवः, अ उ म ह ए– इति सावश्यप्रणवः, अ उ म ह औ– इति सायुज्यप्रणवश्च।[५] एतादृशमहिमवतः प्रणवस्य योजनया पञ्चाक्षरमन्त्रः षडक्षरात्मकत्वेन बहु प्राशस्त्यं भजते। तथा चोक्तम्—

तस्मादिदं समस्तानामादिबीजमुदीरितम् ।
अनेन सहितो मन्त्रः सर्वमन्त्रोत्तमोत्तमः[६] ।। इति।

एतादृशैर्विशेषैर्युक्तत्वात् प्रणवः समस्तानां मन्त्राणामादिबीजमुक्तम्। अनेन सहितो मन्त्रः (षडक्षरः) सर्वस्मान्मन्त्रादुत्तमः। अपि चास्य पूर्वोक्तिदिशा सर्वषट्तत्त्वस्वरूपत्वात् प्रशस्ततमत्वं निश्चितम्।

मन्त्रराजत्वेन परिगृहीत ओङ्कारः पञ्चाक्षरैर्युक्तः सन् सायुज्यकारणं भवति सर्वसिद्धिकरश्च। स सर्वमन्त्रेषु निहितः सन् विद्यानामादिभूतः[७]। इदं च ज्ञेयम्–

---

१. तत्रैव।
२. सूक्ष्मागमः, उत्तरभागः, क्रियापादः, ४.६-८.४।
३. सूक्ष्मागमः, उत्तरभागः, क्रियापादः, ४.२०।
४. तत्रैव, ४.११-१२।
५. तत्रैव, ४.१९-२४; वातुलशुद्धागमः, ६ प्रणवभेदपटलः, २०-२४।
६. तत्रैव, ४.३४।
७. तत्रैव, ४.५५-५६।

इदं रहस्यं पापघ्नमात्मज्ञानप्रकाशकम् ।
सारात्सारतरं दध्नो नवनीतमिवोद्धृतम् ।।
षडक्षरमनुज्ञानं सर्वज्ञानोत्तमोत्तमम्[१] ।। इति ।

इदं रहस्यभूतं षडक्षरमन्त्रज्ञानं पापहरमात्मज्ञानप्रकाशकं च । यथा नवनीतं दध्नो मथनेन जायते, तथा सारात्सारभूतं सर्वस्मात् ज्ञानादुत्तमं ज्ञानं षडक्षरमन्त्रजपादुत्पद्यते । यथा च शम्भुर्मुमुक्षूणां संसाराभयनाशकस्तथाऽयं षडक्षरात्मको मन्त्रः संसारभयनाशकः ।[२] सर्वे शिवमन्त्रा अस्य मन्त्रस्यार्थप्रकाशकाः[३] । अत एवास्य मन्त्रराजत्वम् । तदुक्तम्—

प्रमाणभूतः सर्वेषां वेदोक्तत्वाद्विशेषतः ।
प्रणवेन युतो देवि मन्त्रराजः प्रकीर्तितः[४] ।। इति ।

वेदोक्तत्वादयं मन्त्रः सर्वेषां विशेषतया प्रमाणभूतः । ओङ्कारयुक्तः सन्नयं मन्त्रराज इति कीर्त्यते । अस्य महिम्ना मनुष्यः श्रेष्ठत्वं भजते । तथा चोक्तम्—

नगानां हि यथा मेरुः सरसां सागरो यथा ।
सरितां च यथा गङ्गा पशूनां गौर्यथा वरा ।।
मणीनां कौस्तुभो यद्वल्लोहानां काञ्चनो यथा ।
तथा षडक्षरपरो मानुषेषु वरः प्रिये[५] ।। इति ।

यथा पर्वतेषु मेरुः, जलनिधिषु सागरः, नदीषु गङ्गा, पशुषु गौः, मणिषु कौस्तुभः, लोहेषु काञ्चनं च श्रेष्ठतां भजन्ते, तथा मनुष्येषु षडक्षरमन्त्रनिष्ठः श्रेष्ठत्वं भजते । अस्य मन्त्रस्य ज्ञानमेव परमोत्कृष्टं शिवज्ञानम् । तदेव ज्ञानस्य परमावधित्वेनोक्तम्—

एतावद्धि शिवज्ञानमेतावत्परमं पदम् ।
यस्यों नमः शिवायेति सदा वाचि प्रवर्तते[६] ।। इति ।

यस्य वाचि ओन्नमः शिवायेति षडक्षरमन्त्रः प्रवर्तते, तेनैव शिवज्ञानस्य परमावधिः प्राप्यते परमपदं च वशीक्रियते ।

पारमेश्वरागमे च षडक्षरमन्त्रस्य माहात्म्यं सम्यग्वर्णितम् । अस्मिन् मन्त्रे साक्षात् शिवः प्रतिष्ठितः । तथा चोक्तम्—

---

१. सूक्ष्मागमः, उत्तरभागः, क्रियापादः, ४.६८ ।
२. तत्रैव, ३.५४ ।
३. तत्रैव, ३.१५ ।
४. तत्रैव ३.१६ ।
५. तत्रैव, ३.८२-८३ ।
६. तत्रैव, ३.८४ ।

मन्त्रस्त्वक्षरतः सूक्ष्मः पञ्चब्रह्मतनुः शिवः ।
वाच्यवाचकभावेन स्थितः साक्षात् स्वभावतः ।।
वाच्यः शिवः प्रमेयत्वान्मन्त्रस्तद्वाचकः स्मृतः ।
वाच्यवाचकभावोऽयमनादिः संस्थितस्तयोः[१] ।। इति ।

अयं षडक्षरमन्त्रः प्रत्यक्षरं सूक्ष्मः। मन्त्रेऽस्मिन् पञ्चब्रह्मशरीरः शिवो वाच्यवाचकसम्बन्धेन साक्षात्स्वभावतया तिष्ठति। तत्र वाच्यः शिवः प्रमेयत्वात्, अयं षडक्षरमन्त्रस्तस्य वाचक इति ज्ञायते। शिवस्य मन्त्रस्य च यो वाच्यवाचकरूपः सम्बन्धो विद्यते, स अनादित्वेन तिष्ठति। मन्त्राणामधिपेन शिवेन प्रणीतोऽयं मन्त्रो निर्मलभावेनानन्यसदृशः प्रतिभाति। तस्मिन्नेव मन्त्रे साङ्गानि वेदशास्त्राणि निलीनानि।[२] इदमत्र रहस्यम्—

शिवज्ञानानि यावन्ति विद्यास्थानानि यानि च ।
षडक्षरस्य सूत्रस्य तानि भाष्यं समासतः[३] ।। इति ।

षडक्षरमन्त्रः सङ्क्षेपतया सूत्ररूपो यस्य सर्वाणि शिवज्ञानपराणि शास्त्राणि भाष्यभूतानि। अतः षडक्षरमन्त्रे हृदि स्थिते मन्त्रैरन्यैः शास्त्रैर्वा किं फलम् ? येन षडक्षराभ्यासः स्थिरीकृतस्तेन सर्वमधीतं श्रुतं च। येन षडक्षराभ्यासः क्रियते, तस्य वीरशैवस्याऽऽचारः स्थिरीकृतः, जीवितं सफलम्, मुक्तिः करस्था च[४]।

पुरश्चरणविधिः

उपासनायां मन्त्रस्य स्थानं विशिष्टं वर्तते। तस्यां मन्त्रस्य जपोऽनिवार्यः। जपार्थं मन्त्रस्य सिद्धिरावश्यकी। मन्त्रसिद्ध्यर्थं पुरश्चरणविधिर्विहितः। पुरश्चरणं विना मन्त्रसिद्धिर्न भवति। पञ्चाङ्गपुरश्चरणं दशाङ्गपुरश्चरणं चेति द्विविधं विद्यते। जपः, होमः, तर्पणम्, अभिषेकः, ब्राह्मणभोजनं (जङ्गमभोजनं) चेति पञ्चाङ्गानि। एतैः सह पटलः, पद्धतिः, कवचम्, सहस्रनाम, स्तोत्रं चेति पञ्चाङ्गानां मेलनेन दशाङ्गानि भवन्ति। तत्र मन्त्रजपसंख्याया दशांशेन होमः, तद्दशांशेन तर्पणम्, तद्दशांशेनाभिषेकः, पुनस्तद्दशांशेन ब्राह्मणभोजनं (जङ्गमभोजनं) चेति पञ्चाङ्गविधिः। अनन्तरं पद्धतिमनुसृत्य पटल-कवच-सहस्रनाम-स्तोत्राणां पाठो दशाङ्गविधौ कर्तव्यः।

---

१. पारमेश्वरागमः, ६-२८.४
२. तत्रैव, ११.१९-२०।
३. तत्रैव, ११.२२।
४. तत्रैव, ११.२२-२५,२७।

सूक्ष्मागमे तावज्जप-तर्पण-होम-माहेश्वरभोजनानीति क्रमेण चत्वार्यङ्गान्युक्तानि। अभिषेको नामाऽङ्गं तु नोक्तम्। तत्रैव हि पुरश्चरणविधिरुक्तः। तथा हि–

पञ्चलक्षं जपेद्देवि दीक्षितश्च विशेषतः।
अनन्यतत्परो भूत्वा तावत्संख्यादशांशकैः॥
क्षीराज्यैस्तर्पयित्वाऽथ जुहुयात्तद्दशांशकम्।
पायसैः शर्कराभिश्च माहेशांस्तु शिवव्रतान्॥
वेदमार्गैकनिरतान् सदाचारपरायणान्।
स्वधर्मनिरतान् शान्तान् भोजयेत्तद्दशांशतः॥
एवंकृतो महादेवि पौरश्चरणिको भवेत्[१] ॥ इति।

दीक्षासम्पन्नः साधकोऽनन्यपरो भूत्वा पञ्चलक्षवारं (पञ्चाक्षरं षडक्षरं वा) मन्त्रं जपेत्। तद्दशांशकैर्मन्त्रैः (पञ्चाशत्सहस्रवारं मन्त्रपठनेन) क्षीरमिश्रितजलेन तर्पणं कुर्यात्। तद्दशांशेन (पञ्चसहस्रवारं मन्त्रपठनेन) होमः कार्यः। तद्दशांशकान् मन्त्रस्वरूपिण इति मत्वा शिवव्रतनिष्ठान् वेदमार्गैकनिरतान् सदाचारव्यापृतान् स्वधर्मपरायणान् शान्तान् माहेश्वरान् पायसैः शर्करादिभिश्च भोजयेत्। एवंकृतः पौरश्चरणिको भवति। एवं पुरश्चरणविधिना मन्त्रसिद्धिं सम्प्राप्याऽतन्द्रितः सन् नित्यमष्टोत्तरसहस्रवारं वाऽष्टोत्तरशतवारं वा यो जपं कुरुते, स सर्वपापानि निर्धूय शिवलोके महीयते[२]।

चन्द्रज्ञानागमे पारमेश्वरागमे च केवलं पुरश्चरणे कतिवारं मन्त्रजपः कर्तव्यः, इत्यस्मिन् विषये किञ्चिदुच्यते। तत्रेदमुक्तम्—

जपेदक्षरलक्षं वै चतुर्गुणितमादरात्।
युक्ताशी संयमी यः स पौरश्चरणिकः स्मृतः॥
यः पुरश्चरणं कृत्वा नित्यजापी भवेत्पुनः।
तस्य नास्ति समो लोके स सिद्धः सिद्धिदो भवेत्[३] ॥ इति।

पञ्चाक्षरमन्त्रमक्षरलक्षं जपेदित्यत्रैकैकाक्षरं लक्षवारमित्येव क्रमेण पञ्चलक्षवारं तं मन्त्रं जपेदित्यर्थः। चतुर्गुणितमित्यनेन विंशतिलक्षवारं मन्त्रजपः कर्तव्य इत्युक्तं भवति।

---

१. सूक्ष्मागमः, उत्तरभागः, क्रियापादः, ३.४५-४८।

२. तत्रैव, ३.४९।

३. चन्द्रज्ञानागमः, उत्तरभागः, क्रियापादः, ८.५०-५१; पारमेश्वरागमः १२.७७-७९– 'युक्ताशी' इत्यत्र 'नक्ताशी' इत्यत्र 'यः पुरश्चरणम्' इत्यत्र 'तत्पुरश्चरणम्' इति च पाठान्तरे।

यो युक्ताशी संयमी भूत्वा विंशतिलक्षवारं मन्त्रजपं करोति, स पौरश्चरणिक इत्युच्यते। एवं पुरश्चरणं कृत्वा यो नित्यजापी भवति, तस्य लोके न कोऽपि समानः। स एव सिद्धः सिद्धिदश्च।

जपविधिः

सूक्ष्मागमोक्तदिशा स्नानानन्तरमावाहिनी, स्थापिनी, सन्निधापिनी, सम्मुखीकरणी, अवकुण्ठिनी, वरदा चेति षण्मुद्राः प्रदर्श्य साधको गन्धपुष्पधूपदीपनैवेद्यमुद्राभिर्मानसैः पञ्चोपचारैः पूजयित्वा शान्तभावेन नदीतीरे पर्वताग्रे देवागारे वा, विशेषतया निर्दोषे निरुपद्रवे च विविक्तदेशे वा मन्त्रजपं कुर्यात्[१]। तदा साधकः प्राङ्मुखो वोदङ्मुखो वा पद्मासने उपविष्टः समकायशिरोग्रीवः सन् त्रपालस्यादिवर्जितो भूत्वा शिवध्यानपूर्वकं जपं कुर्यात्। तादृशजपाद्योगी निःसंशयं जीवन्मुक्तो भवति[२]। चन्द्रज्ञानागमोक्तरीत्या स्नानं कृत्वा प्राङ्मुखो वा उदङ्मुखो वोपविश्य रुचिरमासनं बद्ध्वा, हृदि शङ्करं ध्यात्वा, स्वगुरुं तद्गुरुञ्च सञ्चिन्त्य, मौनी एकाग्रचित्तश्च भूत्वा, प्राणायामद्वारा शोषणं दहन-माप्यायनं चेति विधिभिः पञ्चभूतशुद्धिं साधयित्वा, मन्त्रन्यासादिद्वारा शिवकलाभिः स्वकीयं शरीरं पवित्रीकृत्य, शक्तिविशिष्टं शिवं ध्यायन्, विद्यां, स्थानं स्वरं रूपमृषिं छन्दो देवतां बीजं शक्तिं तथा वाच्यमीश्वरं च स्मृत्वा पञ्चाक्षरं जपेत्[३]। अत्र मन्त्रन्यासद्वारा सकलीकरणमुक्तम्। न्यासविधिः पश्चान्निरूप्यते।

प्रथमं वाचिक उपांशुर्मानसश्चेति जपस्त्रिविधः। एते क्रमेणोत्तममध्यमाधमत्वेन परिगणिताः। अस्य जपत्रैविध्यस्योल्लेखो मनुस्मृतावपि दृश्यते। शैवागमेषु त्रयाणां जपानां स्वरूपं सम्यग्वर्णितम्। तत्र सूक्ष्मागमोक्तदिशा त्रयाणां जपानां लक्षणान्येवं वर्तन्ते—

उच्चैस्ताल्वादिकस्पर्शाज्जपेत् स्पष्टपदाक्षरम्।
सम्यक्श्रोत्रगतश्चैव स जपो वाचिकः स्मृतः॥
शनैस्ताल्वादिकस्पर्शात् किञ्चित् स्पष्टपदाक्षरम्।
जपेदीषत्कर्णगतमुपांशुः स जपो भवेत्॥
मन्त्रार्थं मनसा ध्यायन् वर्णाद्वर्णं पदात्पदम्।
आवृत्य गणनात्पूर्वं जपेन्मानस उच्यते[४]॥ इति।

---

१. सूक्ष्मागमः, उत्तरभागः, क्रियापादः, ३.३८-३९।
२. तत्रैव, ३.४०।
३. चन्द्रज्ञानागमः, उत्तरभागः, क्रियापादः, ८.५२-५५; पारमेश्वरागमः, ११.७९-८३।
४. सूक्ष्मागमः, उत्तरभागः, क्रियापादः, ३.४२-४३।

तात्वादिवर्णोत्पत्तिस्थानस्पर्शपूर्वकं स्पष्टपदाक्षरमुच्चैः पार्श्वस्थैर्यथा श्रूयते तथोच्चार्यमाणो जपो वाचक इति स्मृतः। तेषामेव स्थानानां स्पर्शपूर्वकमस्पष्टपदाक्षरमीषदिव पार्श्वस्थैर्यथा श्रूयते, तथोच्चार्यमाणो जप उपांशुरित्युक्तः। मन्त्रस्यार्थं मनसि ध्यायन् वर्णाद्वर्णं पदात्पदं चावृत्य मनस्येव स्मर्यमाणो जपो मानस इति मन्यते। चन्द्रज्ञानागमे पारमेश्वरागमे च किञ्चिद्भिन्नरीत्या त्रयाणां जपानां वर्णनं कृतम्। तथा हि—

यदुच्चनीचस्वरितैः शब्दैः स्पष्टपदाक्षरैः।
मन्त्रमुच्चारयेद्वाचा वाचिकोऽयं जपः स्मृतः॥
जिह्वामात्रपरिस्पन्दादीषदुच्चारितोऽपि वा।
अपरैरश्रुतः स्वेन श्रुतश्चोपांशुरुच्यते॥
धिया यदक्षरश्रेण्या वर्णाद्वर्णं पदात्पदम्।
शब्दार्थचिन्तनं भूयः कथ्यते मानसो जपः[१] ॥ इति।

उदात्तानुदात्तस्वरितैः स्पष्टपदाक्षरैः शब्दैर्यो मन्त्रस्योच्चारो वाचा क्रियते, स वाचिको जपः। जिह्वामात्रचलनेन य ईषदुच्चारितः सन्, अपरैरश्रुतोऽपि स्वेन श्रूयमाणः स उपांशुः जपः। यश्च मनसाऽक्षरक्रमेण वर्णाद्वर्णं पदात् पदं शब्दार्थयोश्चिन्तनं स मानसो जपः।

त्रिविधे जपे मानसो जप उत्तम इत्युक्तम्। तथा हि–

(अ) **त्रयाणामपि चैतेषां वरं स्यादुत्तरोत्तरम्।**
(आ) **उत्तमो मानसः प्रोक्त उपांशुर्मध्यमस्तथा।**
अधमो वाचिकः प्रोक्त इत्येतच्छिवशासनम्॥
(इ) **उत्तमं मानसं जप्यमुपांशुं मध्यमं विदुः।**
अधमं वाचिकं प्राहुरागमार्थविशारदाः[२] ॥

मानसादपि जपात् सगर्भो नामान्यो जपः श्रेष्ठ इति शैवागमा वदन्ति। अत्र सगर्भोऽगर्भश्चेति पुनर्जपो द्विविध इति ज्ञेयम्। सूक्ष्मागमानुसारेण प्राणायामसमायुक्तः सगर्भजपः, तद्रहितश्चागर्भजपः। तदुक्तम्–

प्राणायामसमायुक्तः सगर्भो जप उच्यते।
प्राणायामेन रहितो ह्यगर्भो जप उच्यते[३] ॥ इति।

---

१. चन्द्रज्ञानागमः, उत्तरभागः, क्रियापादः, ८.५६-५९; पारमेश्वरागमः, ११.८६-८८।
२. (अ) सूक्ष्मागमः, क्रि.पा., ३.४३; (आ) चन्द्रज्ञानागम, क्रि.पा., ८.५६; पारमेश्वरागमः।
३. चन्द्रज्ञानागमः, क्रि. पा., ८.६२।

पारमेश्वरागमोक्तदिशा तु कुम्भकप्राणायामसहित: सगर्भजप:, पूरकरेचकप्राणायाम-सहितश्चाऽगर्भजप: । तथा चोक्तम्-

कुम्भकेन समायुक्त: सगर्भो जप उच्यते ।
आद्यन्तयोरगर्भोऽपि प्राणायाम: प्रशस्यते[१] ।। इति ।

सध्यान इति षष्ठ: प्रभेदोऽप्यस्ति । तस्य लक्षणं तु न दत्तम् । अगर्भं विहाय पञ्चविधेषु शक्त्यनुसारेणैको जप: कर्तव्य इत्यागमशासनम् । तदुक्तम्-

एषु पञ्चविधेष्वेव कर्तव्य: शक्तितो जप:[२] ।। इति ।

एतेषु तारतम्यमेवमुद्घाटितम्-

वाचिकस्त्वेक एव स्यादुपांशु: शतमुच्यते ।
साहस्रं मानसं प्रोक्तं सगर्भस्तच्छताधिक: ।।

....

सगर्भादपि साहस्रं सध्यानो जप उच्यते[३] ।। इति ।

एवं वाचिकजपाद् उपांशुजपस्य शतगुणफलम्, उपांशुजपान्मानसस्य सहस्रगुणफलम्, मानसजपात् सगर्भजपस्य शतगुणफलम्, सगर्भजपादपि सध्यानजपस्य सहस्रगुणफलम् । अतो वाचिकाद् उपांशु: श्रेष्ठ:, उपांशोर्मानस:, मानसात् सगर्भ:, सगर्भात् सध्यानश्च ।

जपसंख्याभेदेन फलभेदरूप: काम्यजपोऽप्युक्त: । तथा हि सूक्ष्मागमे पारमेश्वरागमे चोक्तप्रकारेण रोगाणां निवारणाय द्विसहस्रं जपं कुर्यात्; आयुष्यवृद्ध्यर्थं त्रिसहस्रम्, उत्तरोत्तरवृद्ध्यर्थं नित्यं सहस्रशो जपं कुर्यात् । आज्यान्वितैस्तिलैर्लक्षजपपूर्वकं होमे कृते उत्पातजनितक्लेशानां निवारणं भवति । शतलक्षजपेन साधक: साक्षात् शिव एव भवति[४] । एवं रोगनिवारणादिफलेच्छव उक्तरीत्या मन्त्रजपं विधाय स्वेष्टफलं प्राप्तुं शक्नुवन्ति । सकामजपैरैहिकफलम्, अकामजपैरामुष्मिकफलमित्यकामजप: श्रेयान् ।

न्यासविधि:

पञ्चाक्षरमन्त्रन्यास: किमर्थं करणीय इति चेत्, चन्द्रज्ञानागमे उत्तरं दत्तम् । तत्रोक्तदिशा निवृत्ति:, प्रतिष्ठा, शान्ति:, शान्त्यतीता चेति पञ्चकला: पृथिव्यप्तेजोवाय्वा-

---

१. पारमेश्वरागम:, ११.८९-९० ।

२. चन्द्रज्ञानागम:, ८.६४; पारमेश्वरागम:, ११.९२- 'पञ्चविधेष्वेव' इत्यत्र 'पञ्चविधेष्वेक' इति पाठान्तरम् ।

३. चन्द्रज्ञानागम:, ८.६०,६४; पारमेश्वरागम:, ११.८८,९२ ।

४. पारमेश्वरागम:, ११.१०५-१०८ ।

काशरूपपञ्चभूतात्मिका भवन्ति। तासां चिह्नैः पञ्चभूताधिपतिभिश्च सह हृदय-कण्ठ-तालु-भ्रूमध्य-ब्रह्मरन्ध्रेषु तासां कलानां पञ्चभूतात्मकदेहस्य च शोधनार्थं पञ्चाक्षरमन्त्रं (तदीयान्यक्षराणीति यावत्) न्यसेत[1]। एवं स्वदेहं संशोध्य विद्यामयं कर्तुं न्यासविधिर्विहितः। देहस्य विद्यामयीकरणप्रक्रिया तावच्चन्द्रज्ञानागमे सम्यग्वर्णिता—

प्राणवायुं निरुद्ध्याथ गुणसंख्यानुसारतः।
भूतग्रन्थिं ततश्छिन्द्यादस्त्रेणैवास्त्रमुद्रया।।
नाड्या सुषुम्नयात्मानं प्रेरितं प्राणवायुना।
निर्गतं ब्रह्मरन्ध्रेण योजयेच्छिवतेजसा।।
वायुना च विशोष्यैव देहं कालाग्निना दहेत्।।
अमृतप्लावनं कृत्वा भस्मीभूतस्य तस्य वै।
ततो विद्यामयं देहं सम्भूतमिति भावयेत्।।
ततो विद्यामये तस्मिन् देहे दीपशिखाकृतिम्।
शिवान्निर्गतमात्मानं ब्रह्मरन्ध्रेण योजयेत्।।
अन्तर्देहं प्रविष्टं तं ध्यात्वा हृदयपङ्कजे।
पुनश्चामृतवर्षेण सिञ्चेद् विद्यामयं वपुः[2]।। इति।

प्राणायामेन प्राणवायुं निरुद्ध्य गुणसंख्यानुसारमस्त्रमन्त्रं जपन् अस्त्रमुद्रां प्रदर्श्य भूतग्रन्थीन् छिन्द्यात्। प्राणवायुद्वारा प्रेरितं सुषुम्नानाड्या ब्रह्मरन्ध्रान्निर्गतं चात्मानं शिवतेजसा योजयेत्। वायुना स्वकीयं पापमयं शरीरं विशोष्य कालाग्निना तस्य दहनं भावयेत्। भस्मीभूतमिति भावितं तच्छरीरममृतेनाऽऽप्यायितं कृत्वा तदेव नवीनं विद्यामयं शरीरं सञ्जातमिति भावयेत्। तस्मिन् विद्यामये शरीरे दीपशिखाकृतिं स्वकीयमात्मानं शिवतेजसाऽऽप्लाव्य पुनर्ब्रह्मरन्ध्रद्वारा स्वशरीरे संयोजयेत्। एवमन्तर्देहप्रविष्टं विद्यामयं शिवतेजसं स्वकीये हृदयकमले ध्यात्वा पुनस्तद् विद्यामयं शरीरममृतवर्षेणाऽऽप्यायितं कुर्यात्। एवं स्वकीयं शरीरं विद्यामयं कृत्वा पुनर्मन्त्रन्यासं कुर्यादिति नियमः।

करन्यासः, देहन्यासः, अङ्गन्यासश्चेति न्यासत्रैविध्यं प्रसिद्धम्। तत्र चन्द्रज्ञानागमे करन्यासस्य स्थित्युत्पत्तिलयाख्यं त्रैविध्यमुक्तम्। स्थितिकरन्यासो गृहस्थानां सुवासिनीनां च, उत्पत्तिकरन्यासो (सृष्टिन्यासो) ब्रह्मचारिणां कन्यानां च, लयकरन्यासो (संहारन्यासो) वानप्रस्थानां संन्यासिनां विधवानां चेष्यन्ते[3]। एतेषां न्यासानां क्रमस्तत्रैवोक्तः—

---

१. चन्द्रज्ञानागमः, उत्तरभागः, क्रियापादः, ११.२५-२६।

२. तत्रैव, ११.२७-३१।

३. तत्रैव, ११.२१-२२।

अङ्गुष्ठादिकनिष्ठान्तं स्थितिन्यास इति स्मृतः ।
दक्षिणाङ्गुष्ठमारभ्य वामाङ्गुष्ठान्तमेव च ।।
उत्पत्तिन्यास आख्यातो विपरीतस्तु संहृतिः[१] ।। इति ।

अङ्गुष्ठादिकनिष्ठान्तं स्थितिन्यासः, दक्षिणाङ्गुष्ठादिवामाङ्गुष्ठान्तं सृष्टिन्यासः, विपरीतं च (अर्थाद् वामाङ्गुष्ठादिदक्षिणाङ्गुष्ठान्तं च) संहारन्यास इति हि तेषां लक्षणम् । 'न-म-शि-वा-य' इति पञ्चाक्षराणि सबिन्दुकान्यङ्गुष्ठादारभ्य कनिष्ठिकापर्यन्तमङ्गुलीषु न्यस्येत्, करतलकरपृष्ठे च शिवं न्यस्येत् । अनन्तरं दशदिक्षु अस्त्रमन्त्रं पठन् अस्त्रन्यासः करणीयः[२] । पूर्वोक्तरीत्या शरीरस्य विद्यामयीकरणानन्तरं करशुद्धिपूर्वकं करन्यासो देहन्यासोऽङ्गन्यासश्च करणीय इत्युक्तम्[३] ।

सूक्ष्मागमे तु करन्यासः, अङ्गन्यासः (देहन्यासः), षडङ्गन्यास(अङ्गन्यास)श्चेति न्यासत्रयं भिन्नरीत्या निरूपितम् । तत्र नकारादीन् बिन्दुयुक्तान् चतुर्थ्यन्तैः पञ्चब्रह्मनामभिः सह कनिष्ठाद्यङ्गुलीषु न्यस्यते चेत्, स करन्यासः । तान् तैरेव सह मुखे, हृदये, पादद्वये, गुह्ये, शिरसि च न्यस्यते चेत्, स देहन्यासः । ओङ्कारस्य नकारादीनां च बिन्दुयुक्तानामनन्त-सर्वज्ञ-नित्यतृप्ति-अनादिबोध-स्वतन्त्र-अलुप्तशक्तिधामभिश्चतुर्थ्यन्तैः सह, हृदय-शिरः-शिखा-कवच-नेत्रत्रय-अस्त्राणां चतुर्थ्यन्तानां पल्लवैश्च सह न्यासः षडङ्गन्यासः[४] । एतेषां न्यासानां क्रमो वैशद्यार्थमधस्ताद् दत्तः—

करन्यासः– नं सद्योजाताय कनिष्ठिकाभ्यां नमः, मं वामदेवाय अनामिकाभ्यां नमः, शिं अघोराय मध्यमाभ्यां नमः, वां तत्पुरुषाय तर्जनीभ्यां नमः, यं ईशानाय अङ्गुष्ठाभ्यां नमः ।। **अङ्गन्यासः (देहन्यासः)**– नं सद्योजाताय नमो मुखे, मं वामदेवाय नमो हृदये, शिं अघोराय नमः पादद्वये, वां तत्पुरुषाय नमो गुह्ये, यं ईशानाय नमः शिरसि ।। **षडङ्गन्यासः (अङ्गन्यासः)**– ओं अनन्तशक्तिधाम्ने हृदयाय नमः, नं सर्वज्ञशक्तिधाम्ने शिरसे स्वाहा, मं नित्यतृप्तिशक्तिधाम्ने शिखायै वषट्, शिं अनादिबोधशक्तिधाम्ने कवचाय हुम्, वां स्वतन्त्रशक्तिधाम्ने नेत्रत्रयाय वौषट्, यं अलुप्तशक्तिधाम्ने अस्त्राय फट् । (भूर्भुवस्स्वरोमिति दिग्बन्धः) ।

पारमेश्वरागमोक्तप्रकारेण 'न-म-शि-वा-य' इति मन्त्रवर्णान् सबिन्दुकान् चतुर्थ्यन्तैस्तत्पुरुषाघोरसद्योजातवामदेवेशानैः सह तर्जनीमध्यमाकनिष्ठिकानामिकाङ्गुष्ठेषु

१. चन्द्रज्ञानागमः, उत्तरभागः, क्रियापादः, ११.२३ ।
२. तत्रैव, ११.२४ ।
३. तत्रैव, ११.३२ ।
४. सूक्ष्मागमः, उत्तरभागः, क्रियापादः, ३.३१-३३ ।

न्यस्येत्। अयं करन्यासः। तानेव तैरेव सह मुखहृदयपादगुह्यशिरःसु न्यासं कुर्यात्। अयं चाङ्गन्यासः[१]। अनयोः क्रमो वैशद्यार्थमत्र दत्तः– **करन्यासः**– ओं नं तत्पुरुषाय तर्जनीभ्यां नमः, ओं मं अघोराय मध्यमाभ्यां नमः, ओं शिं सद्योजाताय कनिष्ठिकाभ्यां नमः, ओं वां वामदेवाय अनामिकाभ्यां नमः, ओं यं ईशानाय अङ्गुष्ठाभ्यां नमः॥

अङ्गन्यासः (देहन्यासः)– ओं नं तत्पुरुषाय नमो मुखे, ओं मं अघोराय नमः हृदये, ओं शिं सद्योजाताय नमः पादयोः, ओं वां वामदेवाय नमः गुह्ये, ओं यं ईशानाय नमः शिरसि॥

एवं शैवागमेषु विभिन्नक्रमेण करन्यासः, अङ्गन्यासः (देहन्यासः), षडङ्गन्यास- (अङ्गन्यासः)श्चेति न्यासत्रयं निरूपितम्। केवलं चन्द्रज्ञानागमे करन्यासविषये सृष्टिस्थितिसंहारन्यासक्रमा उक्ताः। वर्णन्यासः, मातृकान्यासः, मातृकाक्षरन्यासः, ब्रह्मन्यासः, प्रणवन्यासः, पञ्चाक्षरन्यासः, गोलकन्यासश्चेति न्यासान्तराण्युक्तानि[२]। तत्र वर्णन्यासः, मातृकान्यासः, मातृकाक्षरन्यासश्चेति न्यासा अभिन्नाः। ब्रह्मन्यासः पञ्चब्रह्मन्यास एव। पञ्चाक्षरन्यासः पश्चात् प्रदर्श्यते। हृदि, वक्त्रे, अंसयोः, ऊर्वोः, कण्ठे, नाभौ, पार्श्वद्वये, पृष्ठे, हृदि, मूर्ध्नि, वदने, नेत्रयोः, दोषोः, सन्धिषु, मणिबन्धयोश्च षडक्षरविद्याया न्यासो गोलकन्यास इत्युच्यते[३]।

सृष्ट्यादिक्रमेण करन्यासादीनां परिष्कृतं स्वरूपमत्र दीयते—

मूलपञ्चाक्षरमन्त्रन्यासाः

ओं नमः शिवाय इत्यस्य श्रीमूलपञ्चाक्षरीमहामन्त्रस्य वामदेव ऋषिः (शिरसि), पङ्क्तिश्छन्दः, (मुखे), श्रीसदाशिवो देवता (हृदये), ओं बीजम् (नाभौ), उमा शक्तिः (गुह्ये), शिव इति कीलकम् (पादयोः), श्रीसदाशिवप्रीत्यर्थे जपे विनियोगः।

सृष्टिन्यासक्रमः

करन्यासः

ओं यं ओं सर्वज्ञशक्तिधाम्ने अङ्गुष्ठाभ्यां नमः।
ओं वां ओं नित्यतृप्तिशक्तिधाम्ने तर्जनीभ्यां नमः।
ओं शिं ओं अनादिबोधशक्तिधाम्ने मध्यमाभ्यां नमः।
ओं मं ओं स्वतन्त्रशक्तिधाम्ने अनामिकाभ्यां नमः।

---

१. पारमेश्वरागमः, ११.४६-४८
१. चन्द्रज्ञानागमः, उत्तरभागः क्रियापादः, ११.३३, ३५-३७।
३. पारमेश्वरागमः, ११.५०-५१

ओं नं ओं अलुप्तशक्तिधाम्ने कनिष्ठिकाभ्यां नमः ।
ओं ओं ओं अनन्तशक्तिधाम्ने करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः ।

देहन्यासः

ओं यं ओं ईशानाय नमः शिरसि ।
ओं वां ओं तत्पुरुषाय नमो मुखे ।
ओं शिं ओं अघोराय नमो हृदये ।
ओं मं ओं वामदेवाय नमो गुह्ये ।
ओं नं ओं सद्योजाताय नमः पादद्वये ।
ओं ओं ओं प्रणवाय नमः सर्वाङ्गे ।

अङ्गन्यासः

ओं यं ओं सर्वज्ञशक्तिधाम्ने हृदयाय नमः ।
ओं वां ओं नित्यतृप्तिशक्तिधाम्ने शिरसे स्वाहा ।
ओं शिं ओं अनादिबोधशक्तिधाम्ने शिखायै वषट् ।
ओं मं ओं स्वतन्त्रशक्तिधाम्ने कवचाय हुँ ।
ओं नं ओं अलुप्तशक्तिधाम्ने नेत्रत्रयाय वौषट् ।
ओं ओं ओं अनन्तशक्तिधाम्ने अस्त्राय फट् ।
भूर्भुवस्स्वरोमिति दिग्बन्धः ।

स्थितिन्यासक्रमः

करन्यासः

ओं शिं ओं अनादिबोधशक्तिधाम्ने मध्यमाभ्यां नमः ।
ओं वां ओं नित्यतृप्तिशक्तिधाम्ने तर्जनीभ्यां नमः ।
ओं यं ओं सर्वज्ञशक्तिधाम्ने अङ्गुष्ठाभ्यां नमः ।
ओं नं ओं अलुप्तशक्तिधाम्ने कनिष्ठिकाभ्यां नमः ।
ओं मं ओं स्वतन्त्रशक्तिधाम्ने अनामिकाभ्यां नमः ।
ओं ओं ओं अनन्तशक्तिधाम्ने करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः ।

देहन्यासः

ओं शिं ओं अघोराय नमो हृदये ।
ओं वां ओं वामदेवाय नमो गुह्ये ।
ओं यं ओं सद्योजाताय नमः पादद्वये ।
ओं नं ओं ईशानाय नमः शिरसि ।

ओं मं ओं तत्पुरुषाय नमो मुखे।
ओं ओं ओं प्रणवाय नमः सर्वाङ्गे।

अङ्गन्यासः

ओं शिं ओं अनादिबोधशक्तिधाम्ने कवचाय हूँ।
ओं वां ओं नित्यतृप्तिशक्तिधाम्ने नेत्रत्रयाय वौषट्।
ओं यं ओं सर्वज्ञशक्तिधाम्ने अस्त्राय फट्।
ओं नं ओं अलुप्तशक्तिधाम्ने हृदयाय नमः।
ओं मं ओं स्वतन्त्रशक्तिधाम्ने शिरसे स्वाहा।
ओं ओं ओं अनन्तशक्तिधाम्ने शिखायै वषट्।
भूर्भुवस्स्वरोमिति दिग्बन्धः।

संहारन्यासक्रमः

करन्यासः

ओं नं ओं अलुप्तशक्तिधाम्ने कनिष्ठिकाभ्यां नमः।
ओं मं ओं स्वतन्त्रशक्तिधाम्ने अनामिकाभ्यां नमः।
ओं शिं ओं अनादिबोधशक्तिधाम्ने मध्यमाभ्यां नमः।
ओं वां ओं नित्यतृप्तिशक्तिधाम्ने तर्जनीभ्यां नमः।
ओं यं ओं सर्वज्ञशक्तिधाम्ने अङ्गुष्ठाभ्यां नमः।
ओं ओं ओं अनन्तशक्तिधाम्ने करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः।

देहन्यासः

ओं नं ओं सद्योजाताय नमः पादद्वये।
ओं मं ओं वामदेवाय नमो गुह्ये।
ओं शिं ओं अघोराय नमो हृदये।
ओं वां ओं तत्पुरुषाय नमो मुखे।
ओं यं ओं ईशानाय नमः शिरसि।
ओं ओं ओं प्रणवाय नमः सर्वाङ्गे।

अङ्गन्यासः

ओं नं ओं अलुप्तशक्तिधाम्ने अस्त्राय फट्।
ओं मं ओं स्वतन्त्रशक्तिधाम्ने नेत्रत्रयाय वौषट्।
ओं शिं ओं अनादिबोधशक्तिधाम्ने कवचाय हुं।
ओं वां ओं नित्यतृप्तिशक्तिधाम्ने शिखायै वषट्।

ओं यं ओं सर्वज्ञशक्तिधाम्ने शिरसे स्वाहा।
ओं ओं ओं अनन्तशक्तिधाम्ने हृदयाय नमः।
भूर्भुवस्स्वरोमिति दिग्बन्धः।

जपे अक्षमालिकाप्रयोगः

अङ्गुलीभिरङ्गुलिरेखाभिरक्षमालया वा जपः कर्तव्यः। तत्राऽक्षमालिकाविषये अक्षमालिकोपनिषदि प्रवाल-मौक्तिक-स्फटिक-शङ्खरजताष्टापद-चन्दन-पुत्रजीविकाब्जरुद्राक्षै-रक्षमालिका रचनीयाः। तेषां योजने सौवर्णं राजतं ताम्रं वा सूत्रं प्रयुज्यते[१]। तत्राऽक्षमालिकायां शिरोमणिना सह चतुरधिकपञ्चाशदक्षा भूयासुः, द्विरावर्तनेनाऽष्टोत्तरशतवारं जपस्य कर्तव्यतयोक्तत्वात्[२]। तामक्षमालिकां पञ्चगव्यैः पञ्चामृतैश्च शोधयित्वा पञ्चगव्यैर्गन्धोदकेन च संस्नाप्याऽष्टभिर्गन्धैरालिप्य सुमनःस्थले निवेश्याऽक्षतपुष्पैः सम्पूज्य प्रत्यक्षं मन्त्रपूर्वकमादिक्षान्तैर्वर्णैर्भावयेत्[३]।

सूक्ष्मागमे तावद् अभङ्गुरा दृढाः स्निग्धा नवा दृष्टिप्रियाः शुभाः श्रेष्ठा रुद्राक्षा जपमालायां योजनीया इत्युक्तम्। रुद्राक्षस्योन्नतभागो वक्त्रं निम्नभागश्च पृष्ठमित्युच्येते। त्रिवृता पट्टसूत्रेण कार्पाससूत्रेण वा वक्त्रं वक्त्रेण पृष्ठं पृष्ठेन इत्येवं क्रमेण रुद्राक्षा योजनीयाः। मालिकाया मूलभागे स्थूलमणयोऽग्रे सूक्ष्ममणयश्च भवेयुः। मणीनां परस्पर-घर्षणं मा भूदिति मणीनामन्तरे वर्तनद्वय्यो ग्रन्थयो बध्नीयात्। मालाग्रद्वयं परिवृत्य मेर्वाख्यं शिरोमणिं योजयेत्। जपसमये मेरोरुल्लङ्घनं यथा न भवति तथा सावधानैर्भवितव्यम्[४]।

तत्रैवाऽक्षमालिकायाः संस्कार उक्तः। तदनुसारेणाक्षमालिकां पञ्चामृतैः पञ्चगव्यैश्चाभिषिच्य गुरुः संस्कुर्यात्। गुरुर्मन्त्रमष्टोत्तरशतवारं जप्त्वा तां जपमालिकां वर्णात्मकत्वेन ध्यात्वा शिष्याय दद्यात्। तया शिष्यो नित्यं जपेत्[५]। तामक्षमालिकामशुचिस्थले न क्षिपेत्, वामपाणिना न स्पृशेत्, दीक्षाहीनस्य न दर्शयेत्। जपकाले जप्त्वा तां कुत्रापि गोपयेत्। प्रमादात् नियमभङ्गे जाते पुनर्गुरुणाऽक्षमालिकासंस्कारं कारयेत्[६]।

चन्द्रज्ञानागमेऽङ्गुल्यादिभिर्जपसंख्यानमनुलक्ष्य फलभेदो निरूपितः। तदनुसारेण अङ्गुल्या जपसंख्याने कृते एकजपेनैकं फलम्, अङ्गुलिरेखाभिः कृतेऽष्टगुणम्, पुत्रजीवमालया

१. अक्षमालिकोपनिषत्, २।
२. तत्रैव, १४।
३. तत्रैव, ४।
४. सूक्ष्मागमः, उत्तरभागः, क्रियापादः, ३.६२-६८।
५. तत्रैव, ३.६९-७०।
६. तत्रैव, ३.७२-७३।

कृते दशगुणम्, शङ्खमणिमालया कृते शतगुणम्, प्रवालमालया कृते सहस्त्रगुणम्, स्फटिकमणिमालया कृते लक्षगुणम्, पद्माक्षमालया रुद्राक्षमालया वा कृतेऽनन्तं च फलम्[१]। अक्षसंख्यावशादक्षमालया कृतस्य जपस्य फलभेदोऽप्युक्तः। तथा हि– जपकर्मणि त्रिंशदक्षैः कृता माला धनदा, सप्तविंशत्यक्षैः कृता पुष्टिप्रदा, पञ्चविंशत्यक्षैः कृता मुक्तिप्रदा, पञ्चदशाक्षैः कृताऽभिचारफलप्रदा चेत्यक्षसंख्यानुगुणेन जपस्य फलम्[२]। एवमेवाङ्गुलिजपविषयेऽङ्गुलिभेदेन फलभेदो विद्यते। तथा हि– अङ्गुष्ठेन जपे कृते मोक्षप्राप्तिः, तर्जन्या कृते शत्रुनाशनम्, मध्यमया कृते धनप्राप्तिः, अनामिकया कृते शान्तिलाभः, कनिष्ठिकया कृते आकर्षणं चेति। तर्जन्यादिभिश्चतसृभिरङ्गुलीभिः क्रियमाणे जपे तु अङ्गुष्ठस्य सहयोग आवश्यकः। अङ्गुष्ठेन विना कृतो जपः फलहीनो भवति[३]। गृहादिस्थानभेदेनापि, जपस्य फलभेदो निरूपितः। तथा हि– गृहे एकजपेनैकं फलम्, गोष्ठे शतगुणम्, पुण्यारण्ये आरामे वा सहस्त्रगुणम्, पर्वते दशसहस्त्रगुणम्, नद्यां लक्षगुणम्, देवालये कोटिगुणम्, शिवसन्निधौ चानन्तगुणं फलमुक्तम्[४]। इदमप्यत्र ज्ञेयम्–

सूर्यस्याग्नेर्गुरोरिन्दोर्दीपस्य च जलस्य च।
विप्राणां च गवां चैव सन्निधौ शस्यते जपः[५]॥ इति।

कस्मै मन्त्रो दातव्यः कस्मै च न

कस्मै पञ्चाक्षरः षडक्षरो वा मन्त्रो दातव्यः ? अर्थात् कोऽस्य मन्त्रस्याऽधिकारी ? इति पृष्टे उच्यते। सूक्ष्मागमोक्तदिशा मुक्त्यभिलाषी दृढव्रतः शिष्टो लिङ्गनिष्ठारतो विद्याहङ्कारनिर्मुक्तः सदाचाररत आस्तिको विशेषभक्तियुक्तः शान्तो गुरुवचनरतः शिवभक्तः सुशीलो धर्मिष्ठः सत्यव्रतपरायणो वेदमार्गनिरतः शिवैकशरणः शिवाराधनतत्परोऽस्य मन्त्रस्याऽधिकारी[६]। इयमत्रोक्तिः सारवती–

येषु येषु महादेवि भक्तिरव्यभिचारिणी।
योग्यास्त एव मन्त्रस्य भक्तिरेवात्र कारणम्[७]॥

---

१. चन्द्रज्ञानागमः, उत्तरभागः, क्रियापादः, ८.६५-६७।
२. तत्रैव, ८.६८-६९।
३. तत्रैव, ८.७०-७२।
४. तत्रैव, ८.७२-७.३।
५. तत्रैव, ८.७५।
६. सूक्ष्मागमः, उत्तरभागः, क्रियापादः, ३.९०;४.६६-६७।
७. तत्रैव, ३.२९।

येषु येष्वव्यभिचारिणी भक्तिर्विद्यते, तेऽस्य मन्त्रस्याधिकारिणः । एवं भक्तिरेवात्र कारणम् ।

कस्मै मन्त्रो न दातव्य इत्यस्मिन् विषये– नास्तिकाय कृतघ्नाय भक्तिहीनाय शिवाचारविरोधिने दम्भिकाय विषयग्रस्तचेतसे चञ्चलाय व्रतभ्रष्टाय देवान्तरपराय पञ्चाक्षरः षडक्षरो वा मन्त्रो न दातव्य इति सूक्ष्मागमशासनम्[१] ।

मन्त्रोपदेशे नियमः

शैवागमेषु द्विजेभ्यः षडक्षरमन्त्रः स्त्रीशूद्रेभ्यश्च प्रणवं विना पञ्चाक्षरमन्त्र उपदेष्टव्य इति नियम उक्तः । तथा हि सूक्ष्मागमे— **''प्रणवेन विना दद्यात् स्त्रीशूद्राणामिमं मनुम्''**[२] इत्युक्तम् । द्विजैरेव प्रणवयुक्तः षडक्षरमन्त्रो जप्तव्यः, स्त्रीभिः शूद्रैश्च प्रणवं विना पञ्चाक्षर एव । तत्र पञ्चाक्षरो नमोऽन्त एव स्यादिति नियमः । तथा चोक्तम्–

द्विजैरियं तु जप्तव्या नित्यं प्रणवपूर्विका ।
स्त्रीभिः शूद्रैश्च जप्तव्या नमोऽन्ता प्रणवं विना[३] ।। इति ।

द्विज एव तारेऽधिकारयुक्तः । अतः स सतारं षडक्षरमन्त्रं जपेत् । योऽस्याऽनधिकारी स तं न जपेत् । जपेत् चेत् स अधोगतिं गच्छति । तदुक्तम्–

तारेऽधिकारयुक्तस्तु तारयुक्तं मनुं जपेत् ।
जपन्ननधिकारी तु तारं गच्छत्यधोगतिम्[४] ।। इति ।

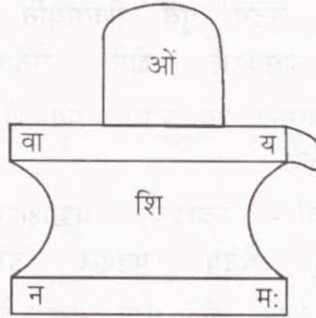
तारयुक्तः षडक्षरमन्त्रो लिङ्गस्वरूपः । पञ्चाक्षरमन्त्रः परमं ज्ञानम् । स चाऽधिकारयुक्तानां सतारो मन्त्रो भवति । अधिकारयुक्तैरेव स जप्यो भवति । तथा चोक्तम्–

पञ्चाक्षरी महाविद्या सतारा लिङ्गरूपिणी ।
अधिकारयुजां तारे ध्येया सा मन्त्ररूपिणी[५] ।। इति ।

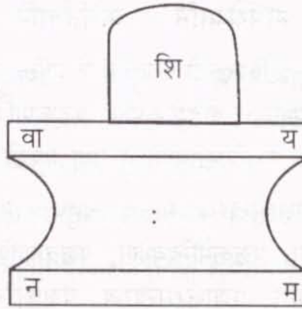
अधिकारयुक्तानां षडक्षरमन्त्र ओङ्कारवदनं वा-य-कारभुजद्वयवत् शिकारमध्यदेहं नमःकारपदद्वयवच्च लिङ्गस्वरूपं धत्ते[६] । तदेव चित्ररूपेण दत्तमधस्तात्–

---

१. सूक्ष्मागमः, उत्तरभागः, क्रियापादः, ३.८९; ४.६३-६४ ।
२. तत्रैव, ३.२१ ।
३. चन्द्रज्ञानागमः, उत्तरभागः, क्रियापादः, ८.१० ।
४. तत्रैव, ११.४५ ।
५. तत्रैव, ११.४० ।
६. तत्रैव, ११.४२ ।



अनधिकारवतां तारे पञ्चाक्षरमन्त्रः शिकारवदनं वायकारभुजद्वयवत् विसर्गदेहमध्यं नमकारपादद्वयवच्च लिङ्गस्वरूपं धत्ते ।[१] तदेव चित्ररूपेण पुनर्दत्तमधस्तात्–



उपसंहारः

एवं शैवागमोत्तरभागोक्तप्रकारेण पञ्चाक्षर-षडक्षरोभयात्मकस्य शिवमन्त्रस्य स्वरूपं महत्त्वं तत्सम्बद्धांश्चान्यविषयान् अधिकृत्य विस्तृतमीमांसा कृता। सर्वस्यास्य विषयस्य प्रभावो वीरशैवसिद्धान्तग्रन्थेषु दरीदृश्यते। तत्र शैवागमोत्तरभागानां सारसङ्ग्रहभूते श्रीसिद्धान्तशिखामणौ तत्प्रभावोऽधिकतया दृश्यते। अतः पूर्वोक्तविषयांशान् सङ्ग्रहेणोक्त्वा श्रीसिद्धान्तशिखामणौ मन्त्रविषये यो विचारो निरूपितः, स एवात्र तुलनात्मकतया प्रस्तूयते। तथा हि–

१. पञ्चाक्षरः षडक्षर इत्युभयात्मकमन्त्रः कृष्णयजुर्वेदीयरुद्राध्यायस्याऽष्टमानुवाकादुद्धृतः। तत्र 'नमः शिवाय' इति नमःशब्दस्य पूर्वत्वं शिवायेति चतुर्थ्यन्तशब्दस्योत्तरत्वं चेति मन्त्रस्य क्रमो दृश्यते। स एव क्रमः शैवागमेषु विहितः। स एव क्रमः श्रीसिद्धान्तशिखामणौ विधीयते। तथा चोक्तम्—

---

१. चन्द्रज्ञानागमः, उत्तरभागः क्रियापादः, ११.४२।

नमःशब्दं वदेत् पूर्वं शिवायेति ततः परम् ।
मन्त्रः पञ्चाक्षरो ह्येष सर्वश्रुतिशिरोगतः[१] ।। इति ।

ओङ्कारपूर्वः पञ्चाक्षरमन्त्र एव षडक्षर इति शैवागमेषु कथ्यते । तथैव श्रीसिद्धान्तशिखामणावप्युक्तम्—

ओङ्कारपूर्वो मन्त्रोऽयं पञ्चाक्षरमयः परः ।
शैवागमेषु वेदेषु षडक्षर इति स्मृतः[२] ।। इति ।

२. मूलं, विद्या, शिवः, शैवं सूत्रम्, पञ्चाक्षरश्चेति नामान्यस्य मन्त्रस्येति शैवागमेषूक्तम् । तथैव श्रीसिद्धान्तशिखामणावुक्तम्—

मूलं विद्या शिवः शैवं सूत्रं पञ्चाक्षरस्तथा ।
एतानि नामधेयानि कीर्तितानि महामनोः[३] ।। इति ।

३. शैवागमेषु मन्त्रस्य ऋषिश्छन्दो देवता बीजं शक्तिः कीलकं विनियोगश्चोच्यन्ते । शैवागमेषु पुनर्मन्त्राङ्गानि प्रत्यक्षरं च षोडशरूपाणि षड्रूपाणि त्रिरूपाणि चेति वैविध्येन रूपाणि निरूपितानि । श्रीसिद्धान्तशिखामणौ तु तेषां प्रपञ्चो न दृश्यते ।

४. शैवागमेषु पञ्चाक्षरमन्त्रस्य महत्त्वं बहुधा निरूपितम् । पञ्चतन्मात्राणि, पञ्चभूतानि, पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि, पञ्चकर्मेन्द्रियाणि, पञ्चब्रह्माणि, परमात्मनः पञ्चकृत्यानि चेति सर्वाणि पञ्चात्मकानि पञ्चाक्षरमन्त्रस्य पञ्चाक्षरैर्बोध्यानीति निरूपितम् । श्रीसिद्धान्तशिखामणावपि तथैवोक्तम्—

पञ्चभूतानि सर्वाणि पञ्चतन्मात्रकाणि च ।
ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चापि पञ्चकर्मेन्द्रियाणि च ।।
पञ्चब्रह्माणि पञ्चापि कृत्यानि सह कारणैः ।
बोध्यानि पञ्चभिर्वर्णैः पञ्चाक्षरमहामनोः ।।
पञ्चधा पञ्चधा यानि प्रसिद्धानि विशेषतः ।
तानि सर्वाणि वस्तूनि पञ्चाक्षरमयानि हि[४] ।। इति ।

५. शैवागमोक्तदिशा षडक्षरात्मके मन्त्रे ओङ्कारः परशिवस्य शरीरम्, पञ्चाक्षरैस्तस्य

---

१. श्रीसिद्धान्तशिखामणिः, ८.७ ।
२. तत्रैव, ८.२७ ।
३. तत्रैव, ८.२३ ।
४. तत्रैव, ८.२४-२६ ।

पञ्चब्रह्मतनुत्वं च भवति। तत्र शिवस्योङ्कारशरीरत्वं नाम निष्कलस्वरूपत्वम्, पञ्चब्रह्मतनुत्वं नाम तस्य सकलस्वरूपत्वमित्युक्तं स्यात्। श्रीसिद्धान्तशिखामणावयं भावः स्पष्टं निरूपितः। तथा हि—

प्रणवेनैव मन्त्रेण बोध्यते निष्कलः शिवः।
पञ्चाक्षरेण मन्त्रेण पञ्चब्रह्मतनुस्तथा॥
निष्कलः संविदाकारः सकलो विश्वमूर्तितः।
उभयात्मा शिवो मन्त्रे षडक्षरमये स्थितः[१] ॥ इति।

६. पञ्चाक्षरषडक्षरोभयात्मकस्यास्य मन्त्रस्य शिवस्य च सम्बन्धो वाच्यवाचकस्वरूप इत्युक्तं शैवागमेषु। सूक्ष्मेऽस्मिन् मन्त्रे पञ्चब्रह्मशरीरः शिवः साक्षाद् वाच्यवाचकभावेन स्थित इत्युक्तम्। अयमेव मन्त्रशिवयोर्वाच्यवाचकसम्बन्धः श्रीसिद्धान्तशिखामणावपि सम्यक् प्रतिपादितः—

अशेषजगतां हेतुः परमात्मा महेश्वरः।
तस्य वाचकमन्त्रोऽयं सर्वमन्त्रैककारणम्॥
तस्याभिधानमन्त्रोऽयमभिधेयश्च स स्मृतः।
अभिधानाभिधेयत्वान्मन्त्रात् सिद्धः परः शिवः[२] ॥ इति।

७. शैवागमेषु पुरश्चरणविधिर्मन्त्रजपविधिश्च सम्यगुक्तौ। तत्र प्राङ्मुखो वोदङ्मुखो वा पद्मासनस्थः समकायशिरोग्रीवः सन् शिवध्यानपूर्वकं जपं कुर्यादित्युक्तम्। सगर्भजपे प्राणायामो विहितः। श्रीसिद्धान्तशिखामणौ पुरश्चरणविधिमनुक्त्वैव जपविधिर्निरूपितः। तथा हि—

प्राणायामत्रयं कृत्वा प्राङ्मुखोदङ्मुखोऽपि वा।
चिन्तयन् हृदयाम्भोजे देवदेवं त्रिलोचनम्॥
सर्वालङ्कारसंयुक्तं साम्बं चन्द्रार्धशेखरम्।
जपेदेतां महाविद्यां शिवरूपामनन्यधीः[३] ॥ इति।

८. शैवागमेषु वाचिकोपांशुमानसभेदेन जपस्य त्रैविध्यमुक्त्वा, एकैकस्य जपप्रकारस्य लक्षणं सम्यगुक्तम्। तत्र वाचिकापेक्षयोपांशोः शतगुणत्वम्, उपांश्वपेक्षया मानसस्य

---

१. श्रीसिद्धान्तशिखामणिः, ८.२१-२२।
२. तत्रैव, ८.५-६।
३. तत्रैव, ८.२५-२६।

सहस्रगुणत्वं चोक्त्वा ततोऽपि सगर्भजपस्य पुनस्ततोऽपि सध्यानजपस्य च श्रेष्ठत्वं प्रतिपादितम्। श्रीसिद्धान्तशिखामणावपि जपत्रैविध्यं सलक्षणमुक्त्वा तारतम्यं च शैवागमोक्तदिशैव प्रदर्शितम्। तत्र सगर्भसध्यानजपयोरुल्लेखो नास्ति[१]।

९. शैवागमोक्तदिशा सर्वास्ववस्थासु पञ्चाक्षरमन्त्रः सिद्ध्यति। अन्ये मन्त्राः सर्वे तत्क्रियाश्चाऽऽयासबहुलाः, पञ्चाक्षरमन्त्रस्तु विनाऽऽयासेन फलप्रदः। एवमेव श्रीसिद्धान्तशिखामणावुक्तम्—

अशुद्धो वा विशुद्धो वा सकृत्पञ्चाक्षरेण यः।
पूजयेत्पतितो वापि मुच्यते नाऽत्र संशयः।।
अन्येऽपि बहवो मन्त्रा विद्यन्ते सकलागमे।
भूयो भूयः समभ्यासात् पुरुषार्थप्रदायकाः।।
एष मन्त्रो महाशक्तिरीश्वरप्रतिपादकः।
सकृदुच्चरणादेव सर्वसिद्धिप्रदायकः[२] ।। इति।

१०. शैवागमोक्तदिशा द्विजेभ्य एव षडक्षरमन्त्र उपदेष्टव्यः, स्त्रीशूद्रेभ्यश्च प्रणवं विना पञ्चाक्षरमन्त्र उपदेष्टव्य इति नियमोऽस्ति। परन्तु श्रीसिद्धान्तशिखामणौ तादृशनियमो नास्ति। चन्द्रज्ञानागमे स्त्रीशूद्रेभ्यो नमोऽन्तः पञ्चाक्षरमन्त्र उपदेष्टव्य इत्युक्तम्। तत्र क्रमभङ्गेन तस्य मन्त्रत्वमेव कथमिति सन्देहः। केवलं पञ्चाक्षरमन्त्र एव उपदेष्टव्य इत्येव साधीयान् पन्थाः। इति शम्।

●

---

१. श्रीसिद्धान्तशिखामणिः, ८.२७-३२
२. तत्रैव, ८.३८, ४०-४२

वीरशैवानां कर्मज्ञानसमुच्चयः

को. रं. बसवराजुः

नमस्ते सच्चिदानन्दविज्ञानघनमूर्तये ।
अनावृताय भो शम्भो गुरवे बुद्धिरूपिणे ।।

उपनिषन्मन्त्राणां भेदे तात्पर्यमिति द्वैतवादिनः, अभेदे इत्यद्वैतवादिनः, भेदाभेद इति विशिष्टाद्वैतवादिनश्च वदन्ति। एवं केचित् ज्ञानप्रधानमिति, अन्ये कर्मप्रधानमिति, अपरे तु उभयप्रधानमिति प्रतिपादयन्ति।

"ज्ञानादेव तु कैवल्यम्" इत्यद्वैतसिद्धान्तिनः। इदमत्राकूतम्—यथा रज्ज्वज्ञानकल्पिता सर्पभ्रान्ती रज्जोर्यथार्थज्ञानान्निवर्तते, तथा ब्रह्मणो यथार्थज्ञानाद् ब्रह्माज्ञानकल्पितः सर्वोऽपि प्रपञ्चो निवर्तते। इदमेव कैवल्यम्। यथा चोक्तम्–अविद्यास्तमयो मोक्षः, सा संसार उदाहृतः' इति।

द्वैतसिद्धान्तेऽपि ज्ञानादेव मोक्ष इति। ज्ञानं चात्राऽपरोक्षज्ञानं विवक्षितम्। अपरोक्षज्ञानानन्तरमपि ज्ञानी स्वविहितकर्म कुर्यादेव। अन्यथा मोक्षे आनन्दह्रासो भवति। एतन्मते स्वस्वसाधनानुसारेण आनन्दे तरतमभावो विद्यत एव।

विशिष्टाद्वैतवेदान्तेऽपि ज्ञानमेव मोक्षकारणम्, परन्तु ज्ञानकर्मणोरङ्गाङ्गिभावो वर्तते। अर्थात् कर्मसमुच्चितमेव ज्ञानं मोक्षसाधनमिति।

वीरशैवसिद्धान्ते तु रज्जोः तन्तुत्रयमिव ज्ञानं कर्म भक्तिश्चापि प्राधान्येन मुक्तिकारणम्। अर्थादेते ज्ञानकर्मसमुच्चयवादिनः। अत्र तु वीरशैवानां कर्मज्ञानसमुच्चयवादे आगमा ईशावास्यादिमन्त्राः, श्रीकरभाष्य-सिद्धान्तशिखामणिरित्यादयो ग्रन्थाश्च प्रमाणपदवीमारुहन्ति। तथा च सहस्त्रप्रमाणप्रमितोऽस्मदीयः सिद्धान्तः। तत्रापि पारमेश्वरागमे प्राधान्येन कर्मज्ञानसमुच्चयविषयो बहुषु स्थलेषु प्रतिपादितो वर्तते।

अथ कर्मशब्दार्थनिरूपणम्

वीरशैवसिद्धान्ते कर्मपदस्य न पुण्यपापहेतुत्वं नापि मुक्तिप्रतिबन्धकत्वं न वा

पुनर्जन्मकरणत्वमिति वाच्यम्, ''बाह्यं यागादिनोच्यते'' इत्यनेन निषेधात्। किन्तु तस्य महालिङ्गार्चनार्पणादिक्रियेत्यर्थः, पूजा तस्य क्रियोच्यते, ''समर्चाकर्म विज्ञेयम्'' इत्युक्तत्वात्।

तच्च कर्म द्विविधम्–पशुकर्म पतिकर्मेति च। येन कर्मणा जन्तुर्बध्यते, यस्मिन् कर्मणि फलसम्बन्धो वर्तते वा तदेव पशुकर्मेति। पशुविशसनरूपयागादयो वा। यच्च कर्म संसारिणं पुरुषं भवबन्धनान्मोचयति, तत्पतिकर्मेति। शिवलिङ्गस्य यजन-भजनार्चनार्पणप्रसादग्रहणादीनि तानि सन्ति। अत्र तु पतिकर्म एव प्रशस्तम्। अन्यस्य बन्धकत्वान्न प्राशस्त्यम्। एवं चेत् सामान्यतः कर्मण आनर्थक्यं स्यादिति चेन्न, शिवज्ञानसिद्ध्यर्थं कर्मणां विहितत्वादिति ब्रूमः। तर्हि पशुकर्म पतिकर्म स्यात् ? इति चेत्, अस्तु नाम, को नेत्याह ? तथा हिं आगमवाक्यम्– **''तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं हि कार्याकार्यव्यवस्थितौ''** इति।

ज्ञानशब्दार्थविवरणम्

सामान्यतो ज्ञानमिति कश्चन सविषयकपदार्थः। तच्च ज्ञानं लौकिकमलौकिकमिति द्विविधम्। अत्र लौकिकस्य प्रकृतानुपयोगात् तन्न निरूप्यते। अलौकिकं ज्ञान-मागमजन्यमित्युच्यते। आगमाश्चात्र वीरशैवागमा इति। पारमेश्वरागमे ज्ञानशब्दस्य एते अर्थाः प्रदर्शिताः–

'शिवागमार्थविज्ञानं ज्ञानं नान्यार्थवेदनम्।
पशु-पाश-पतिज्ञानं ज्ञानमित्यभिधीयते'।।
''शिवाद्वैतपरं ज्ञानं ज्ञानमित्युच्यते बुधैः''।। इति।
'आवरणभङ्गानुकूलो व्यापारो ज्ञानम्'।

अत्र व्यापारः कर्मविशेष एव। ज्ञानस्यापि कर्मविशेष एव। ज्ञानस्यापि कर्मविशेषतया व्यापारत्वेन व्यवहारः कृतः। तथापि पशुपाशपतिज्ञानमेव मुख्यतया ज्ञानशब्दार्थत्वेन आगमकारैरभिधीयते।

समुच्चयपदार्थनिरूपणम्

समुच्चयो नाम (सम् + उद् + चिञ्) 'बहूनां युगपद्भावभाजां गुम्फः'। अत्र तु परस्परसापेक्षाविशिष्टयोः कर्मज्ञानयोरेकघटकत्वेन सत्त्वम्। तच्च विरोधानवगाहिज्ञाना-वच्छिन्नत्वं स्यात्। कर्मज्ञानयोः सहयोगः सहभावो वेति वक्तुं शक्यते। समुच्चयवादे मुख्यतया मतद्वयमस्ति विषमसमुच्चयः समसमुच्चयश्चेति। तत्र विषमसमुच्चय-वादिनामयमाशयः– कर्मणो मोक्षसाधनत्वेऽपि न साक्षात्, किन्तु ज्ञानाङ्गतया। ज्ञानस्यैव प्राधान्यम्। तथापि ज्ञानकर्मणोः समुच्चयो नास्तीति न। अत एव विषम इति विशेषणम्। तेऽङ्गाङ्गिभावसमुच्चयवादिनश्चेति कथ्यन्ते।

समसमुच्चयवा॒ऽदिनां मते कर्मणो ज्ञानस्यापि समप्राधान्यम्। न कर्म ज्ञानाङ्गं न वा ज्ञानं कर्माङ्गम्। पूर्वस्मिन् मते तु कर्मणो ज्ञानाङ्गत्वम्। अत्र तु नोभयोरपि परस्पर-मङ्गाङ्गिभावः। अत एव– "अपां सोमम् अमृता अभूम" इति श्रुतिरप्युपपद्यते। पारमेश्वरागमेऽप्यस्मिन् विषयेऽनल्पानि प्रमाणान्युदितानि। कानिचिद् उत्तरत्र दर्शयिष्यामः। ज्ञानकर्मणोः समप्राधान्यादेव सम इति पदं नानर्थकम्[१]।

पारमेश्वरागमे शैवानां प्रथममङ्गाङ्गिभावसमुच्चयं निरूप्य तदनन्तरं वीरशैवानां समसमुच्चयः प्रतिपदितः। यथा–

ज्ञानाधिकारसिद्ध्यर्थमाचरेत् कर्म चोदितम्।
ज्ञाननिष्ठाबलेनैव त्यजेत् कर्माणि नान्यथा।।
विना ज्ञानाधिकारेण उक्त्या कर्माणि यस्त्यजेत्।
न याति पारं दुःखस्य विषयेष्ववसीदति[२]।। इति।

आगमशास्त्रविहितकार्यानुष्ठानेन शिवज्ञानस्य अधिकारी भूत्वा तज्जन्यज्ञानबलेनैव कर्माणि त्यजेत्। यो नरो ज्ञानसिद्धिं विना कर्माणि त्यजति, स दुःखस्य पारं न याति।

अत्र कर्मत्याग इति कर्मफलत्याग इत्यर्थः। तत्र तु कर्मणस्त्यागः तथा कर्मणो योगः, उभावपि मोक्षसाधनमेव। शिवलिङ्गार्चनार्पणप्रसादग्रहणादिपतिकर्मानुष्ठानमेव कर्मयोगः, स्वर्गादिफलापेक्षाराहित्यमेव कर्मत्याग इत्युच्यते शिवशासनज्ञैः। अत एवोक्तं गीतायामपि— **संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ"**[३] इति।

वीरशैवमतस्थस्य ज्ञानयोगो हि साधनम्।
विना ज्ञानं न योगः स्यान्न ज्ञानं योगतो विना।।
न विना ज्ञानयोगाभ्या वीरशैवमताश्रयः।
सन्तारणाय भवति च्यवते नात्र संशयः[४]।।

---

१. अपि च– साध्यद्विकसाधनद्विकसमुच्चयः, पूर्णसमुच्चय इत्यादयः समुच्चयभेदाः सन्ति। तत्रानिष्टपरिहारसाधनं कर्म, इष्टप्राप्तिसाधनं ज्ञानमिति द्विकसमुच्चयवादिनः (भास्करमतम्)। तथा प्रतिबन्धकनिवृत्तिकारणं कर्म, इष्टप्राप्तिसाधनं ज्ञानमिति पूर्णसमुच्चयवादिनः (यादवप्रकाशमतम्)।

२. पारमेश्वरागमः, सप्तमः पटलः, श्लोकः- ३०. ३२।

३. भगवद्गीता, अध्यायः - ५ श्लोकः - २।

४. पा. आ., सप्तमः पटलः, श्लोकः - ३७।

यः पुरुषो वीरशैवमते निष्णातः, तस्य तु साधनं ज्ञानं योगश्च । यतो हि ज्ञानं विना न भवति योगः, तथैव योगं विना न भवति ज्ञानम् ।

नन्वत्र ज्ञानं विना न योगः, न योगं विना ज्ञानमित्युक्तम्, कथमिदम् ? अन्योन्याश्रयादिति चेत्, मैवम् । यथा शाङ्करसिद्धान्ते जीवब्रह्मभेदस्य आविद्यकत्वेऽप्यविद्यया जीवब्रह्मविभागसिद्धौ जीवस्य सिद्ध्या अविद्याया आश्रयसिद्धिः अविद्यासिद्धौ च जीवसिद्धिः । एवमेव अविद्याया जीवब्रह्मविभागस्यानादित्वेऽप्यविद्याधीनत्वं जीवब्रह्मविभागस्य, तथैवात्रापि मन्तव्यम् । न प्रतिबन्धकग्रहणमात्रेण दोषपरिहार इति चेत्, सत्यम्, वृक्षबीजन्यायेन ज्ञानकर्मणोरुभयोरप्यनादित्वेन यथा नान्योन्याश्रयः, तद्वदत्रापि ।

अत्र योगोऽपि शिवसुस्थितचेतसो वृत्त्यन्तरनिरोधरूपः कर्मविशेष एव । ज्ञानं तु पशुपाशपतिज्ञानम् । ज्ञानयोगयोः परस्परापेक्षा वर्तते, **''न ह्येकपक्षो विहगः प्रयाति''**, **''अपश्यन् अन्धको दग्धोऽगच्छन् पङ्गुश्च दह्यते''** इति दृष्टान्तवत् । अत्र साधकः सत्य-अहिंसा-अस्तेय-आस्तिक्यबुद्धि-श्रद्धा-यमनियम-अध्ययन-अध्यापन-यजन-याजन-वैराग्यादिसदाचारेण ज्ञानं सङ्गृह्य ज्ञानयोगी भवति । एवं ज्ञानयोगी भूत्वा कर्मयोगमभ्यस्यति । **''पुण्यापुण्यात्मकं कर्म मुक्तेस्तत्प्रतिबन्धकम्''**, **''फलकामनया कर्म करणं प्रतिपद्यते''** इत्यादिशिवागमार्थजन्यं विज्ञानं लब्ध्वा कर्मबन्धं प्रहास्यति । पुण्यापुण्ये च योगं विवर्जयति च । एवं च कर्मफलं त्यक्त्वा कर्ममात्रेण शङ्करं सम्पूज्य शिवसायुज्यं प्राप्नोति अन्यथा दुःखस्य पारं न याति । अत एवोक्तम्– **'कर्मज्ञानोभयभ्रष्टो निमग्नो दुःखसागरे'**[१] इति । अतो वीरशैवाः कर्मज्ञानरता भवेयुरिति शिवशासनमस्ति । तत्र च–

''विदिते शिवसात्मैककर्मणि ज्ञानयोगिनः ।
न यजन्ति शिवं युक्ताः समलोष्टाश्मकाञ्चनाः''[२] ।।

इति ज्ञानयोगिनां न किञ्चिदप्यस्त्यनुष्ठेयं कर्म, नित्यमुक्तत्वात् । अतस्ते न यजन्ति शिवमिति । एतच्चिन्त्यम्, **''न यजन्ति शिवम्''** इत्यनेन ते कर्मत्यक्ता इति न, किन्तु तेषां कर्मणां नास्ति विधिनिषेध इति तात्पर्यम् । उक्तं च आगमे–

'न किञ्चिज्ज्ञानिनः कर्मनिषेधो विधिरेव वा'[३] इति । अपि च, न केवलं कर्मज्ञाने मोक्षस्य साधनं भवतः, किन्तु भक्तिसंलग्ने कर्मज्ञाने एव मोक्षसाधनमिति

---

१. पा. आ., अष्टमः पटलः, श्लोकः - ६७ ।
२. पा. आ., द्वादशः पटलः, श्लोकः - ९ ।
३. पा. आ., द्वाविंशः पटलः, श्लोकः - ६७ ।

विशेषविचारोऽप्यत्र पगारमेश्वरे विविच्यते— **"न कर्म साधनं मुक्तेर्नभक्तिर्ज्ञानमप्युत"** इत्यादिना[१] उड्डयने पक्षिणः पक्षद्वयमपि नियतमेव, तथापि दिक्सूचकं पुच्छं विना गन्तव्यं स्थानं न प्राप्नोति हि। अत्र भक्तिः पुच्छवत्। अतोऽभक्तिः कर्म मुक्तेर्न साधनम्, तथा अभक्तिर्ज्ञानमपि। अपि च भक्त्यभ्यासवशात् कर्मज्ञाने दृढतरे भवतः। एवं च भक्तिसमाश्रितः कर्मज्ञानसमुच्चय एव मोक्षसाधनम्। अत्रोक्तं च—

विशेषमत्र वक्ष्यामि शृणु देवि समाहिता।
कर्मभक्तिचिदात्मानस्त्वधिकारास्त्रयः स्फुटाः।।
आलम्बः कामिनः कर्म ज्ञानं निष्कामिनः परम्।
विरक्तस्य त्वसक्तस्य भक्तियोगः शिवे मयि[२] ।। इति।

मुक्तेस्त्रयो मार्गाः सन्ति, कर्ममार्गः, ज्ञानमार्गः, भक्तिमार्गश्चेति। सकामिनां कर्ममार्गः, निष्कामिनां ज्ञानमार्गः, विरक्तानां वीरशैवानां तु कर्मज्ञानविशिष्टभक्तिमार्ग एव विहितः।

उपनिषत्सु सामान्यतः सर्वत्रापि ज्ञानकर्मसमुच्चय एव प्रतिपादितः। तथा हि—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते य उ विद्यामुपासते[३] ।।

अत्र विद्याशब्दो ज्ञानार्थकः, अविद्याशब्दोऽपि न विद्या अविद्या इति व्युत्पत्त्या विद्याभिन्नमोक्षसाधनीभूतकर्मार्थे वर्तते, नञः स्वभिन्नसदृशपदार्थकत्वस्य 'अब्राह्मणमानय' इत्यादौ दृष्टत्वात्।

ये जना अविद्यामुपासते, केवलं स्वस्वरूपज्ञानभिन्नयजनभजनादिपतिकर्माण्यनुतिष्ठन्ति ते अन्धो यथा गर्तं प्रविशति तथा आणवमायीयकार्मिकमलरूपतमः प्रविशन्ति, संसारचक्रे भ्रमन्ति। ये च विद्यामुपासते कायवाङ्मनसः कर्म हित्वा आत्मस्वरूपज्ञानरताः तेऽपि पङ्गुर्यथाग्निं तथा तस्मादधिकं मलरूपं तमः प्रविशन्ति। एवं च ज्ञानकर्मान्यतरासक्तानां न किञ्चिदपि प्रयोजनम्। अतः—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते[४] ।।

---

१. पा. आ., द्वाविंशः पट्टलः, श्लोकः - ७२।
२. तत्रैव, श्लोकः - ६४।
३. ईशावास्योपनिषत्।
४. तत्रैव।

अस्मिन् मन्त्रेऽविद्याया अनिष्टनिवर्तकत्वमुक्त्वा विद्याया अमृतसाधकत्वमुक्तम्। ये विद्यामात्मस्वरूपं ज्ञानं तथा अविद्यां विद्याभिन्नां शिवलिङ्गयजनभजनादिक्रियां चोभयं साक्षाद् मोक्षसाधनत्वेन जानन्ति, तेऽविद्यया पतिकर्मणा मृत्युं मलत्रयं तीर्त्वा विद्यया स्वस्वरूपज्ञानेनामृतत्वं प्राप्नुवन्तीति मन्त्रार्थः।

तत्र विचार्यते– मोक्षप्रतिबन्धकं कर्म, तथा मोक्षसाधनं ज्ञानम्, इत्येतयोः परस्परविरोधो वर्तते, **''कर्मणा बध्यते जन्तुः'' ''तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति''** इत्यादिस्मृतिश्रुतिषु दृष्टत्वात्। अतः कथं समसमुच्चयत्वम्? अत्र समाधीयते– अत्र च कर्म न मीमांसोक्तदिशा यज्ञयागादिकम्, तस्य सकामकर्मत्वेन मोक्षप्रतिबन्धकत्वात्, तस्य निष्कामत्वेऽपि न साक्षान्मोक्षसाधनत्वम्। अत एव ईदृशस्य कर्मणो ज्ञानकर्मसमुच्चयशरीरे न प्रवेशः। एवं चात्र कर्मशब्देन शिवपूजासाधनभूतानि विभूतिरुद्राक्षधारणादीनि पतिकर्माणि विवक्षितानि। तानि ज्ञानानुविद्धानि च। तेषां च मोक्षं प्रति ज्ञानवत् साक्षात्कारणत्वान्न विरोधः।

अपि च, ज्ञानाग्निना दग्धकर्मणो न ज्ञानसामानाधिकरण्यम्, **''ज्ञानाग्निदग्धं कर्म न प्ररोहेत् कथञ्चन''**, **''क्षीयन्ते चास्य कर्माणि''** इत्याद्यागमवाक्यश्रवणात्। अत्र दग्धं कर्म कर्मक्षयो वा इत्यस्य स्वकार्यानुत्पादकत्वेन दग्धत्वं चित्रपटवद् भोगासमर्पितत्वमेवेति। अत एवोक्तमनुभवसूत्रे–

अद्वैतभक्तियुक्तस्य योगिनः सकलक्रिया।
अस्ति दग्धपटन्यायात् क्रियामात्रा तु न क्रिया[१]॥

अतो ज्ञानसामानाधिकरण्ये न च बाधः। एवं च– **''नह्युत्पन्नस्य कर्मारम्भो युक्तः''** इत्युक्तत्वात्। ज्ञानिनः करणीयं कर्म अस्ति न वेति प्रश्नः। अत्रोच्यते– ज्ञानिना वा अज्ञानिना वापि कर्म करणीयमेव। अन्यथा तस्यानिष्टनिवृत्तिः कथम्? न च वाच्यं ज्ञानिनो नास्त्यनिष्टमिति चेत्, तेनापि विभूतिरुद्राक्षधारणशिवप्रसादादिकं कर्म कर्तव्यमेव। अन्यथा लोकसङ्ग्रहो न भवति। लोकसङ्ग्रहो न भवति चेत्, तदा लौकिकानां विरुद्धाचारेण तज्जन्यपापलेपः स्यादेव ज्ञानिनः। अत एव भगवता कृष्णेनाप्युक्तम्–

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥

---

१. शिवानुभवसूत्रम्।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः[१] ।। इति ।

श्रीरेणुकभगवत्पादैरप्युक्तम्—

ज्ञानामृतेन तृप्तोऽपि योगी धर्मं (कर्म) न सन्त्यजेत् ।
आचारं महतां दृष्ट्वा प्रवर्तन्ते हि लौकिकाः ।। इति ।

अतो ज्ञानिनापि कर्म करणीयमेव[२] ।

श्रीकरभाष्यकृद्भिः श्रीपतिपण्डितैर्भाष्ये तृतीयाध्याये चतुर्थपादे विहिताधिकरणे कर्मज्ञानसमुच्चयविचार एवं प्रस्तूयते । तत्र सूत्रम्– "**सहकारित्वेन च**"[३] इति । "**विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह**", "**ब्रह्मवित् पुण्यकृच्च**", "**सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्**" इत्यादिषु धर्मब्रह्मोभयसहकारित्वेन मोक्षावगमाद् ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठानं सर्वेषामाश्रमिणां विधेयमिति ।

सकलशिवागमसारे श्रीसिद्धान्तशिखमणावपि ज्ञानकर्मसमसमुच्चयवाद एव अग्रेसरीकृतः । यथा हि—

प्रकाशते यथा नाग्निररण्यां मथनं विना ।
क्रियां विना तथान्तःस्थो न प्रकाशो भवेच्छिवः[४] ।।

अत्र क्रियायाः कारणेनैवान्तःस्थः शिवः प्रकाशत इत्युक्तम् । उदाहरणं तु 'नाग्निररण्यां मथनं विना' इति । एवं च मथनात्मकक्रियायाः शिवप्रकाशनकारणत्वमुक्तम् । अतोऽत्र कर्मणः प्राधान्यम् । एवमेव—

अन्धो यथा पुरःस्थानि वस्तूनि च न पश्यति ।
ज्ञानहीनस्तथा देही नात्मस्थं वीक्षते शिवम् ।।

अपि च—

दीपं विना यथा गेहे नान्धकारो निवर्तते ।
ज्ञानं विना तथा चित्ते मोहोऽपि न निवर्तते[५] ।।

---

१. भगवद्गीता, ३.२२, २३ ।
२. सिद्धान्तशिखामणिः O. R. I. मैसूर. परिच्छेदः २६ श्लोकः १०९२ ।
३. श्रीकरभाष्यम्- अ. ३ पा. ४. सू. ३३. अधि-विहिताधिकरणम् ।
४. सि. शि., परि. २६. श्लोकः २०२७ ।
५. तत्रैव, परि. २६. श्लोकः २०६७ ।

अत्र श्लोकद्वये ज्ञानस्यैव प्राधान्यमुक्तम्। अतः कर्मज्ञानौ परस्परसापेक्षे—

अन्धपङ्गुवदन्योन्यं सापेक्षे ज्ञानकर्मणी।
फलोत्पत्तौ विरक्तस्तु तस्मात्तद्द्वयमाचरेत्।।
न क्रियारहितं ज्ञानं न ज्ञानरहिता क्रिया।
अपश्यन् अन्धको दग्धोऽगच्छन् पङ्गुश्च दह्यते[१] ।।

अत्र तु क्रियारहितं ज्ञानं वा ज्ञानरहिता क्रिया वा न मुक्तिरूपफलोत्पत्तौ कारणम्। अतो ज्ञानकर्मणो अन्धपङ्गुवत् परस्परापेक्षे। अन्धस्य साहाय्यं विना पङ्गुः अग्निना दग्धो भवति तथा पङ्गुं विनान्धो गर्ते निपतति। अतोऽन्धस्य स्कन्धमारुह्य पङ्गुर्मार्गं निर्दिशति। अन्धः पङ्गुं वहन् गच्छति। तेन उभावपि सुरक्षितं स्थानं यातः। अत्र कर्मरहितं ज्ञानं पङ्गुवत्, तथा ज्ञानरहितं कर्म अन्ध इव। अपि च–

ज्ञानप्रधानं न तु कर्महीनं कर्मप्रधानं न तु चिद्विहीनम्।
तस्माद्द्वयोरेव भवेत् प्रसिद्धिर्न ह्येकपक्षो विहगः प्रयाति[२] ।।

कर्मज्ञाने पक्षिणः पक्षद्वयमिव। यथा पक्षी एकेन पक्षेणैव न प्रयाति, तथा समुच्चयव्यतिरेकेण ज्ञानराहित्यविशिष्टकर्मणा वा कर्माभावविशिष्टज्ञानेन वा न हि मुक्तिः। शिवयोगिशिवाचार्याः कर्मज्ञानोभयं "भावे" समरसं प्राप्नुयादिति निर्दिशन्ति। पारमेश्वरागमेऽपि कर्मज्ञानोभयं भक्त्या संयुज्येदिति पूर्वमेवात्रोक्तम्। सिद्धान्ते– भावो मानसचेष्टात्मा परिपूर्णः शिवाश्रय[३] इत्युक्तम्। कैश्चिदयमेव भक्तिरिति चाभिधीयते। भावोऽयं कर्मज्ञानयोर्मध्ये मणिरिवास्ति। यथा कर्म भावो ज्ञानम्। अत एव स्थलविवेचनसन्दर्भे आचार्यैरित्थमियं व्यवस्था कृता–

क्रियालिङ्गस्थलम् → भावलिङ्गस्थलम् ← ज्ञानलिङ्गस्थलम्।

क्रियागमस्थलम् → भावागमस्थलम् ← ज्ञानागमस्थलम्।

क्रियाचारस्थलम् → भावाचारस्थलम् ← ज्ञानाचारस्थलम्।

क्रियानिष्पत्तिस्थलम् → भावनिष्पत्तिस्थलम् ← ज्ञाननिष्पत्तिस्थलम्।

क्रियाप्रकाशस्थलम् → भावप्रकाशस्थलम् ← ज्ञानप्रकाशस्थलम्।

क्रियाशून्यस्थलम् → भावशून्यस्थलम् ← ज्ञानशून्यस्थलम्।

---

१. सि. शि., परि. २६. श्लोकः २०३२।
२. शिवागमः।
३. सि. शि., परि. २६. श्लोकः १०९४।

एवं कर्मभावज्ञानानि आगम-आचार-निष्पत्ति-प्रकाश-शून्यत्वेन क्रमविकासं प्राप्य लिङ्गसिद्धौ परिणमन्ते। भावहीनकर्मणा ज्ञानेन वा न फलोत्पत्तिः। यथा—

अर्थहीना यथा वाणी पतिहीना यथा सती।
श्रुतिहीना यथा बुद्धिः भावहीना तथा क्रिया।।
चक्षुर्हीनो यथा रूपं न किञ्चिदीक्षितुं क्षमः।
भावहीनस्तथा योगी शिवं द्रष्टुं न ईश्वरः[१] ।।

अस्यार्थस्तु स्फुट एव। तेन—

भावकर्मसमायुक्तं ज्ञानमेव विमुक्तिदम्।
शिवोऽहमिति भावोऽपि शिवतापत्तिकारणम्।।
न ज्ञानमात्रं नाचारो भावयुक्तः शिवो भवेत्[२] ।।

एतैः सहयोगं विना एकेन कर्मणा ज्ञानेन भावेन वा न सुखप्राप्तिः। यथोदाहरणम्— अत्र पक्वफलमेकमस्ति। तस्य रसास्वादस्तु फलमिदमिति ज्ञानेन वा, भुक्तं फलमिति कर्मणा वा केवलं भावेन वापि न लभ्यते। फलस्य रसानन्दप्राप्तिस्तु तस्य ज्ञाना-स्वादनक्रियाभावा मेलनेनैव भवति, तथैव शिवाद्वैतानन्दोऽपि शिवोऽहमिति ज्ञानेन, अर्चना-अर्पणध्यानजपादिभिः क्रियाभिः, शिवाश्रितशुद्धमानसचेष्टया च (भावेन) लभ्यते। अतः कर्मभावज्ञानसंयोगादेव मोक्षप्राप्तिरिति सिद्धान्तोऽत्र स्वीक्रियते।

इदमत्र सिद्धान्तरहस्यम्– वीरशैवसिद्धान्तः सकलोऽपि ज्ञानकर्मणोः समसमुच्चयात्मक एव। इदं च धर्मस्य त्रिष्वङ्गेषु स्फुटं दृश्यते। तथा हि वीरशैवधर्मस्याष्टावरणं पञ्चाचारः षट्स्थलं चेति त्रीण्यङ्गानि वचनागमेषु वर्णितानि।

अष्टावरणमपि बहिरष्टावरणमन्तरष्टावरणमिति द्विविधम्। बहिरष्टावरणं कर्म-प्रधानात्मकम्, अन्तरष्टावरणं ज्ञानस्वरूपभूतम्। तत्रापि गुरुलिङ्गजङ्गमाचरणे निजाचरणं तथा सम्बन्धाचरणमिति द्वयमस्ति। तत्र निजाचरणं नाम साक्षाद् यद्गुरोर्जङ्गमस्य वा पादोदकादिस्वीकरणम्। यदि गुरुजङ्गमौ न लभ्येते चेत्, स्वेष्टलिङ्गे गुरुजङ्गमभावनां कल्पयित्वा पादोदकादिस्वीकरणं सम्बन्धाचरणमिति कथ्यते। वीरशैवसिद्धान्तेऽर्पणतत्त्व-मतीव प्रमुखं स्थानं भजते। अर्पणं द्विविधम्—क्रियार्पणं ज्ञानार्पणं चेति। तत्रापि क्रियार्पणस्य ज्ञानार्पणस्य च समप्राधान्यमिति। क्रियार्पणं नाम स्वयं प्राप्तस्य पदार्थस्य

---

१. सि. शि., परि. २६. श्लो. १०४२-४३।
२. सि. शि., परि. २६ श्लो. २०३९।

रूपरुचितृप्तीनामिष्टप्राणभावलिङ्गेषु समर्पणम्। ज्ञानार्पणं च स्वयं प्राप्तस्य रूपरसगन्धाद्यात्मकस्य विषयस्य तत्तदिन्द्रियाधिष्ठितलिङ्गेषु समर्पणम्। अतोऽष्टावरणानि ज्ञानकर्मसमुच्चयात्मकानि। एवमेव पञ्चाचारा अपि ज्ञानक्रियात्मका एव। आचारशब्दः आङ्पूर्वकगतिभक्षणार्थकचर्धातोर्व्युत्पन्नः। ये गत्यर्थकास्ते ज्ञानार्थका इति वैयाकरणाः। ततश्चर्धातोर्ज्ञानं गमनमप्यर्थः। गमनं चात्र क्रियाविशेषः। अतः 'आचार'शब्द एव ज्ञानकर्मसमुच्चयात्मकः। अत एव—

भ्रमणं रेचनं स्यन्द ऊर्ध्वज्वलनमेव च।
तिर्य्यग्गमनमप्यत्र गमनादेव लभ्यते[१]॥

इत्यादिना कर्माणि पञ्चधा निरूपितानि। एतेऽर्था गमनादेव लभ्यन्ते। अतो गतिः कर्म। एवं च आचारशब्दो ज्ञानकर्मसमुच्चयात्मक इति न्यायवैशेषिकानामपि सम्मतम्। एवं च आचाराः पञ्च ज्ञानक्रियासमुच्चयात्मका इति सर्वतीर्थङ्कराणां सम्मतम्।

षट्स्थलाचारेषु भक्तो महेशः, प्रसादी प्राणलिङ्गी, शरणः, ऐक्यमिति सोपानरूपेण वर्तन्ते साधकाः। नैतावता साधकः पूर्वक्रमे सोपानीभूतस्थलानि परित्यजेदित्यर्थः। तदपरिहाय स्थलान्तरं गन्तव्यमिति वीरशैवसिद्धान्तरहस्यम्। सिद्ध्यनन्तरं च सिद्धो यत्र कुत्रापि षट्स्थलेष्वेकस्मिन् सर्वानन्यान् पञ्चान् उपसंहृत्य लिङ्गाङ्गसामरस्यं प्राप्तुं स अधिकारी भवति। तथा हि तोण्टदसिद्धलिङ्गेश्वरस्य वचनम्—

प्रथमदल्लि भक्तनादेनेम्बरु द्वितीयदल्लि महेश।
तृतीयदल्लि प्रसादी चतुर्थदल्लि प्राणलिङ्गी॥
पञ्चमदल्लि शरण षष्ठदल्लि ऐक्यनादेनेम्बरु।
आरूस्थलवमीरि निरवयस्थलवोन्दिनेम्बरु॥
इदु खण्डितषट्स्थलज्ञान निर्णयवल्ल।
आवास्थलवनङ्ग गोण्डरू आ स्थलदल्लि॥
षड्विधलिङ्गदल्लि बेरसि।
बेरिल्लदिरबल्लडे सद्भक्तनेम्बेनय्या॥
महालिङ्गगुरुशिवसिद्धेश्वरप्रभुवे[२] ॥ इति।

इदं पद्यजातं (वचनम्) कर्नाटकभाषायां वर्तते। अस्य चाभिप्राय इत्थमस्ति—

---

१. कारिकावली।

२. तोण्टदसिद्धलिङ्गेश्वरवचनम्, सं. ७।

आदौ भक्तः, द्वितीये महेशः, तृतीये प्रसादी, चतुर्थे प्राणलिङ्गी, पञ्चमे शरणः, अन्तिमे तु ऐक्यवानिति व्यपदिश्यते।

सप्तमं निरवयवस्थलमपि प्राप्ता वयमिति केचिद्वदन्ति, परन्त्विदं स्थलज्ञाननिर्णयत्वेन नाङ्गीकुर्मः। यस्तु सिद्धः पूर्वोक्तदिशा यस्मिन् कस्मिन् च स्थलेऽन्यानि स्थलान्युपसङ्गृह्य आचरन् वर्तते, स एव षट्स्थलज्ञानीति। तत्रापि प्रत्येकं प्रत्येकमपि पुनः षड्धा विभक्तो वर्तते। यथा हि– भक्तस्य भक्तः, भक्तस्य महेशः, भक्तस्य प्रसादी, भक्तस्य प्राणलिङ्गी, भक्तस्य शरणः, भक्तस्य ऐक्यवान् इति। तथैव महेशस्थलेऽपि महेशस्य महेशः, महेशस्य भक्तः, महेशस्य प्रसादी। सर्वेष्वप्येवमेव। एवं रीत्या शैवागमेष्ववान्तरस्थलानां व्यवस्था निरूपिता। षट्स्थलानामप्यादौ स्थलत्रयं कर्मप्रधानम्, अन्ते च स्थलत्रयं ज्ञानप्रधानमिति। सिद्धान्तशिखामणौ तदेवं निरूपितम्—

भक्तो माहेश्वरश्चैव प्रसादीति च कीर्तितः।
कर्मप्राधान्यमेवात्र ज्ञानयोगस्य कथ्यते[1] ।। इति।

एवं च शिवशक्त्योर्ज्ञानक्रियात्मकत्वेन सम्पुटीकरणं शास्त्रेषु बहुषु स्थलेषु दृश्यते। लिङ्गाङ्गसामरस्यमिति पदमप्यमुमेवार्थं वदति। लिङ्गमिति ज्ञानम्, तथा अङ्गमिति कर्मेति। तथा हि समग्रमपि वीरशैवदर्शनं ज्ञानकर्मणोः समसमुच्चयमेव वदतीत्यत्र न संशयलेशः। वीरशैवधर्मे पूर्वोक्तदिशा आचारशब्दो ज्ञानक्रियात्मक एव। अतः साधक आदेहपातमाचारवान् भवेदित्याचार्यस्य आदेशः। उक्तं च—

ज्ञानेनाचारयुक्तेन प्रसीदति महेश्वरः।
तस्मादाचारवान् ज्ञानी भवेदादेहपातनम् ।। इति।

अत्र शिवशास्त्रमेव परमं प्रमाणम्। तदुक्तं पारमेश्वरागमे—

यः शास्त्रविधिमुत्सृत्य वर्तते कामचारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।।
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं हि कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं तत्त्वं कुर्याद्गुरोर्मुखात्[2] ।। इति।



१. सि. शि., परि. २२ श्लोक ७०२ (८०२)।
२. पा. आ. स. प. श्लोक. २०४. २०६।

पारमेश्वरागमे ज्ञानकर्मसमन्वयः

डॉ. परड्डी मल्लिकार्जुनः
निवृत्तसंस्कृतप्राध्यापकः, क. वि. वि.

वन्दे हिमाद्रितनयाकरकण्ठमालं
गङ्गातरङ्गजलधौतजटाकलापम् ।
भोगापवर्गवरदं जगदेकपालं
सद्भक्तमानसमरालमनन्तलीलम् ।।
ज्ञानादेव तु कैवल्यमिदमद्वैतभाषितम् ।
कर्मजालं जगन्मूलमज्ञानाद् भवबन्धनम् ।।

अद्वैतवेदान्तवादिनां मते ज्ञानमेव कैवल्यसाधनम् । यदुक्तम्–ज्ञानादेव तु कैवल्यमिति । अज्ञानेन क्रियमाणं सर्वमपि कर्म भवबन्धकारणमिति तेषामभिप्रायः । अन्ततोगत्वा श्वासक्रियाप्यज्ञानमिति ते मन्यन्ते । ब्रह्मैव सत्यमिति मन्वाना जगन्मिथ्येति ज्ञात्वा जगदस्तित्वस्वीकारेण ज्ञानमेव शरणमिति ब्रुवन्ति । **"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः"** इति महावाक्यमत्रानुसन्धेयम् ।

किन्त्वल्पज्ञस्य जीवात्मनो ब्रह्मीभवनार्थं सर्वज्ञत्वादिब्रह्मसद्‌गुणसम्पादनेऽनुष्ठानरूपं कर्मानिवार्यं भवतीति वक्तुं शक्यते ।

सांख्यज्ञानैकनिष्ठत्वाद् योगानुष्ठानवर्जितम् ।
मुक्तिकान्तारतेर्भूयात् कथं परमकारणम् ।।

सच्चिदानन्दस्वरूपोऽयं पुरुषोऽज्ञानवशाद् दुःखानुभूतिं कुरुते । स्वरूपज्ञानेऽपवर्ग-प्राप्तिरिति सांख्यमतानुयायिनां मतम् । तादृशस्वरूपापादनं योगानुष्ठानेन विना न सुलभमिति सेश्वरसांख्यस्य योगस्याविर्भावोऽभवत् । आसनादियोगाङ्गानुष्ठाने आत्मस्वरूपज्ञानात् कैवल्यप्राप्तिरिति पातञ्जलयोगशास्त्रमतम् । उक्तं च महर्षिणा पतञ्जलिना—

१. 'योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः'' । (योगसूत्रम्, २/२८)

२. आसनसिद्धौ (स्थैर्ये) द्वन्द्वानभिघातः । (तत्रैव, २/४८)

३. प्राणायामप्रतिष्ठायां प्रकाशावरणक्षयः । (तत्रैव, २/५२)

४. धारणादिषु च योग्यता मनसः। (योगसूत्रम्, २/५३)

५. प्रत्याहारादिन्द्रियाणां वश्यता। (तत्रैव, २/५५)

इत्यादिक्रमेण क्रियाद्वारैव मोक्षप्राप्तिरिति योगविदामभिमतम्।

शिवोऽहमिति यज्ज्ञानं साधनामार्गवर्जितम्।
शिवैकया भावनाशून्यं भवेदेव न संशयः।।

तत्त्वमस्यादिमहावाक्यैर्गुरूपदिष्टैरहं ब्रह्मास्मि, शिवोऽहमिति केवलं ब्रह्मचिन्तनं तारकं न भवतीति सम्यगुपदिष्टम्। दीक्षात्रयसहायेन गुरुणा मलत्रयनाशे कृतेऽपि शुद्धे जीवात्माङ्गनाम्ना प्रसिद्धः सन् पञ्चाचारषट्स्थलमार्गाचरणेन विना लिङ्गाङ्गसामरस्यरूपं मोक्षं प्राप्तुमसमर्थ इति शिवयोगविदामभिप्रायः। शिवगुणप्राप्त्यैव शिवस्वरूपप्राप्तिस्तथा च शिवयोगसम्प्राप्तिरिति क्रमो यदि मन्यते, तत् शिवज्ञानेनैव सह क्रियामार्गस्याप्यावश्यकता वर्तते। अत एवोक्तम्—

फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम्।
न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति।। (मनुस्मृतिः, ६/६७)

अत एव ज्ञानमनुष्ठानशून्यं निरर्थकमित्याङ्ग्ललेखकेन यदुक्तं तदत्रानुसन्धेयम्–

''One may read all the books in the British museum, yet he may be illiterate''.

सुभाषितकारेणाप्युक्तम्—

पुस्तकस्था तु या विद्या परहस्तगतं धनम्।
कार्यकाले समुत्पन्ने न सा विद्या न तद् धनम्।।

अयमेवाशयः स्वात्मारामेण प्रकटितः—

क्रियायुक्तस्य सिद्धिः स्यादक्रियस्य कथं भवेत्।
न शास्त्रपाठमात्रेण योगसिद्धिः प्रजायते।।

(हठप्रदीपिका, १/६५)

सर्वज्ञतामुख्यगुणोपपन्नं
शिवस्वरूपं शिवयोगलभ्यम्।
सम्प्राप्तुमिच्छन् शरणं प्रपन्नः
लिङ्गोपचारक्रियया समेतः।।

किञ्चिज्ज्ञो जीवात्मा परमात्मनः सर्वज्ञत्वादिसद्गुणगणप्राप्त्यै सदा प्रयत्नशीलो भवतु। अन्यथा शिवसायुज्यलाभः कथं भवति। षट्स्थलात्मैव जीवात्मा क्रमशोऽध्यात्मक्षेत्रे

प्रगतिमासाद्य मुक्तिकान्तालिङ्गनसन्तुष्टो भवितुमर्हति। दिनचर्यारूपोऽयं षट्स्थलसिद्धान्तः साधकविकासहेतुर्भवति। उक्तं च सुभाषितकारेण–

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः।
किं नु मे पशुभिस्तुल्यं किं नु सत्पुरुषैरिति॥ इति।

सत्क्रियारहितं ज्ञानं दम्भाचाराभिधानवत् **"अगच्छन् वैनतेयोऽपि पदमेकं न गच्छति"** इति सुभाषितानुसारेण क्रियाविहीनो विवेकी ज्ञानवान्नरः सिद्धिभाजनं कथं भवेत्? उक्तं च स्वात्मारामेण—

न वेषधारणं सिद्धेः कारणं न च तत्कथा।
क्रियैव कारणं सिद्धेः सत्यमेतन्न संशयः॥

(हठप्रदीपिका, १/६६)

सदसद्विवेकसम्पन्नः सदाचारप्रभावतः।
लोकबन्धो भवेन्नित्यं जीवन्मुक्तो न संशयः॥

आगमोक्तिरेकात्रानुसन्धेया—

ज्ञानेनाचारयुक्तेन प्रसीदति महेश्वरः।
तस्मादाचारवान् योगी भवेदादेहपातनम्॥

(चन्द्रज्ञानागमः, क्रियापादः, ९/१२)

शिवयोगिशिवाचार्येणाप्ययमेवाशयो निरूपितः—

ज्ञानामृतेन तृप्तोऽपि योगी धर्मं न सन्त्यजेत्।
आचारं महतां दृष्ट्वा प्रवर्तन्ते हि लौकिकाः॥

(सिद्धान्तशिखामणिः, ४/६५)

करणखण्डनं देहदण्डनं विना स्वर्गप्राप्तिरसम्भवेति कर्नाटकभाषाकविवरेण्येन सर्वज्ञेन यदुक्तं तदप्यत्र स्मरणीयम्। कृतकृत्योऽपि ज्ञानी सामान्यजनोपकारायाचारं न त्यजेदिति गीतायामप्युक्तम्—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ (गीता, ३/२१)

इष्टलिङ्गादिपूजार्थं यद्धनं भक्तवाञ्छितम्।
धर्ममार्गेण सम्पाद्य सत्क्रिया तत्र कारणम्॥

शिवलिङ्गादिपूजार्थं शिवनामादिकीर्तनार्थं च क्रियापि साधनम्, न केवलं ज्ञानमिति वक्तुं शक्यते। उक्तं चात्र–

त्रिकालमर्चयेल्लिङ्गं शिवपञ्चाक्षरं जपन् ।
कीर्तयन् शिवनामानि शिवोऽहमिति भावयन् ।।

(पारमेश्वरागमः, ८/९०)

लिङ्गपूजोपचारार्थं धर्मार्जितवित्तावश्यकता भवतीतिसुव्यक्तम् । सदाचारनिरूपणावसरे एतदेव सूचितम्—

धर्मार्जितेन वित्तेन यत्सन्तर्पणमन्वहम् ।
गुरुजङ्गमलिङ्गानां सदाचारः स उच्यते ।।

(चन्द्रज्ञानागमः, १/६)

पक्षद्वयसहायेन खेचराणां गतिर्यथा ।
ज्ञानक्रियाबलोपेतो मोक्षलाभयुतस्तथा ।।

पक्षैकहीनो खेचरो यथा खेचरतां विहाय भूशायी भवति, तथा ज्ञानक्रिययोरेकतो हीनो नरः सिद्धिं न लभते । उक्तं चात्र—

उभाभ्यामपि पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः ।
तथैव ज्ञानकर्मभ्यां प्राप्यते ब्रह्म शाश्वतम् ।।

(लघुहारीतः, ७/१०/२)

यद्यपि शिवागमोक्तिर्ज्ञानमाहात्म्यं निरूपयति, तथापि क्रियाविहीनश्चेत्, मुक्तिमार्गबहिष्कृतः—

नास्ति ज्ञानात्परं मित्रं न भक्तेः साधनं परम् ।

(पारमेश्वरागमः, १०/९०)

लिङ्गदीक्षात्रयोपात्तलिङ्गयोगोऽपि साधकः ।
अनुष्ठानविहीनश्चेत् कथं मुक्तिमवाप्नुयात् ।।

अनाथादिभरणमपि क्रियांशमेतमेव–

साक्षान्मद्रूपमीशानि शयनासनभोजनम् ।
अनाथं रोगिणं दीनं मूकं बधिरमेव च ।
पङ्गुं मूढं दुराचारं नावमन्येत लिङ्गिनम् ।।

(पारमेश्वरागमः,५/८८.९०)

भ्रमरकीटन्यायानुसारं भ्रमराक्रमणभीत्या भ्रमरध्यानपरः कीटो यथा भ्रमरतां याति, तथा मानवः शिवयोगेन शिवो भवति, नान्यथा ।

कीटो भ्रमरतां याति भ्रमराक्रमणभीतितः ।
तद्ध्यानं तु क्रियैव स्यात् कैवल्यं कथमन्यथा ।।

उक्तं चात्र—

गुरुदीक्षापरिप्राप्तशिवलिङ्गाङ्गयोगतः ।
द्विरेफकीटन्यायेन शिवैक्यं प्राप्तवान् द्विजः ।।

(मुकुटागमः, ७/३)

सत्यशुद्धक्रियाशक्तिर्भक्तानां मुक्तिदायिनीति विषयो नास्ति मतभेदः। इयमेव शक्ति'कायक'नाम्ना शिवशरणैरुदाहृता।

तदेतत्कायकं नाम्ना शिवशरणविश्रुतम् ।
यत्तु याचकनिर्मुक्तसमाजनिर्मितिक्षमम् ।।
येन कोऽपि न स्याद्दीनो नापि धूर्तो न वञ्चकः ।
सर्वोदयैकनिष्ठेऽस्मिन् समाजे सत्त्वशालिनि ।।
शैवागमादिसद्ग्रन्थनिरूपणविचारणात् ।
ज्ञानकर्मद्वयोपेता हि भक्तिर्मुक्तिसाधनम् ।।

ज्ञानादित्रिवर्गप्राप्तिरेव मुक्तिहेतुरित्यत्र विषये प्रमाणम्।

कर्मभक्तिचिदात्मानस्त्वधिकारास्त्रयः स्फुटाः ।।

(पारमेश्वरागमः, २२/६४)

ज्ञानक्रियासमन्वयादेव वीरशैवमतं विश्वमान्यं भवितुमर्हति। इदं वीरशैववैशिष्ट्यम्—

वर्णपाशविमोचनं धनिकप्रभावनिवारणं
साक्षराधमराक्षसादिनिवारणं मितभाषणम् ।
धर्मजीविपरोपजीवननाशनं भयनाशनं
विश्वमङ्गलकामनं भुवि वीरशैवरसायनम् ।।

अत एव पारमेश्वरागमोक्तिरियं नातिशयोक्तिः—

न वीरशैवसदृशं मतमस्ति जगत्त्रये ।
सर्वभोगप्रदं पुण्यं शिवसायुज्यदायकम् ।। इति।

(पारमेश्वरागमः, १२/१२)

•

पारमेश्वरागम में निरूपित षट्स्थल का स्वरूप

षण्मुखय्य अक्कूरमठ

प्रस्तावना

षट्स्थल सिद्धान्त वीरशैव धर्म का अनुपम योगदान है। भारतीय तत्त्वशास्त्र में यह विशेष एवं उल्लेखनीय बात है। इसमें साधक का आध्यात्मिक साधन का सार है। इसमें तात्त्विक सिद्धान्त एवं आचरण दोनों समाहित हैं। षट्स्थल का उद्गम आगम में पाया जाता है। वीरशैव धर्म में अष्टावरण अङ्ग है, पञ्चाचार प्राण हैं तथा षट्स्थल को आत्मा का स्थान दिया गया है। षट्स्थल एक सिद्धान्त होने के साथ एक दर्शन भी है। यह अध्यात्म-साधक का साधन-पथ है। यह शिवयोग का पथ भी है। लिङ्गाङ्ग-सामरस्य अथवा जीवात्मा-परमात्मा दोनों का सामरस्य साधन है। सरल रूप में कहना हो, तो षट्स्थल में छ: सोपान (Six Stages) हैं। ये साधक के सोपान माने जाते हैं। वह कदम-कदम पर आगे बढ़ते मुक्ति पाता है।

स्थल शब्द का विवेचन

स्थल शब्द का शाब्दिक अर्थ होता है 'स्थान'। किन्तु वीरशैव धर्म की पारिभाषिक शब्दावली के अनुसार इसका अर्थ है 'परशिव'। परशिव उस महास्थल का आधार है, जिसमें सृष्टि का विकास होता है। इसके अलावा सृष्टि की स्थिति तथा लय होकर सृष्टि पुन: उसी में समा जाती है। अनुभवसूत्र के अनुसार–

सर्वेषां स्थानभूतत्वाल्लयभूतत्वतस्ततः।
तत्त्वानां महदादीनां स्थलमित्यभिधीयते।।
स्थकारः स्थानवाची स्याल्लकारो लयवाचकः।
तयोः कारणभूतं यत्तदेव स्थलमुच्यते।।

सभी तत्त्वों की स्थिति और लय स्थान होने के कारण परब्रह्म, परशिव, परतत्त्व को 'स्थल' कहते हैं। ऊपर उल्लिखित पंक्तियों में स्थल का अर्थ सुस्पष्ट है। स्थल की विशेषता यह भी है कि सभी आत्माएँ मुक्ति प्राप्त कर, उसी में समाहित हो जाती हैं।

यह चरम आधार (Ultimate Substratum) है। चरम आधार होने के कारण परतत्त्व ही 'स्थल' है।

अङ्ग और लिङ्ग की परिकल्पना

यह कहना कठिन है कि विश्व की रचना कोई किसी हेतु से, कोई किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हुई हो। यदि कोई ऐसा सोचता है, तो यह कल्पना मात्र है। परमेश्वर पूर्ण आनन्दमय है। यह सृष्टि उनके लिए एक खेल, कौतुक या लीलामात्र है। ब्रह्मसूत्रों में कहा गया है कि **"लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्"**। शक्तिविशिष्टाद्वैत का भी यही मत है। शिव ने अपने विनोद के लिए सृष्टि की रचना की। आत्मा का सुख-दुःख दोनों का अनुभव करना भी स्वयं शिव के विनोद का ही कारण है। परशिव की लीला की इच्छा से तथा उनकी अपनी ताकत के क्षोभमात्र से ये दो भागों में बँट जाते हैं (शिवाद्वैतदर्पणानुसार)।

स्वशक्तिक्षोभमात्रेण स्थलं तद् द्विविधं भवेत्।
एकं लिङ्गस्थलं प्रोक्तमन्यदङ्गस्थलं स्मृतम्।।

अपनी शक्ति के क्षोभमात्र से वह स्थल द्विविध हो जाता है। एक का नाम होता है लिङ्गस्थल तथा दूसरे का नाम अङ्गस्थल। वीरशैव धर्म लिङ्ग से आरम्भ होकर लिङ्गाङ्ग सामरस्य का आदर्श इसकी अन्तिम सीमा होती है। वीरशैव केवल शरीर पर लिङ्गधारण करने मात्र से नहीं, बल्कि प्रमुखतः लिङ्गमय धर्म को धारण करने के कारण होता है। अनुभवसूत्र के अनुसार लिङ्ग का शाब्दिक अर्थ यह है–

लीयते गम्यते यत्र तत् सर्वं चराचरम्।
तदेतत् लिङ्गमित्युक्तं लिङ्गतत्त्वपरायणैः।।

मतलब, जहाँ सम्पूर्ण चराचर जगत् का लय हो जाता है,वही लिङ्ग कहलाता है। सभी प्राणियों के लिए, यानी गति का हेतु होने के कारण साकार-निराकार शिव को लिङ्ग कहा जाता है। इसमें साकार-निराकार शब्द का इसलिए उल्लेख किया गया है कि यद्यपि ईश्वर निराकार तो है, परन्तु इष्टलिङ्ग के रूप में वह साकार है। इष्टलिङ्ग का कोई विशेष आकार नहीं होने के कारण वह निराकार भी है। जीव जगत् में हर एक प्रत्येक जीवी से यही आशा की जाती है कि वह सांसारिक बन्धनों से छूटने की ओर प्रवृत्त होगा। अङ्ग और जीव शब्दों को एक ही अर्थ में प्रवृत्त किया जाता है। लेकिन वास्तव में जीव जब लिङ्ग का उपासक बन जाता है, तब ही वह अङ्ग बन जाता है। शिव असीम व पवित्र शक्ति से युक्त है। जीव शिव स्वयं है, पर उसकी शक्ति सीमित

है। इस प्रकार शिव और जीव दोनों एक ही हैं। पर परब्रह्म की लीला एक विशेष समय के लिए एक-दूसरे से पृथक् कर देती है। वीरशैव धर्म अङ्ग (जीव) के लिङ्ग के जरिये शिव के समीप लां देता है। जीव शक्ति से युक्त स्वयं शिव है। उसे सीमाओं से मुक्त होकर पुन: शिव बनना है। ऐसा हो जाने के उपरान्त 'स्थल' अङ्ग एवं लिङ्ग दो भागों में बँट जाने के कारण अनायास ही शक्ति भी दो भागों में बँट जाती है। वे हैं कला और भक्ति। अनुभवसूत्र के अनुसार–

यथा स्थलं द्विधा भूतं तथा शक्तिर्द्विधा भवेत्।
शक्तिरप्रतिमा साक्षाच्छिवेन सहधर्मिणी।।

शक्ति और भक्ति का स्वरूप

जिस तरह एक बड़ी ज्वाला छोटी सी दीपिका की आकृति में विभक्त हो जाती है, उसी तरह माहेश्वरी शक्ति भक्ति के रूप में विभक्त हो जाती है। शक्ति वासनायुक्त है और भक्ति निर्वासनायुक्त है। पारमार्थ निरूपण में शक्ति और भक्ति में कोई भेद नहीं है। शक्ति प्रवृत्ति है, तो भक्ति निवृत्ति है। सृष्टि की वृद्धि शक्ति का स्वाभाविक गुणविशेष है। आत्मा के प्रपञ्च की वासना मायारहित है। फिर भी तर्क प्रमाण से देखा जाय, तो शक्ति की गुणविशेष भक्ति गुणों से अधिक है। शक्ति उपास्यत्व है, तो भक्ति उपासकत्व है। इसीलिए शक्ति लिङ्गस्थल में और भक्ति अङ्गस्थल में स्थित है। साक्षात् शिव लिङ्गस्थल और जीव अङ्गस्थल बनता है। लिङ्गाङ्ग का ऐक्य शिवजीवैक्य ही है।

लिङ्गाङ्गस्वरूप और सामरस्य

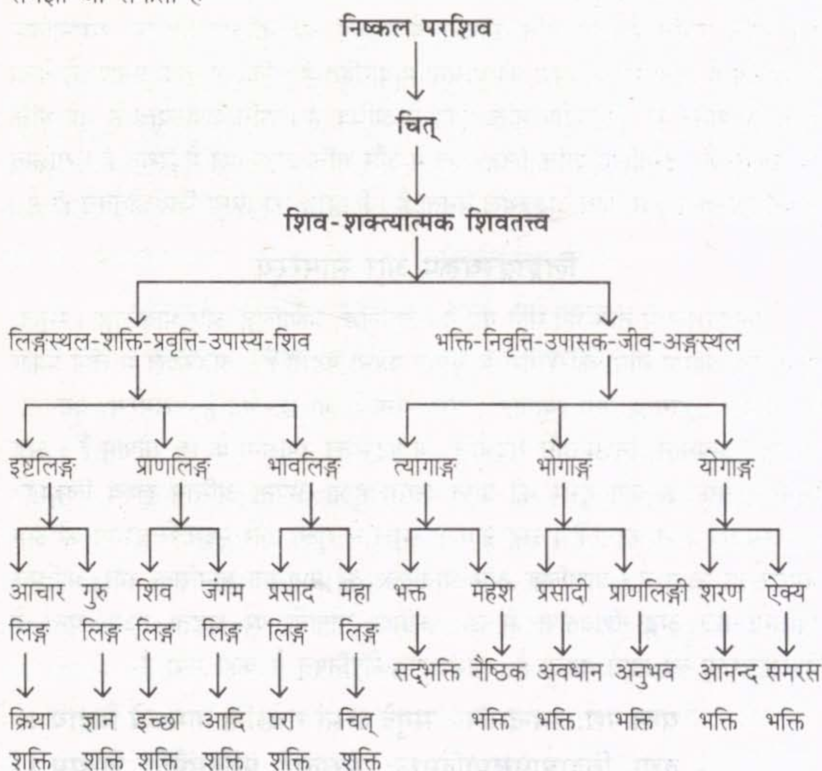
लिङ्गस्थल में तीन भेद माने गये हैं– इष्टलिङ्ग, प्राणलिङ्ग और भावलिङ्ग। स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण तीनों को शरीरों में धारण करना पड़ता है। अङ्गस्थल में तीन प्रकार हैं– योगाङ्ग, भोगाङ्ग तथा त्यागाङ्ग। वैसे भक्ति में भी छ: भेद हैं– समरस, आनन्द, अनुभव, अवधान, निष्ठा और सद्भक्ति, ये षट्स्थल उपासना के छ: सोपान हैं। अङ्ग इनमें से एक के बाद दूसरे को प्राप्त करता हुआ अपना अन्तिम लक्ष्य लिङ्गाङ्ग-सामरस्य को प्राप्त करता है। अङ्ग क्रमश: स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्म से कारण की ओर अग्रसर हो जाता है। प्राणलिङ्ग और भावलिङ्ग की उपासना मानसिक और आत्मिक उपासना है। अङ्ग शिवकृपा से उन क्रमिक सोपानों पर चढ़ता हुआ अन्त में शिवसामरस्य को प्राप्त करता है। जैसे मुण्डकोपनिषत् में कहा गया है–

यथा नद्य: स्यन्दमाना: समुद्रे अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्त: परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।।

जिस प्रकार समुद्र में जाकर नदियाँ अपने नाम-रूप को छोड़ उसके साथ एक हो जाती हैं, उसी प्रकार मुक्त आत्माएँ अपने नाम-रूप को छोडकर परशिव के साथ समरस हो जाती हैं।

जले जलमिव न्यस्तं वह्नौ वह्निरिवार्पितम्।
परे ब्रह्मणि लीनात्मा विभागेन न दृश्यते।।

पानी में पानी के साथ मिल जुल जाने की तरह या आग के साथ आग के मिल जाने की भाँति आत्मा परमात्मा में विलीन हो जाता है। छः सोपानों द्वारा आत्मा अपने अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त कर परमात्म-स्वरूप बन जाता है। अङ्ग यद्यपि शिव का एक अङ्ग और उसी का स्वरूप है, पर अज्ञान के कारण पृथक् हो जाता है। अन्त में लिङ्गैक्य में अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान कर पूर्ण सामरस्य में मग्न हो जाता है। इसी अवस्था को शिवसामरस्य, शिवजीवैक्य, लिङ्गाङ्गसामरस्य, लिङ्गैक्य आदि शब्दों से व्यक्त किया जाता है। इस सम्पूर्ण विषय को इस तालिका की सहायता से समझा जा सकता है–



पारमेश्वरागम में निरूपित षट्स्थल का स्वरूप

शिवागमों में पारमेश्वरागम का विशिष्ट स्थान है। इसमें वीरशैव सिद्धान्त और तत्त्वों का विस्तारपूर्वक विवरण मिलता है। इस आगम के छठें पटल में षट्स्थलों का स्वरूप प्रदर्शित है। स्वयं परमात्मा षट्स्थलों का स्वरूप धारण कर लेता है। इसको देखा जाय, तो यहाँ क्रमशः भक्त, माहेश्वर, प्रसादी, प्राणलिङ्गी, शरण तथा ऐक्य नामक छः स्थलों के स्वरूप को विस्तार से बताकर इनके ज्ञान की महिमा निरूपित की गई है। आगे चलकर महेश्वर के सर्वज्ञता आदि छः अङ्गों की षड्विध स्थलों में योजना के प्रकार को भी सूचित कर भक्ति, कर्मक्षय, बुद्धि, विचार, दर्पक्षय और सम्यक् ज्ञान नामक षड्विध उपाङ्गों के लक्षण बताये गये हैं। इतना ही नहीं, समस्त अङ्गों और उपाङ्गों के परस्पर सम्बन्धों को प्रसङ्गवश षड्विध ऊर्मियों और अरिषड्वर्ग का भी विस्तृत विवरण दिया गया है। इन सभी विषयों का जिस किसी को सम्यक् ज्ञान है, उसको मुक्ति हाथ में ही आ जाती है। अङ्गों और उपाङ्गों को इस आगम में शिवस्वरूप माना गया है। अब हम इन सभी का विवरण देखेंगे–

भक्तो माहेश्वरश्चैव प्रसादी प्राणलिङ्गकः।
शरणः शिवलिङ्गैक्यः स्थलषट्कं मम प्रियम्।।

(पा. आ. ६.८)

इस आगम में चेतावनी के रूप में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जो व्यक्ति शिवभक्ति से रहित, दुराचार में निरत और नास्तिक हैं, ऐसे व्यक्ति को षट्स्थल का उपदेश कदापि नही देना चाहिये। वीरशैव दीक्षा एक कल्पवृक्ष है। षट्स्थल तत्फल माना जाता है। इतना ही नहीं भक्त, महेश, प्रसादी, प्राणलिङ्गी, शरण और शिवैक्य जैसे छः स्थल प्रमुख रूप से मुक्ति के साधन माने जाते हैं। अब हम देखेंगे कि प्रत्येक स्थल की विशेषता क्या है ?

१. भक्तस्थल

गुरौ च जङ्गमे लिङ्गे तारतम्यविशेषतः।
पूज्येत् त्रिविधं रूपं तद्भक्तस्थलमुच्यते।।

(पा. आ. ६.९)

उपर्युक्त उक्ति में कहा गया है कि गुरु, जङ्गम तथा इष्टलिङ्ग तीनों में परशिव का रूप तरतमभाव से विद्यमान है। इस त्रिविध रूप की जो भी पूजा करता है, वही भक्तस्थल नाम से प्रसिद्ध होता है। भक्तस्थल पृथ्वीतत्त्व का प्रतिनिधि भी है। इसका

मतलब है कि गुरु-लिङ्ग-जङ्गम की समान भाव से श्रद्धा-भक्ति के साथ आराधना, पूजा करता है, वही भक्तस्थल का स्वरूप है। यही वीरशैव धर्म में आराध्य माना गया है। इनमें श्रद्धा रखना ही भक्तस्थल का प्रमुख लक्षण है।

२. माहेश्वरस्थल

यो गुरूक्तेन मार्गेण लिङ्गपूजारतः सदा।
जङ्गमानर्चयेच्छक्त्या स हि माहेश्वरः स्मृतः।।

(पा. आ. ६.१३)

जो साधक गुरु द्वारा उपदिष्ट मार्ग से सदा इष्टलिङ्ग की पूजा में लीन रहता है तथा अपनी शक्ति के अनुसार जङ्गमों की पूजा करता है, तीनों कालों में इष्टलिङ्ग की पूजा में निरत है, भक्तों के प्रति भक्तिभाव से आदर करता है, वीरशैव मत में उल्लिखित आदर्शों का पूरी तरह से पालन करता है, वही माहेश्वर कहलाता है। आचारों के पालन तथा जङ्गमों के पूजन में जो साधक निष्ठापूर्वक लगा हुआ है, उसे ही निस्सन्देह माहेश्वरस्थल कहते हैं। माहेश्वरस्थल जलतत्त्व का प्रतिनिधित्व करता है (पा.आ. १३.१६)।

३. प्रसादिस्थल

योऽनर्पितं महेशानि नार्चयित्वापि जङ्गमान्।
नाश्नाति न त्यजेन्मह्यमर्पितं कृच्छ्रगोऽपि वा।।

(पा. आ. ६.१७)

जो साधक भगवान् को समर्पित किये बिना, जङ्गमों की पूजा किये बिना, भारी सङ्कट आने पर भी भोजन नहीं करता तथा भोजन को भगवान् को समर्पित किये बिना भोजन नहीं करता, उसे प्रसादी कहते हैं। यह स्थल अग्नितत्त्व स्वरूप है।

४. प्राणलिङ्गस्थल

यथा प्राणे तथा लिङ्गे यथा लिङ्गे तथा शिवे।
प्राणलिङ्गशिवेष्वेकबुद्धिमान् प्राणलिङ्गकः।।

(पा. आ. ६.२०)

इस स्थल में साधक इष्टलिङ्ग, प्राणलिङ्ग तथा शिव में समान बुद्धि रखकर साधना करता है। उसी को प्राणलिङ्ग कहा जाता है। प्राणलिङ्गी वायुतत्त्व का स्वरूप है।

५. शरणस्थल

एषणात्रयनिर्मुक्तो नित्यमेकान्तसेवनः ।
मम ध्यानरतो नित्यं शरणः परिकीर्तितः ।।

(पा. आ. ६.२३)

शरणस्थल में पुत्रकामना, धनकामना तथा प्रतिष्ठा कामनाओं में जो साधक मुक्त है, हमेशा एकान्त में रहते हुये भगवान् में मन लगाकर ध्यानासक्त रहता है, वह शरण कहलाता है। यह शरण आकाशतत्त्व का स्वरूप है।

६. शिवलिङ्गैक्यस्थल

न पूजा नैव च ध्यानं न योगकरणादिकम् ।
अहन्ताभावनाधीरः शिवलिङ्गैक्यसंज्ञकः ।।

(पा. आ. ६.२६)

भगवान् के सिवाय और कुछ भी नहीं है, इस दुनिया में इस दृढ भावना, सङ्कल्प से जो इनसान लीन होता है, वह शिवैक्य कहलाता है। परशिव या शिवलिङ्ग के साथ समस्त स्थिति को प्राप्त साधक ही ऐक्यस्थल कहलाता है। शिवैक्य साक्षी तत्त्व का स्वरूप है। मतलब स्पष्ट है कि शिवैक्य प्राप्त शिवयोगी साक्षात् शिवस्वरूप है। इस प्रकार जो साधक षट्स्थल को मानकर साधना करता है, वह व्यक्ति जन्म तथा संसार के सभी बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

षट्स्थल के अतिरिक्त पारमेश्वरागम में माहेश्वर के छः अङ्ग बतलाये गये हैं। जैसे- सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादिबोध, स्वतन्त्रता, सदा अलुप्त शक्ति तथा अनन्त शक्ति। एक पल के लिए इन सभी अङ्गों की विशेषता को यहाँ पर देखेंगे—

१. भक्तिस्थल का साधक शिव का सर्वज्ञता नामक अङ्ग है।
२. माहेश्वर का साधक शिव का तृप्ति नामक अङ्ग कहलाता है।
३. प्रसादी नाम का साधक शिव का अनादि या निरङ्कुश नामक बोध है।
४. प्राणलिङ्गी स्थल के साधक को स्वतन्त्र नामक अङ्ग कहते हैं।
५. शरणस्थल साधक को अलुप्त शक्ति नामक अङ्ग कहते हैं।
६. ऐक्य के साधक को अनन्त नामक शक्ति कहते हैं।

उपर्युक्त छः स्थलों को अङ्गस्थल कहते हैं। ये सब पाँच ज्ञानेन्द्रिय और मन के प्रतिनिधि कहलाते हैं। जो साधक इन सभी छः अङ्गस्थलों का ज्ञान सद्गुरु के उपदेश द्वारा प्राप्त करता है, वह साक्षात् परशिवस्वरूप हो जाता है। जिस किसी को इस

अङ्गाङ्गी भाव का बोध नहीं है, उस व्यक्ति को मुक्ति कदापि नहीं मिलेगी। (पा.आ. ६.३१-३९)

पारमेश्वरागम में छः अङ्गों के अतिरिक्त भक्ति आदि के रूप में परमपद (मोक्ष या मुक्ति) देने वाले छः उपाङ्ग (Sub-Division) भी वर्णित हैं। जैसे– भक्ति, कर्मक्षय, बुद्धि, विचार, दर्पनाश एवं सम्यग् ज्ञान। अब हम एक पल के लिए इनके बारे में देखेंगे (पा.आ. ६.४२)।

१. भक्ति

जब ईश्वर के प्रति परिशुद्ध भावना प्रकट हो जाती है, वही सद्‌भक्ति है। शिवभक्त के लिए भक्ति ही माता तथा पिता हैं। उसके लिए भक्ति कामधेनु और कल्पवृक्ष है। भक्ति भावना से रहित व्यक्ति के सारे प्रयत्न इसी तरह निष्फल हो जाते हैं, जिस तरह मङ्गलसूत्र मात्र नहीं धारण करने से विधवा। ऐसे व्यक्ति की भक्ति भी फलवती नहीं हो सकती। (पा.आ. ६.४६-४७)

२. कर्मक्षय

पूर्व जन्मों के कर्मों को तथा वर्तमान जन्म में किये जानेवाले कर्मों को भी भक्ति की शक्ति नष्ट कर देती है। (६.४८)

३. बुद्धि

कर्मक्षय हो जाने पर मनुष्य की बुद्धि निर्मल हो जाती है, विषयों की ओर उन्मुख न होते हुये परमात्मा में स्थिर हो जाती है। जिस तरह भ्रमर का गुञ्जन सुनकर साधारण कीट स्वयं भ्रमर बन जाता है, उसी तरह शिव का ध्यान करने वाले जीव स्वयं शिव बन जाते हैं। इसको भ्रमर-कीट न्याय भी कहते हैं। साधक की जब निर्मल बुद्धि नहीं रहती, विषय सुख में मग्न होकर क्रोध एवं मोह के कारण उसकी स्मृति भ्रष्ट हो जाती है। स्मृति नष्ट होने की स्थिति में उसकी मति मारी जाती है। इतना ही नहीं वह स्वयं भी नष्ट हो जाता है। (६.४९-५३)

४. विचार

जो साधक शुद्ध बुद्धि से गुरु के उपदेशानुसार चलते हुये अहितों का निश्चित ज्ञान प्राप्त करता है, उसी को विचार कहा जाता है। उसके अन्य विषयों पर विचार करने से कोई भी प्रयोजन नहीं रहता। (६.५४-५५)

५. दर्पनाश

जब साधक गुरु के उपदेश द्वारा शास्त्रों का मनन कर, समस्त भूतों का हित कर

अपने स्वरूप को जान लेता है, तो अनायास ही उसके दर्प का नाश हो जाता है। (६.५६)

६. सम्यग् ज्ञान

जब साधक का अहङ्कार नष्ट हो जाता है, वह शिवज्ञान में लीन हो जाता है, समस्त प्राणियों को शिव के रूप में देखता है। अपने आप में प्राणियों में एकता का दर्शन करने वाला ही सम्यग् ज्ञानी कहलाता है। (६.५७-५८)

पारमेश्वरागम में छः स्थलों के अलावा छः प्रकार के अङ्ग तथा छः प्रकार के उपाङ्ग भी हैं। ये परस्पर जुड़े हुये हैं और इनमें आपस में सम्बन्ध भी है। जैसे सर्वज्ञता ही भक्ति है। तृप्ति ही कर्मक्षय है। अनादि बोध ही बुद्धि है। स्वतन्त्रता ही विचार है। अलुप्त शक्ति ही गर्वक्षय है तथा अनन्त शक्ति ही सम्यग् ज्ञान है। अङ्ग और उपाङ्ग के रूप में साधक (शिवयोगी) षट्स्थल सिद्धान्त को जानता है। वह स्वयं शिवस्वरूप है। भक्ति आदि छः, सर्वज्ञता आदि छः, भक्ति आदि छः ये सभी दो हाथ, दो पैर, शिर और शरीर हैं। इस तरह से भगवान् शिव के अथवा भक्त के अङ्गों के रूप में जाने जाते हैं। ये षट्स्थल के विराट् स्वरूप माने जाते हैं। सद्गुरु के द्वारा इस ज्ञान को प्राप्त करना आवश्यक है। तब साधक छः प्रकार की ऊर्मियों से तथा अरि षड्वर्गों से मुक्त हो जाता है। इतना ही नहीं, अपनी सद्बुद्धि से अहङ्कार को त्याग कर साक्षात् शिव बनने के साथ ही साथ वह मुक्त भी हो जाता है।

षडूर्मियाँ

भूख, प्यास, शोक, मोह, जन्म तथा मरण– ये छः संसाररूपी समुद्र की ऊर्मियाँ हैं। जिस तरह से समुद्र में लहरें निरन्तर उठती ही रहती हैं, उसी तरह संसारी जीवी को ये छः ऊर्मियाँ सदा ही सताती रहती हैं। क्षुधा तथा पिपासा के प्राण तथा शोक, मोह तथा मत्सर मन के तथा जन्म और मरण देह के धर्म हैं। (पा.आ. ६.६७)

इनके स्वभाव बिलकुल समुद्र की लहरों के जैसा है। यही कारण है कि इनको भी ऊर्मि नाम दिया गया है। ये मनुष्य को सदा दुःख देती रहती हैं। इस कार्य में अरिषड्वर्ग इनको परोक्ष रूप से सहायता करता रहता है। (पा.आ. ६.६८-७०)

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा मात्सर्य ये सभी अरिषड्वर्ग कहलाते हैं। ये मनुष्य के शत्रु हैं। सहज ही मनुष्य को हानि पहुँचाते हैं। इसीलिए इनको अरि (वैरी) षड्वर्ग कहा गया है। जो साधक छः ऊर्मियों के साथ अरिषड्वर्गों पर विजय प्राप्त कर लेता है, तो मुक्त हो जाता है। भक्त आदि छः अङ्गों से लेकर (षट्स्थल) सम्यग्, ज्ञान

पर्यन्त उपाङ्गों में उत्तरोत्तर श्रेष्ठता मानी जाती है। पूर्व का स्थल साधन और उत्तरोत्तर स्थल साध्य माना गया है।

षडूर्मियों एवं अरिषड्वर्ग से विहीन सम्यग् ज्ञान के अधिकारी और छ: स्थलों को भली-भाँति जानने वाले मनुष्य के हाथों में मुक्ति स्वयं आ जाती है। (६.७१-७४)

उपसंहार के रूप में कहा जाता है कि जैसे उपसंहार यहाँ पूर्व में ही उल्लिखित किया गया है कि 'षट्स्थल' वीरशैव धर्म का प्राणस्वरूप है। विभिन्न आगमों में इनके अनेक प्रकार के विवरण पाये जाते हैं। फिर भी इसकी विशेषता अनुपम है और अनमोल है। जैसे सूक्ष्मागम में षट्स्थल का विवरण इस प्रकार दिया गया है–

१. जो साधक देह, इन्द्रिय और आत्मा का अभिमान छोड़ देता है, वह निस्सन्देह 'भक्त' कहलाता है।

२. जो साधक अपने चित्त को मन्त्र, जप, तप द्वारा राग, द्वेष आदि दुर्गुणों से मुक्त कर लेता है, उसे माहेश्वर कहते हैं।

३. जिस साधक का 'चित्त' निर्मल है, वह प्रसादी कहलाता है।

४. जो साधक जीव-भाव का भ्रम छोड़कर लिङ्गस्वरूप हो जाता है, वह प्राणलिङ्गी कहलाता है।

५. जो इनसान शिवभाव में विश्वास कर निश्चिन्त होकर आनन्द में लीन रहता है, वह 'शरण' कहलाता है।

६. शिव और जीव विषयक सभी भ्रान्तियों से निर्मुक्त व्यक्ति 'ऐक्य' कहलाता है। (८: ३१-३५)

षट्स्थल लिङ्गाङ्ग सामरस्य का साधना पथ है। साधक यानी 'अङ्ग' जब लिङ्गदेव की ओर जाता है, तो यात्रिक कहलाता है। षडूर्मियों और अरिषड्वर्गों के दुरित गुणों को दूर कर क्रमश: एक-एक साधन को प्राप्त करते हुये, साधना पथ पर चलते हुये, अन्त में भगवान् में लीन हो जाता है। यह मनशास्त्र और मनोविज्ञान भी है तथा व्यक्ति के विकास की सम्पूर्णता भी है। यह 'योगविज्ञान' भी कहलाता है।

इस षट्स्थल का दूसरा अर्थ शिवयोग की परिपूर्ण साधना कहा जाय, तो अत्युक्ति नहीं होगी। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को तालिका के माध्यम से सरलता से समझा जा सकता है–

षट्स्थल के अङ्गों और उपाङ्गों का वर्गीकरण

१. स्थल	भक्त-	– महेश	– प्रसादी	– प्राणलिङ्गी –	शरण	– ऐक्य
	↓	↓	↓	↓	↓	↓
२. अङ्ग	सर्वज्ञता –	तृप्ति	– अनादिबोध –	स्वतन्त्रता –	अलुप्तशक्ति –	अनन्तशक्ति
	↓	↓	↓	↓	↓	↓
३. उपाङ्ग	भक्ति	– कर्मक्षय –	बुद्धि	– विचार	– दर्पनाश	– सम्यग् ज्ञान
	↓	↓	↓	↓	↓	↓
४. षडूर्मियाँ	भूख	– प्यास	– शोक	– मोह	– जन्म	– मरण
	↓	↓	↓	↓	↓	↓
५. अरिषड्वर्ग	काम	– क्रोध	– लोभ	– मोह	– मद	– मत्सर



पारमेश्वरागम में निरूपित षट्स्थल का स्वरूप

सिद्धराम देव हिरेमठ (हिप्परगि)

इस प्रपञ्च में जीवित रहकर अपना व्यवहार करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को पाँच भूतों से निर्मित स्थूल शरीर, पाँच प्राण तथा इन सबके प्रेरक आत्मा का होना नितान्त आवश्यक है। इनके रहने पर ही प्रत्येक व्यक्ति लौकिक जीवन व्यतीत कर सकता है और लेन-देन, गमनागमन, खान-पान आदि लौकिक व्यवहार कर सकता है। जैसे लौकिक जीवन के लिए शरीर, प्राण तथा आत्मा की आवश्यकता है, वैसे ही वीरशैव सिद्धान्त के अनुसार आध्यात्मिक प्रगति के लिए अष्टावरण, पञ्चाचार तथा षट्स्थल के अनुष्ठान की आवश्यकता है। इसीलिए वीरशैव दर्शन के आचार्यों ने अष्टावरण को अङ्ग, पञ्चाचार को प्राण एवं षट्स्थल को आत्मा कहा है। वीरशैव धर्म में ये तीनों अत्यन्त प्रमुख तत्त्व हैं। वीरशैव धर्म के साहित्य में सर्वत्र इनकी चर्चा उपलब्ध है।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि वीरशैव धर्म का मूल साहित्य शिवागम हैं। ये कामिक से वातुल पर्यन्त अट्ठाईस माने गये हैं। इन शिवागमों के उत्तरभागों में वीरशैव धर्म के विचारों एवं तत्त्वों का उपदेश मिलता है। अत एव सिद्धान्तशिखामणि में कहा गया है–

सिद्धान्ताख्ये महातन्त्रे कामिकाद्ये शिवोदिते।
निर्दिष्टमुत्तरे भागे वीरशैवमतं परम्।।

(सि. शि. ५.१४)

भगवान् शिव की वैखरी वाणी से उत्पन्न इन आगमों में पारमेश्वरागम भी एक है। परमेश्वर-प्राप्ति के विभिन्न उपायों का उपदेश इस ग्रन्थ में प्रतिपादित होने के कारण एवं परंमेश्वर शिव के द्वारा उपदिष्ट होने के कारण इस आगम को पारमेश्वरागम कहा गया है। इस आगम के छठें पटल में षट्स्थल के स्वरूपों का विवेचन मिलता है।

वीरशैव धर्म में षट्स्थल का विशेष स्थान है। इसीलिए इसको आत्मा का दर्जा दिया गया है।

षट्स्थल ज्ञान की गोपनीयता

पारमेश्वरागम में षट्स्थल के स्वरूप का प्रतिपादन करने के पूर्व इसकी गोपनीयता पर एवं अनधिकारी को उसका उपदेश न देने पर जोर देते हुए कहा गया है—

गोपनीयं प्रयत्नेन दरिद्राणां यथा निधिः ।
यथा स्त्रियां तथा गोप्या स्वयोनिरिव सुव्रते ।।
शिवभक्तिविहीनाय दुराचाररताय च ।
नास्तिकाय न दुष्टाय वक्तव्यः षट्स्थलक्रमः ।। (६.३-४)

इस प्रपञ्च में यदि कोई वस्तु किसी प्रकार के प्रयत्न के बिना ही प्राप्त होती है, तो उसके प्रति लोगों के मन में श्रद्धा कम हो जाती है और उसके मूल्य की जानकारी नहीं होती। इसलिए यह षट्स्थल ज्ञान भी बिना प्रयत्न के ही सर्वसामान्य के रूप में प्राप्त हो जाता है, तो साधकों के मन में उसके प्रति गौरव भाव की कमी हो सकती है और असाधारण षट्स्थल ज्ञान सर्वसाधरण हो जाता, तो उसका मूल्य भी नहीं रहेगा। इसलिए साधकों के मन में षट्स्थल ज्ञान के प्रति श्रद्धा को बढ़ाने के लिए एवं उसकी महत्ता से अवगत कराने के उद्देश्य से पारमेश्वरागम में षट्स्थल ज्ञान की गोपनीयता की बात कही गयी है। इसी प्रकार असाधारण तत्त्वज्ञान का अयोग्य व्यक्ति को उपदेश देने से वह ध्येय को तो नहीं साध पाता, अपि तु उसका दुरुपयोग करके और भी पतित हो जाता है। इसीलिए कहा गया है–

अज्ञस्याप्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मेति यो ब्रूयात् ।
महानिरयजालेषु स हि तेन नियोजितः ।।

अर्थात् अज्ञानी और अप्रबुद्ध व्यक्ति को 'सभी ब्रह्म है' इस प्रकार यदि कोई उपदेश देता है, तो समझना चाहिए कि वह उसको घोर नरक में भेज रहा है। इसी प्रकार असाधारण षट्स्थल तत्त्व का उपदेश अयोग्य व्यक्ति को देने से, बालक को कठोर आहार देने से वह उसके अनारोग्य का कारण बनने के जैसे, वह उसका पतन का कारण बन सकता है। अतः यहाँ षट्स्थल ज्ञान की गोपनीयता के साथ उसके अनधिकारी को उपदेश न देने की बात भी कही गई है।

स्थल-शब्दार्थ

अहमेव जगत्स्रष्टा पुनर्मय्येव लीयते ।
अहमेव स्थलं विद्धि षड्विधं मम रूपकम् ।। (पारमे. ६.७)

इस आगमोक्ति के अनुसार स्थल शब्द का अर्थ भगवान् शिव है। लोक में स्थल का अर्थ स्थान होता है। तत्त्व ही इस प्रपञ्च के सभी तत्त्वों का मूल स्थान होने के कारण परशिव को स्थल कहा जाता है। अनुभवसूत्रकार श्री मायीदेव भी लिखते हैं—

यत्रादौ स्थीयते विश्वं प्राकृतं पौरुषं यतः ।
लीयते पुनरन्ते च स्थलं तत्प्रोच्यते ततः ।।
स्थकारः स्थानवाची स्याल्लकारो लयवाचकः ।
तयोः कारणभूतं यत् तदेव स्थलमुच्यते ।।

(अनु. सू. २.३-४)

स्थल-भेद

स्थलशब्द के वाच्य भगवान् शिव स्वयं उपास्य और उपासक के रूप में दो भागों में विभक्त हो जाते हैं। वीरशैवदर्शन में उपास्य को लिङ्ग और उपासक को अङ्ग कहा जाता है। वह लिङ्गतत्त्व पुनः आचारलिङ्ग, गुरुलिङ्ग, शिवलिङ्ग, जङ्गमलिङ्ग, प्रसादलिङ्ग तथा महालिङ्ग के भेद से छः प्रकार का होता है। इनका उपासक अङ्गस्थल भी भक्त, माहेश्वर, प्रसादी, प्राणलिङ्गी, शरण तथा ऐक्य नाम से छः प्रकार का होता है। एक अर्थ में देखा जाय, तो ये षट्स्थल स्थल शब्दवाच्य भगवान् शिव के ही विभक्त रूप हैं। अत एव पारमेश्वरागम में–

अहमेकः परानन्दः परमात्मा सदाशिवः ।
सृष्ट्वा मायामयीं शक्तिं तथाऽहं षड्विधोऽभवम् ।।
भक्तो माहेश्वरश्चैव प्रसादी प्राणलिङ्गकः ।
शरणः शिवलिङ्गैक्यः स्थलषट्कं मम प्रियम् ।।

इस प्रकार भगवान् शिव के ही भक्त आदि षड्विध रूप होने की बात कही गयी है। वे ही षट्स्थल हैं। उपास्यभूत लिङ्गतत्त्व के छः प्रकार का होने के कारण ही उपासक अङ्गस्थल भी छः प्रकार का होता है।

इन स्थलों के छः प्रकार के होने में और भी एक कारण है। वह यह है– योगशास्त्र में प्रत्येक मनुष्य के शरीर में विभिन्न स्थानों में मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, विशुद्धि, आज्ञा तथा पश्चिमशिखा नामक चक्रों की स्थिति बताई गई है। साधक विभिन्न साधनाओं के द्वारा क्रमशः इन चक्रों का भेदन कर समाधि को प्राप्त होता है। प्रत्येक मनुष्य के शरीर में छः प्रकार के चक्र स्थित होने के कारण उनकी साधना करने वाले साधक भी छः प्रकार के होने चाहिए, अर्थात् छः अवस्थाओं से

गुजरना चाहिए। इस उद्देश्य से वीरशैव धर्म में छः स्थल माने गये हैं। श्री १००८ जगद्गुरु डॉ. चन्द्रशेखरशिवाचार्य महास्वामी जी ने "शक्तिविशिष्टाद्वैततत्त्वत्रयविमर्शः" (पृ. २३१-३३८) नामक संस्कृत ग्रन्थ में किस स्थल का साधक किस चक्र की उपासना करता है, इसकी चर्चा की है। परन्तु इस पारमेश्वरागम में षट्स्थलसाधना में निरत साधकों की बाह्य अवस्थाओं को दृष्टि में रखकर उनके आचार-विचार, व्यवहार आदि के बारे में ही अधिक चर्चा है। यहाँ प्रतिपादित भक्त आदि के लक्षणों से उनके आन्तरिक भाव की भी अभिव्यक्ति परोक्षरूपेण हो सकती है, यह दूसरी बात है। अब पारमेश्वरागम के आधार पर षट्स्थल तत्त्वों का निरूपण किया जायेगा।

१. भक्त

"शिवे भक्तिः समुत्पन्ना यस्यासौ भक्त उच्यते" (सि. शि. ५.२५) श्रीसिद्धान्तशिखामणि की इस उक्ति के अनुसार जिसके मन में भगवान् शिव के प्रति भक्ति उत्पन्न होती है, उसे **भक्त** कहा जाता है। शिव के निराकार होने के कारण उसकी पूजा आदि साक्षात् सम्भव नहीं होती। अतः वीरशैव धर्म में गुरु, लिङ्ग तथा जङ्गम इन तीनों को भगवान् शिव का साकार रूप माना जाता है, जिनकी सेवा, पूजा आदि करने से भगवान् शिव तृप्त होते हैं और अपनी पूजा से जो फल प्राप्त होता है, वह फल इनकी पूजा करने से भी प्रदान करते हैं। अत एव पारमेश्वरागम में–

गुरौ च जङ्गमे लिङ्गे तारतम्यविशेषतः।
पूजयेत् त्रिविधं रूपं तद्भक्तस्थलमुच्यते।। (पारमे. ६.९)

इस प्रकार कहा गया है। इस उक्ति के अनुसार गुरु, लिङ्ग और जङ्गम इन तीनों को भगवान् शिव के तीन रूप मानकर श्रद्धा-भक्ति के द्वारा जो उनकी पूजा करता है, वह भक्त कहलाता है और उसके द्वारा अनुष्ठित आचार भक्तस्थल कहलाता है।

"साक्षात् भर्गो नराकृतिः"

अप्रत्यक्षो महादेवो सर्वेषामात्ममायया।
प्रत्यक्षो गुरुरूपेण वर्तते भक्तिसिद्धये।। (सि.शि. ५.५३)
अपरिच्छिन्नमव्यक्तं लिङ्गं ब्रह्म सनातनम्।
उपासनार्थं भक्तानां परिच्छिन्नं स्वमायया।। (सि.शि. ४.३५)
तद्यथाशक्ति सम्पूज्या जङ्गमा हि हितेप्सुना।
यदमी मानुषाकाराः प्रत्यक्षपरमेश्वराः।। (च.ज्ञा.कि. ४.३०)

इत्यादि श्रुति, सिद्धान्तशिखामणि तथा चन्द्रज्ञानागमों के वचन गुरु-लिङ्ग-जङ्गमों

के शिवरूप होने में प्रमाण हैं। अतः भक्त इनको भगवान् का रूप मानकर उनकी पूजा आदि करता है।

२. माहेश्वर

षट्स्थलों में माहेश्वर का दूसरा स्थान है। "**महेश्वरस्यायं माहेश्वरः**" इस व्युत्पत्ति के अनुसार महेश्वर शिव जिसको अपना मानता है और जो शिव को ही अपना सब कुछ मानकर "**त्वमेव माता च पिता त्वमेव...**" इस भाव से उसकी आराधना करता है, वह **माहेश्वर** कहलाता है। पूर्वोक्तरीत्या गुरु-लिङ्ग-जङ्गम भगवान् शिव के ही रूप होने के कारण "**यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ**" (श्वेता. ६.२३) इस श्रुतिवचन के अनुसार गुरु आदि की आप्त भाव से सेवा, पूजा आदि करने वाले को माहेश्वर कहा जाता है। पारमेश्वरागम में भगवान् शिव कहते हैं–

यो गुरूक्तेन मार्गेण लिङ्गपूजारतः सदा।
जङ्गमानर्चयेच्छक्त्या स हि माहेश्वरः स्मृतः।।
त्रिकालमर्चयेल्लिङ्गं मम भक्तेषु भक्तिमान्।
स्वमताचारनिरतः स वै माहेश्वरः स्मृतः।।

(पारमे. ६.१३-१४)

स्थूल दृष्टि से देखने पर यहाँ भक्त और माहेश्वर के लक्षणों में समानता दिखाई पड़ती है, किन्तु उन साधकों के भाव में व्यत्यास होते ही हैं। भक्तस्थल के साधक के मन में गुरु-लिङ्ग-जङ्गमों के प्रति जो भक्ति रहती है, वह श्रद्धा के रूप में होती है और वही भक्ति माहेश्वर स्थल के साधक में आकर निष्ठा के रूप में परिवर्तित हो जाती है। अत एव माहेश्वर स्थल के साधक में रहनेवाली भक्ति का नाम निष्ठाभक्ति है। मायीदेव ने 'अनुभवसूत्र' में कहा है–

नैष्ठिकी भक्तिरित्येव कीर्तिता भक्तितत्परैः।
तया माहेश्वरं नाम स्थलकस्य स्वरूपतः।। (अनु.सू. ५.७३)

तात्पर्य यह है कि भक्त में स्थित श्रद्धा-भक्ति ही जब निष्ठा-भक्ति बन जाती है, अर्थात् स्थिर हो जाती है, तब भक्त माहेश्वर हो जाता है। वस्तुतः श्रद्धा और निष्ठा दोनों भक्ति की विभिन्न अवस्थाओं के नाम हैं। भक्ति जब विचलित होने की सम्भावनाओं से ग्रस्त होती है, अर्थात् पूर्ण विकसित नहीं होती, तब श्रद्धा कहलाती है। वही जब स्थिर होकर पूर्ण विकसित हो जाती है, तब निष्ठा भक्ति कहलाती है। इसीलिए निष्ठा शब्द की व्युत्पत्ति "**निश्चयेन तिष्ठतीति निष्ठा**" इस प्रकार बताई जाती है। अत एव सिद्धान्त-शिखामणि में माहेश्वर की लिङ्गपूजा आदि में स्थित निष्ठा का वर्णन इस प्रकार किया गया है –

अपगच्छतु सर्वस्वं शिरच्छेदनमस्तु वा ।
माहेश्वरो न मुञ्चेत लिङ्गपूजामहाव्रतम् ।। (सि.शि. १०.२२)

इस प्रकार भक्त और माहेश्वर के आचरण समान लगने पर भी भाव की भक्ति में किञ्चित् व्यत्यास रहता है ।

३. प्रसादी

प्रसाद का अर्थ– अनुग्रह, प्रसन्नता और भगवान् को अर्पित अन्न होता है । **''प्रसादोऽस्यास्तीति प्रसादी''** इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिस पर भगवान् का अनुग्रह हुआ है, जिसका मन सदा प्रसन्न रहता है और जो सदा भगवान् को समर्पित अन्न का ही सेवन करता है, वह **प्रसादी** कहलाता है । भगवान् का अनुग्रह और मन की प्रसन्नता भगवदर्पित अन्न का सेवन करने से प्राप्त होती है । **''अन्नमयं हि सौम्य मनः''** इस श्रुतिवचन के आधार पर जो जिस प्रकार के अन्न का सेवन करता है, वह उस प्रकार का मन वाला हो जाता है । विशुद्ध अन्न ही मनःशुद्धि का कारण है । अन्न की शुद्धि भगवान् को अर्पण करने से होती है । उस अन्न का सेवन करने से मन प्रसन्न होता है (सि.शि. ११.३-१०) । इसलिए भगवदर्पित अन्न को **प्रसाद** कहा जाता है और उसका सेवन करनेवाला प्रसादी कहा जाता है । अत एव पारमेश्वरागम में—

योऽनर्पितं महेशानि नार्चयित्वापि जङ्गमान् ।
नाश्नाति न त्यजेन्मह्यमर्पितं कृच्छ्रगोऽपि वा ।।
सोऽयं प्रसादी कथितः सोऽहमेव न संशयः ।।

(पारमे. ६.१७-१८)

प्रसादी स्थल के साधक के जो आचरण उपदिष्ट हैं, इनके अनुसार भगवान् को बिना अर्पित किये और जङ्गमों की पूजा किये बिना भारी सङ्कट आने पर भी जो भोजन नहीं करता और भगवान् को समर्पित भोजन का कभी परित्याग नहीं करता, उसे प्रसादी कहते हैं । यहाँ मुख्यतया यह संमझना चाहिए कि जो भगवान् के प्रसाद को ही परम श्रद्धा से ग्रहण करता है और ग्रहण किये गये प्रसाद का परित्याग नहीं करता, वह प्रसादी है ।

शिवोपासना के सभी अधिकारी

वीरशैव धर्म में अध्यात्मसाधना में और धर्म का सम्पादन करने में स्त्री तथा पुरुष को समान अधिकार दिया गया है । अतः पुरुष के समान स्त्री भी षट्स्थल साधना में प्रविष्ट होकर भक्त, माहेश्वर, प्रसादी आदि बनकर अन्त में मोक्ष पा सकती है । जब कोई स्त्री चाहे वह विवाहिता हो अथवा अविवाहिता प्रसादीस्थल में प्रवेश करती है, तो उसे भी भगवदर्पित अन्न का ही भोजन करना पड़ता है ।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि स्त्रीधर्म का प्रतिपादन करते समय धर्मशास्त्र में नारी को प्रतिदिन अपने पति के द्वारा खाकर छोड़े गये अन्न (भर्तृशेष) का सेवन करने का विधान है; भर्तृशेष अन्न को भगवदर्पण करना तो उचित नहीं, बिना अर्पण किये खाये, तो वह प्रसादीस्थल के आचरण के विरुद्ध होता है। तब क्या उपाय करना चाहिए ?

कारणागम में भगवान् शिव ने इस प्रश्न का समुचित उत्तर दिया है– भगवान् को अन्न का अर्पण दो प्रकार से होता है– भोगरूप तथा अनुज्ञारूप। भगवान् को भोग के लिए अर्पण करना भोगरूप है और अपने भोग्य पदार्थों को केवल भगवान् की आज्ञा प्राप्त करने के लिए उसे अर्पण करना अनुज्ञारूप है। भगवान् को अर्पण करने के लिए अयोग्य वस्तुओं का यदि अनिवार्य रूप से उपयोग करना पड़े, तो अनुज्ञारूप अर्पण कर उसे प्रसाद के रूप में स्वीकार करना चाहिए। पतिव्रता नारी भर्तृशेष का सेवन करते समय अनुज्ञारूप अर्पण कर तथा स्वतन्त्र अन्न का भोजन करते समय भोगरूप अर्पण कर प्रसाद को ग्रहण कर सकती है। इसीलिए कहा है–

सुवासिनी समर्च्यापि भोगरूपनिवेदनम्।
अन्येनैव विधायानुज्ञाप्य तद् भर्तृशेषकम्।।
उभयं चैव भुञ्जीत भक्तियुक्ता मयि प्रिये।। (कारणा. ५.७५)

इस प्रकार नारी भी प्रसादी बनकर उस स्थल के नियमों का आचरण कर सकती है और उसमें उसका पतिव्रता धर्म अवरोधक नहीं बनता। अत: प्रसादी स्थल के साधक को चाहिए (वह पुरुष हो या स्त्री) कि वह भगवदर्पित प्रसाद का ही सेवन करे और स्वीकृत प्रसाद का परित्याग न करे।

यदि भगवान् को अर्पित प्रसाद सर्वथा अत्याज्य है, तो पति अपनी पत्नी को, गुरु अपने शिष्यों को किस प्रकार अपना शेष प्रसाद प्रदान करे ? इस प्रश्न का भी उत्तर कारणागम में मिलता है–

दारादिभ्यः प्रसादस्य नारकिभ्यो जलस्य च।
प्रदानेनार्पितत्यागं दोषो नैवास्ति भामिनि।।
त्यागस्याविधिमूलस्य निषेधविषयत्वतः।
यथाऽविधिकृतत्यागो न दोषो गुण एव हि।।
(कारणा. ५. २६-२७)

अर्थात् शिष्य तथा पत्नी को प्रसाद देने से प्रसादत्याग का दोष नहीं होता, क्योंकि जहाँ प्रसादत्याग का विधान नहीं किया गया है, वहाँ उसका त्याग करना दोषयुक्त माना जाता है। गुरुप्रसाद का सेवन करना एवं पति का प्रसाद ग्रहण करना,

इसमें शिष्य एवं पत्नी के लिए शास्त्र की विधि होने के कारण, इस विधि के पालन के लिए गुरु और पति को प्रसाद का परित्याग करना (उनको देना) अनिवार्य होता है। अतः इस सन्दर्भ में प्रसाद का परित्याग दोष नहीं है। इसलिए इस परिस्थिति को आपद्धर्म के रूप में देख सकते हैं।

इस प्रकार यहाँ हम यह कह सकते हैं कि, जो प्रसाद का ही सेवन करते हुए, शास्त्रविधि के अन्यत्र सन्दर्भ में कदापि उसका परित्याग नहीं करते हुए प्रसन्नचित्त होकर भगवान् का अनुग्रह पाते हैं, वे प्रसादीस्थल के साधक हैं।

४. प्राणलिङ्गी

''प्राणवद् लिङ्गं यस्य स प्राणलिङ्गी'' और **''प्राणलिङ्गस्य ज्ञानं यस्य स प्राणलिङ्गी''** इस प्रकार दो व्युत्पत्तियों के द्वारा प्राणलिङ्गी शब्द का निरूपण हम कर सकते हैं। जो अपने प्राण के समान ही अत्यन्त प्रेमभाव से अपने लिङ्ग का धारण, पूजन आदि करता है, वह प्राणलिङ्गी है और जो अपने अन्तरतम हृदयस्थान में विद्यमान प्राणलिङ्ग को योगमार्ग के द्वारा जानकर उसका अनुसन्धान करता है, वह प्राणलिङ्गी है। पारमेश्वरागम में दोनों प्रकार के लक्षण बताये गये हैं–

यथा प्राणे तथा लिङ्गे यथा लिङ्गे तथा शिवे।
प्राणलिङ्गशिवेष्वेकबुद्धिमान् प्राणलिङ्गकः॥
यः प्राणलिङ्गलिङ्गी स्यात् स रुद्रो नात्र संशयः।
प्राणलिङ्गिस्थलमिदं मम चातिप्रियं प्रिये॥

(पारमे. ६.२०-२१)

इसका तात्पर्य यह है कि, अपने प्राण के समान ही इष्टलिङ्ग में और इष्टलिङ्ग के समान ही शिव में समानबुद्धि रखनेवाला प्राणलिङ्गी कहलाता है। जो व्यक्ति सूक्ष्म प्राणलिङ्ग के स्वरूप को जानकर उसकी उपासना करता है, वह निःसन्देह रुद्र का ही स्वरूप है। यही प्राणलिङ्गी स्थल है।

प्राणलिङ्गी स्थल के साधक के मन में लिङ्ग के ऊपर प्रेम इतना प्रगाढ़ हो जाता है कि उसे अपने प्राण और लिङ्ग में भेद नहीं रह जाता। इस स्थल के साधक के देह से कदाचित् लिङ्ग का वियोग होता है, तो उसके प्राण काँपने लगते हैं। जैसे कभी-कभी अपनी प्रिय वस्तु से बिछुड़ जाता है, तो तुरन्त उसके प्राण भी चले जाते हैं, वैसे ही इस स्थल के साधक के लिङ्ग-वियोग से उसके प्राण भी जा सकते हैं। यह साधक केवल स्थूल शरीर में धारण किये गये लिङ्ग को ही नहीं जानता, अपि तु सूक्ष्म शरीर

में अप्रकट रूप से स्थित प्राणलिङ्ग को भी जानकर योगसाधाना के द्वारा उसका अनुसन्धान करता है। श्रीसिद्धान्तशिखामणि में–

प्राणापानसमाघातात् कन्दमध्याद्यदुत्थितम्।
प्राणलिङ्गं तदाख्यातं प्राणापाननिरोधिभिः।।

(सि.शि. १२.६)

इस प्रकार प्राणलिङ्ग का स्वरूप बताया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि मूलाधारचक्र में स्थित अपानवायु के साथ गुरु के द्वारा उपदिष्ट मार्ग के अनुसार प्राणवायु का जब संघटन होता है, तब वहाँ एक दिव्य ज्योति उत्पन्न होती है। मूलाधार में उत्पन्न यह ज्योति सुषुम्ना मार्ग से प्रस्थान कर कुण्डलिनी को ऊर्ध्वमुख करती हुई हृदय में स्थित अनाहत चक्र में, अर्थात् बारह दलवाले हृदयपद्म में स्थिर होती है। योगसाधक कहते हैं कि हृदयस्थ यह ज्योति अंगुष्ठ के समान आकार की तथा विद्रुम वर्ण की होती है। जैसे सूर्योदय होते ही हिम के कण उसमें विलीन हो जाते हैं, वैसे इस ज्योति में प्राणवायु का विलय होता है। इस प्रकार इस ज्योति के प्राणशक्ति से विशिष्ट होने के कारण वीरशैव आचार्यों ने उसे प्राणलिङ्ग कहा है। जो इस ज्योतिर्मय प्राणलिङ्ग का अनुसन्धान करता है, वह प्राणलिङ्गी कहलाता है।

प्राणलिङ्ग की पूजा बाह्य उपचारों से नहीं हो सकती। अतः साधक भाववस्तुओं से इसकी आराधना करता है। यहाँ क्षमा अभिषेक के लिए जल है, विवेक वस्त्र है, सत्य आभरण है, वैराग्य फूलों की माला है, समबुद्धि गन्ध है, निरहङ्कार अक्षत है, श्रद्धा धूप है, महाज्ञान दीप है, भ्रान्ति के कारण उत्पन्न प्रपञ्च का समर्पण नैवेद्य है, मौन घण्टानाद है, विषयार्पण ताम्बूल है, विषयों की भ्रान्ति का अभाव प्रदक्षिणा है, बुद्धि का भगवदाकार होना नमस्कार है। इन भाव वस्तुओं के द्वारा साधक प्राणलिङ्ग की उपासना करता है।

५. शरण

सर्वसमर्पण भाव से पूर्णरूपेण शिव के ही शरण में आये साधक को **शरण** कहा जाता है। अहंभाव से पूर्णतया शिव को समर्पित हो जाने के कारण इस स्थल के साधक में अपनी कोई अपेक्षा नहीं बचती और वह सदा एकान्त में रहते हुए भगवान् के ध्यान में निरत रहता है। इसलिए पारमेश्वरागम में शरण का लक्षण–

एषणात्रयनिर्मुक्तो नित्यमेकान्तसेवनः।
मम ध्यानरतो नित्यं शरणः परिकीर्तितः।। (पारमे. ६.२३)

इस प्रकार कहा गया है। शास्त्रकारों ने मनुष्य की अपेक्षाओं को प्रमुख रूप से तीन भागों में विभक्त किया है। वे हैं– पुत्रैषणा, वित्तैषणा एवं लोकैषणा। सती-सुतादि की कामना पुत्रैषणा है, धन-दौलत की अपेक्षा वित्तैषणा है और पद-प्रतिष्ठा की आशा लोकैषणा है। शरणस्थल का साधक इन तीनों एषणाओं से मुक्त होकर एकान्त में बैठकर शिवचिन्तन-शिवध्यान आदि में ही अपना जीवन-यापन करता है।

इस स्थल के साधक में शिव के प्रति विद्यमान सर्वार्पण भाव को श्रीसिद्धान्तशिखामणि में सती-पति दृष्टान्त से समझाया गया है। वहाँ पर कहा गया है—

सतीव रमणे यस्तु शिवे शक्तिं विभावयन्।
तदन्यविमुखः सोऽयं ज्ञातः शरणनामवान्।।

(सि. शि. १३.५)

जैसे कोई नारी माता-पिता घर-गाँव सब छोड़कर पति के घर जाती है और पति के साथ एकभाव से रहती है, वैसे ही शरण स्थल का साधक अपनी प्रापञ्चिक सारी वासनाओं को त्याग कर शिवध्यान में निरत रहता है। उपनिषद् में भी– **''तद्यथा प्रियया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्''** इस प्रकार सती-पति के उदाहरण से ही इस अवस्था का परिचय प्रतिपादित है। साधना का अगला कदम ऐक्य अवस्था होने के कारण इस स्थल में उसकी पूर्व तैयारी के रूप में शिव में प्रगाढ़ भक्ति, सब कुछ त्यागने का वैराग्य और ध्यान के द्वारा उसको जानने का तथा प्राप्त करने का प्रयत्न– ये सभी आवश्यक हैं। इसलिए ये सभी सूच्यरूप से पारमेश्वरागम में प्रतिपादित हैं।

६. ऐक्य

'एकस्य भाव ऐक्यम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो शिव के साथ एकता को प्राप्त होता है, वह **ऐक्य** कहलाता है। इस अवस्था में साधक अपनी शिवयोग साधना के माध्यम से ध्येय शिवतत्त्व का पूर्णरूपेण अनुभव करता है। ध्येय की सिद्धि हो जाने पर साधना शेष नहीं रह जाती। अत एव पारमेश्वरागम में ऐक्यावस्था का लक्षण प्रतिपादित करते हुए यह कहा गया है—

न पूजा नैव च ध्यानं न योगकरणादिकम्।
अहन्ताभावनाधीरः शिवलिङ्गैक्यसंज्ञकः।। (पारमे. ६.२६)

इस उक्ति के अनुसार जिस अवस्था में 'शिवोऽहं' भावना पूर्णरूप से विकसित होकर सब कुछ शिवमय लगने लगता है और उसी के कारण पूजा, ध्यान, योग, करण

(शरीर के अङ्गों को किसी विशेष स्थिति में रखना) आदि की आवश्यकता नहीं रह जाती है, उस अवस्था को शिवलिङ्गैक्य कहा जाता है। पारमेश्वरागम में ऐक्य को ही शिवलिङ्गैक्य कहा गया है। इस अवस्था में साधक जल में जल मिलकर, आग में आग मिलकर जैसे एकाकार हो जाते हैं, वैसे ही जीवात्मा परमात्मा में मिलकर एक हो जाता है और सर्वत्र उसी एकता का अनुभव करता है। अत एव **''तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः''** (ईशा. ७) इस श्रुतिवचन के अनुसार उसे शोक, मोह, राग, द्वेष आदि की कोई स्थिति नहीं रह पाती।

पारमेश्वरागम में भगवान् शिव इन सभी भक्त आदि स्थलों को क्रमशः पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश तथा साक्षी, अर्थात् आत्मा का प्रतिनिधि कहते हैं। जैसे पृथ्वी आदि में क्रमशः एक-एक गुण कम होते जाते हैं और एक की दृष्टि से दूसरा क्रमशः सूक्ष्म होता जाता है, वैसे ही भक्त आदि स्थलों के साधकों के सांसारिक गुण कम होते जाते हैं और शिव के सूक्ष्मतम स्वरूप को जानते हुए स्वयं सूक्ष्म भाव से भरते चले जाते हैं। इसीलिए षट्स्थलों को पृथ्वी आदि का प्रतिनिधि अथवा स्वरूप बताया गया है। यहाँ जीव के परमात्मा का ही अंश होने के कारण तथा उसी के साधक बनकर षट्स्थल साधना में प्रवृत्त होने के कारण प्रत्येक स्थल के लक्षण का प्रतिपादन करने के बाद यह भी बताया गया है कि ये स्थल भगवान् शिव के ही रूप हैं। अन्त में षट्स्थलों की महिमा को बताते हुए कहा गया है कि इस परम रहस्यभूत षट्स्थल ज्ञान को जो जानता है, वह संसार-बन्धन से तत्काल मुक्त हो जाता है। यह ज्ञान देवताओं को भी दुर्लभ है।

उपसंहार

पारमेश्वरागम में षट्स्थलों के निरूपण के बाद भगवान् शिव के सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादिबोध, स्वतन्त्रता, अलुप्तशक्ति तथा अनन्तशक्ति नामक छः अङ्गों का प्रतिपादन कर भक्त आदि स्थलों को भगवान् शिव के सर्वज्ञता आदि अङ्गों के रूप में निर्दिष्ट किया गया है। यही भक्ति, कर्मक्षय, बुद्धि, विचार, दर्पसंक्षय और सम्यग् ज्ञान नाम के छः उपाङ्गों का निर्देश करके उनके भी भक्त आदि षट्स्थलों से सम्बद्ध होने की बात कही गई है। प्रस्तुत निबन्ध का ''पारमेश्वरागम में निरूपित षट्स्थल स्वरूप'' नामक विषय होने के कारण यहाँ महेश्वर के अङ्गों या उपाङ्गों का विवरण न देकर, केवल षट्स्थलों का ही विशेष रूप से प्रतिपादन किया गया है। हम मानते हैं कि इससे विद्वान् सन्तुष्ट होंगे।

●

षट्स्थल-स्वरूप

डॉ. अविनाशनाथ त्रिपाठी

चरमपुरुषार्थ की प्राप्ति के लिये शैवागम प्राणिमात्र के लिये एक पथप्रदर्शक की भाँति है। मुक्ति प्राप्ति के लिये यह एक परम सम्बल है। शैवागमों की संख्या २८ बताई गयी है। इन्हीं २८ शैवागमों में से पारमेश्वरागम एक विशिष्ट आगम है, जिसमें प्रस्तुत **'षट्स्थल-स्वरूप'** का सम्यक् विवेचन हुआ है। शिव-पार्वती-संवाद के माध्यम से इस आगम में आध्यात्मिक रहस्यों का उद्घाटन हुआ है।

षट्स्थल

पारमेश्वरागम के अनुसार यह षट्स्थल पद परमात्मवाचक है। यह साक्षात् परमेश्वरस्वरूप ही है। भगवान् महेश्वर कहते हैं कि एकमात्र मैं ही परमानन्द स्वरूप सदाशिव परमात्मा हूँ और अपनी ही माया शक्ति का सृजन करके उसी की सहायता से षट्विधरूप धारण करता हूँ (पा. ६.५)। जिसमें यह सम्पूर्ण चराचर जगत् स्थित है और अन्त में जिसमें विलीन हो जाता है, वही **'स्थल'** कहलाता है। (पा. ६.७) भगवान् महेश्वर कहते हैं कि 'वह **स्थल** स्वयं मैं हूँ'। यह 'स्थल' छः प्रकार के हैं– भक्त, माहेश्वर, प्रसादी, प्राणलिङ्गी, शरण एवं शिवैक्य।

१. भक्त-स्थल

षट्स्थल का प्रथम सोपान है। जो साधक गुरु में, जङ्गम में और इष्टलिङ्ग में परमेश्वर की स्थिति समान भाव से मानते हुये उनकी उपासना करता है, वह भक्तस्थल कहलाता है (६.९)। यह भक्तस्थल पृथ्वी तत्त्व का प्रतिनिधि माना गया है।

२. माहेश्वर-स्थल

षट्स्थल का यह द्वितीय स्वरूप है। जो गुरूपदिष्ट मार्ग से सदा इष्टलिङ्ग की और यथाशक्ति जङ्गमों की भी पूजा करता है, उसे माहेश्वर कहते हैं। माहेश्वरस्थल जल तत्त्व का प्रतिनिधि माना गया है (६.१३-१४)।

३. प्रसादी-स्थल

जो भगवान् शिव को बिना अर्पित किये और जङ्गमों की बिना पूजा किये भारी

संकट आने पर भी भोजन नहीं करता, साथ ही भगवदर्पण किये गये भोजन का कभी भी परित्याग नहीं करता, वह प्रसादी स्थल कहलाता है (६.१७-१८)। यह अग्नितत्त्व का स्वरूप है।

४. प्राणलिङ्गी-स्थल

अपने प्राण के समान ही इष्टलिङ्ग में और इष्टलिङ्ग के समान ही शिव में जो समान बुद्धि रखता है, वह प्राणलिङ्गी कहलाता है (६.२०)। यह वायुतत्त्व का स्वरूप है।

५. शरण-स्थल

जो साधक पुत्रैषणा, लोकैषणा एवं वित्तैषणा इन तीनों से ऊपर उठकर सदा एकान्त में ईश्वर ध्यान में तल्लीन रहता है, वह साधक 'शरणस्थल' कहलाता है (६.२३)। शरणस्थल का अधिकारी पुरुष मृत्यु के उपरान्त साक्षात् शिव हो जाता है। यह आकाश तत्त्व का स्वरूप है।

६. ऐक्य-स्थल

जो साधक पूजा, ध्यान, योग, करण आदि सभी को शिवमय समझकर एकमात्र शिव की दृढ़ भावना में तल्लीन हो जाता है, वह स्थल ऐक्य स्थल कहलाता है। यह परमेश्वर की प्रधानमूर्ति है। यह उनका साक्षात् स्वरूप है। इस प्रकार साधक जब अपनी स्वाभाविक छः उर्मियों, लहरों या दोषों पर (भूख-प्यास, शोक-मोह एवं जन्म-मरण पर) और अरि षड्वर्ग, अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह पर विजय पा लेता है, तो वह महेश्वर के ऐश्वर्यों से संयुक्त होने लगता है। महेश्वर के छः स्वाभाविक गुण या ऐश्वर्य हैं– सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादि बोध, स्वतन्त्रता, सदा अलुप्तशक्ति एवं अनन्त शक्ति।

इस प्रकार यह शैवागम-प्रतिपादित षट्स्थल-सिद्धान्त परम श्रेयस्कर है। कर्मबन्धन को नष्ट करके साधक को परतत्त्व में विलीन कर देने वाला है।

•

AṢṬĀVARAṆAS IN ŚAIVĀGAMAS

Dr. C. Shivakumara Swamy
Bangalore

According to the statement श्रेयांसि बहुविघ्नानि, the devotees who have engaged themselves in the path of salvation are going to face many impediments. No one can achieve his goal without removing the obstacles. In the Vīraśaivism, eight coverings have been given for the protection of the devotees who aspire for liberation in the form of union with Śiva called Śivajīvaikya or Liṅgāṅgasāmarasya. These eight coverings are called as Aṣṭāvaraṇas.

A Vīraśaiva devotee becomes eligible for the Aṣṭāvaraṇas when he obtains the Iṣṭaliṅga from Guru through Dīkṣā ceremony. The concept of Aṣṭāvaraṇas developed very much in the Uttarabhāgas of the Śaivāgamas. We can see the origin of Aṣṭāvaraṇas in Śaivopaniṣads. Rudropaniṣad, one among the 108 old upaniṣads describes Guru, Liṅga and Jaṅgamas, the first three Āvaraṇas as the forms of Śiva in the statements "जङ्गमरूप: शिव:, शिव एव जङ्गमरूप:..........ॐ आत्मा परशिवाद्वयो गुरु: शिव:, गुरु: शिव एव लिङ्गम् etc."[1] Further the same upaniṣad describes the mahimā of mantra, bhasma, pādodaka and tīrtha[2]. Vajropaniṣat, gives the details of Bhasmadhāraṇa[3]. Bṛhajjābālopaniṣat, Jābālopaniṣat, Bhasmajābālopaniṣat, and Rudrākṣajābālopaniṣads mentions the details regarding the preparing of Bhasma, Bhasmadhāraṇa, origin of Rudrākṣas and Rudrākṣadhāraṇa[4]. Thus the details of the Aṣṭāvaraṇas, namely, Guru,

1. Unpublished Upaniṣads, pp. 308-309, Adyar, Madras, 1933 (See. Śaivāgamagahe-ondu Adhyoyana, p.57, Dr. M. Śivakumara Swamy, Bangalore).
2. Ibid. pp. 308-309
3. Ibid, pp. 311-312
4. Śaivopaniṣads, Adyar, Madras, 1988, pp. 67, 68, 88, 89, 97-123, 129-133, 156-164 (See. Śaivāgamagalu-Ondu Adhyayana (Kannada) Dr. M. Śivakumara Swamy, p. 57).

Linga, Jangama, Bhasma, Rudrākṣa, Mantra, Pādodaka and Prasāda are found in Śaivopaniṣads. But the term 'Aṣṭāvaraṇa' is used for the first time in Śaivāgamottarabhāgas. Candrajñānāgama states–

गुरुर्लिङ्गं जङ्गमश्च तीर्थं चैव प्रसादकः ।
भस्मरुद्राक्षमन्त्राश्चेत्यष्टावरणसंज्ञिताः ।।[१]

The term Aṣṭāvaraṇa can be explained in two ways as– आव्रियते देहादिकं येन तदावरणम्[२] and अष्टानाम् आवरणानां समाहारः । According to these interpretations, the term Āvaraṇa literally means covering. In the Vīraśaiva philosophy the word Āvaraṇa found in Aṣṭāvaraṇa gives the sense of Rakṣākavaca because these eight coverings protect the devotees from the evil of this world[3].

In Vīraśaivism Aṣṭāvaraṇas are called Aṅgas (limbs), because the religious attainments of a devotee can be achieved through them. Among the Aṣṭāvaraṇas the first three Āvaraṇas, namely, Guru, Linga and Jangama are the Āvaraṇas deserved to be worshipped; Bhasma, Rudrākṣa and Mantra are the materials of worship and Pādodaka and Prasāda are the Āvaraṇas which are in the form of the fruits of worship (of Guru, Linga and Jangama with Bhasma, Rudrākṣa and Mantra). An account of these is given here according to the Uttarabhāgas of Sūkṣmāgama, Pārameśvarāgama, Kāraṇāgama, etc., particularly in Candrajñānāgama.

1. GURU

Guru occupies the first place in the list of Aṣṭāvaraṇas, then comes Linga and Jangama. These three are the Āvaraṇas to be worshipped by the devotees. Guru is the guide to the Vīraśaiva practices

---

1. Candrajñānāgama, Kri. pā, 2.2
   Cf : गुरुर्लिङ्गं जङ्गमश्च पादतीर्थं प्रसादकम् ।
   देहे विभूतिरुद्राक्षौ मम पञ्चाक्षरी मनुः ।
   अष्टावरणसंयुक्ता...........II–Pārameśvarāgama, 7.54-55
2. Dr. Candraśekhara Śivācārya Swamigalu, Śaktiviśiṣṭādvaitatattvatrayovimarsaḥ, Varanasi, p. 1996, p.96.
३. इमानि शिवभक्तानां भवदोषततेः सदा ।
   निवारणैककार्याणि ख्यातान्यावरणाख्यया ।।– Candra. Ā, Kri.pā, 2.3

and philosophy. A devotee obtains Dīkṣā by the favour of the Guru and he gets three kinds of Liṅgas, namely, Iṣṭaliṅga, prāṇaliṅga and Bhāvaliṅga in his three bodies, viz, Sthūla, Sūkṣma and Kāraṇa through three Dīkṣās-Vedhā, Manu and Kriyā. Guru protects the devotee if Śiva becomes angry is the saying in Vīraśaivism. This is made clear in Candrajñānāgama :

शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता न रुष्टे निजसद्गुरौ ।
त्राता शिवस्तदेतस्माद् गुरुपूजारतो भवेत् ।।
यः स्वस्य गुरुपूजां तु त्यक्त्वा शिवपदं यजेत् ।
पराङ्मुखः शिवस्तस्य नरकं संप्रयच्छति ।।[1]

"Guru protects the disciple if Śiva becomes angry and even Śiva does not save him if Guru is annoyed with the disciple. Hence one should always remain absorbed in worshipping Guru. Śiva turns away from the person who worships Him (ie, Śiva), without worshipping the Guru and he does so is doomed to hell." This shows the greatness of Guru.

The nature of Guru :

मोक्षस्य दीक्षासंप्राप्त्यै गुरुः स्यान्मूलकारणम् ।
न विना गुरुणा सिद्ध्यै साधनानि भवन्त्यलम् ।।[2]

According to this statement Dīkṣā and mokṣa can be obtained only from the Guru. Without Guru, no achievement could be possible. Thus the Guru leads the disciple on the path to salvation. The path to salvation here means Ṣaṭasthalamārga. To enter into it, Dīkṣā is very essential. Guru favours the disciple with Dīkṣā. Therefore Candrajñānāgama says– दीक्षासंप्राप्त्यै गुरुः स्यान्मूलकारणम् । Here 'Sādhanāni' means Aṣṭāvaraṇas. The attainment of Aṣṭāvaraṇas is also attained by the favour of Guru. There is no difference between Guru and Śiva, as both of them are the embodiment of Vidyā. Candrajñānāgama states–

यो गुरुः स शिवः प्रोक्तो यः शिवः स गुरुः स्मृतः ।
गुरुर्वा शिव एवाथ विद्याकारेण संस्थितः ।।[3]

1. Ibid, 2.82-83
2. Ibid, Kri, pā, 2.5
3. Ibid, Kri. pā, 2.7

"Guru is Śiva himself and Śiva is called Guru. Whether Guru or Śiva, he is accepted as the embodiment of Vidyā." These sayings of the Āgama stress the 'abheda' of Guru and Śiva. The fruit of worshipping Śiva, Vidyā and Guru is the same. Guru is the abode of all divine beings and all mantras. So one should obey the command of Guru with due humility :

शिवविद्यागुरूणां च पूजया सदृशं फलम् ।।
सर्वदेवात्मकश्चासौ सर्वमन्त्रमयो गुरुः ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन तस्याज्ञां शिरसा वहेत् ।।[१]

Only such a mahātma, who is endowed with the above mentioned merits deserves to be the Guru; all are not the Gurus. This is strongly expressed in the Candrajñānāgama as :

गुरवो बहवः सन्ति शिष्यवित्तापहारकाः ।
दुर्लभोऽयं गुरुर्लोके शिष्यहृत्तापहारकः ।।[२]

"Many are the Gurus who squeeze the money of the disciples but rare are those Gurus, who are able to remove the mental agony of the disciples." From this statement Candrajñānāgama declares as to how a Guru should be and how he should not be.

Gurulakṣaṇam :

"गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः"–

According to this subhāṣitokti, the virtues alone are worshipped in this world. Similarly, the Guru, who is endowed with virtues, is worshipped in this world. Candrjñānāgama, Sūkṣmāgama and Pārameśvarāgama have described the features of Guru. This will be presented here in brief. Candrajñānāgama defines Guru thus :

गुरुश्च गुणवान् प्राज्ञः परमानन्दभासकः ।
तत्त्वविच्छिवसंसक्तो मुक्तिदो न तु चापरः ।।
शैवसिद्धान्ततत्त्वज्ञः प्रतिष्ठामन्त्रपारगः ।
मोक्षदः करुणोपेतो वीतरागो विमत्सरः ।।
क्रियादिज्ञानपर्यन्तशिवतत्त्वविनिश्चयः ।
सम्प्रदायागतज्ञानो गुरुवंशसमुद्भवः ।।

1. Ibid, Kri.pā, 2.8-9
2. Ibid, Kri. pā, 2.54

लिङ्गाङ्गस्थलभेदज्ञः षट्स्थलज्ञानतत्परः ।
दीक्षाकर्मादिकुशलः षडध्वज्ञानवत्सलः ।।
शिवस्य च गुरोर्भक्तः शिवैकाहितमानसः ।
शिवार्चनासक्तचित्तः शिवध्यानैकतत्परः ।।[१]

"Guru is one who is virtuous, learned, capable of manifesting supreme bliss, knower of philosophical principles, devotee of Śiva, able to bestow salvation, knower of Śaiva philosophy, knower of the mantras and the process of rituals, merciful, unattached to worldly life, devoid of jealousy, possessor of the definite knowledge of all metaphysical and religious principles from action to knowledge, i.e. the four processes called Kriyā, Caryā, Yoga and Jñāna, scion of the family of Gurus, possessor of the knowledge handed down through tradition (of teacher and pupil), fully conversant with the difference between Liṅgasthala and Aṅgasthala, engrossed in explaining the mystery of Ṣaṭasthalas, expert in the Dīkṣā and other Karmas, delighted with the knowledge of the Ṣaḍadhvas, devoted to Śiva and Guru, fully engrossed in Śiva, engaged mentally in the worship of Śiva and intensely devoted to meditation on Śiva." According to Pārameśvarāgama the Guru should be :

सर्वलक्षणसंपन्नं सर्वज्ञं सर्वसंमतम् ।।
सदाचाररतं शुद्धं शिवभक्तमलोलुपम् ।
यथार्थवादिनं शान्तं द्वेषासूयादिवर्जितम् ।।
विदिताखिलशास्त्रार्थमिङ्गितज्ञमनाकुलम् ।
अनर्थातुरमात्मज्ञमकामुकमवञ्चकम् ।।
वाग्मिनं शिवतत्त्वार्थबोधकं हृष्टमानसम् ।
एतादृशगुणोपेतमुपेयाद् गुरुमीश्वरम् ।।[२]

"He is possessed of all auspicious signs, omniscient, respected by one and all, follower of sadācāra, pure by nature, a devotee of Śiva, speaker of the truth, free from anger and jealousy, knower of all the śāstras, devoid of sufferings, free from the greed of wealth, free from

1. Ibid, kri. pā, 2.48-52
2. Pārameśvarāgama, kri, pā, 2.63-66
See. Sūkṣmāgama, kri, pā, 2.61-64

desires, free from cheating of others, orator, the preacher of the tenets of Śaiva philosophy, possessed of delighted mind. A disciple should approach such a virtuous Guru.''

Duṣṭagurulakṣaṇam :

While defining the Guru, Pārameśvarāgama has used an epithet सर्वलक्षणसम्पन्न i.e Guru should be possessed of all auspicious signs. This adjective suggests that the person who bears inauspicious signs cannot be the Guru. Candrajñānāgama describes the bad features that make a person not eligible to be a Guru.

''He who is addicted to evil practices, hump-backed, ill-tempered, crooked, unsteady, having more or less limbs, sinful, plaintiff, sick; irrational, brave, foul-mouthed like a crow, abuser of Guru, gods and brahmins, large-lipped, having curved nose, quarrelsome, selfish, cunning, should not be accepted as Guru.''[1]

Guru should be Gṛhastha only :

गुरुर्गृहस्थ एव स्यान्न कदाचिद्यतिर्गुरुः ।
वानप्रस्थयतीनां तु गुरुत्वं निष्फलं भवेत् ।।[२]

Guru should be a family man. A sage can never be accepted as Guru. According to this statement of the Āgama it is clear that formerly Vīraśaiva Guru was a house-holder. In course of time such a custom has become fully changed and the Vīraśaiva Guru has been a yati only. The words of Sūkṣmāgama that स्त्रीसङ्गरहितः[३] (a Guru should not be in the association of woman) approves the idea.

Only one Guru for a family :

In Vīraśaivism the theory of many Gurus for a family is not accepted. All the family members should have one Guru. Sūkṣmāgama states :

पितृभ्रातृकलत्राणां पुत्रादीनां तथैव च ।
दीक्षाशिक्षाविधानार्थमेक एव गुरुर्भवेत् ।।

---

1. Candrajñānāgama, kri. pā, 2.31-64
2. Ibid, kri, pā, 2.53
3. Sūkṣmāgama, kri. pā, 5.5

गुरवो यत्र बहवो भवन्त्यन्योन्यभेदतः ।
वीरशैवसदाचारस्तत्र नास्तीति निश्चयः ।।[१]

"Only one Guru should be resorted to by father, brother, wife, children and others for Dīkṣā, Śikṣā, etc. If each member of a family has his or her own Guru, it is certain that Vīraśaiva sadācāra has been violated in that family." Pārameśvrāgama warns a devotee saying that he who changes Guru will live like a caṇḍāla in this world and goes to the hell after his death :

अतिक्रम्य गुरुं यस्तु गुरुमन्यं समाश्रयेत् ।।
स जीवन्नेव चाण्डालो मृतो नरकमश्नुते ।[२]

Therefore Vīraśaivas should follow only one Guru for their entire family and change of a Guru is strictly prohibited.

Three kinds of Guru :

Guru is of three kinds as Dīkṣāguru, Śikṣāguru and Jñānaguru. Such a division is made on the basis of the three functions performed by him. He is called Dīkṣāguru when he performs Śivadīkṣā to a disciple[3]. Śikṣāguru is one who instructs the disciple that Guru, Liṅga and Jaṅgama are one and the same form of Liṅga[4]. Jñānaguru is one who inculcates the knowledge of Śivādvaita[5]. Sūkṣmāgama calls these three kinds of Guru as Dīkṣāguru, Śikṣāguru and Anubhāvaguru–
दीक्षा शिक्षाऽनुभावश्च गुरुलिङ्गं त्रिधा भवेत् ।[६]

2. LIṄGAM

Liṅga is the second Āvaraṇa among Aṣṭāvaraṇas. Sūkṣmāgama explains the term Liṅga as :

लिकारो लयबुद्धिस्थो बिन्दुना स्थितिरुच्यते ।
गकारात् सृष्टिरित्युक्ता लिङ्गं सृष्ट्यादिकारणम् ।।[७]

---

1. Ibid, kri, pā, 5.29-30
2. Pārameśvrāgama, 2. 103-104
3. Sūkṣmāgama, kri, pā, 8.10-11
4. Ibid, kri, pā, 8.12
5. Ibid, kri, pā, 8.13
6. Ibid, kri. pā, 8.10
7. Ibid, kri, pā, 6.5

'Li' indicates 'laya' (destruction), bindu indicates 'sthiti' (preservation) and 'ga' indicates srsti (creation). Thus Liṅga is the cause of creation, preservation and destruction of this world.'' Candrajñānāgama also states the nature of Liṅga as follows :

जठरे लीयते सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम् ।
पुनरुत्पद्यते यस्मात् तद्ब्रह्म लिङ्गसंज्ञकम् ।।[१]

''All the animate and the inanimate remain absorbed into the stomach of this Liṅga and again emanate from it. Hence it is the Brahman designated as the Liṅga.'' Śaivāgamas call Śiva and Śakti as nāda and bindu respectively. The communion of Śiva and Śakti is the Liṅgatattva, which is said to be the world-cause. It is stated in Candrajñānāgama as :

बिन्दुनादात्मकं सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम् ।
बिन्दुः शक्तिः शिवो नादः शिवशक्त्यात्मकं जगत् ।।
बिन्दुनादात्मकं लिङ्गं जगत्कारणमुच्यते ।[२]

Pārameśvarāgama also gives the same explanation in different words[3]. Thus Liṅgasvarūpa is described in the Śaivāgamas.

It will be noted here that the definition of Liṅga described in these Āgamas is in full agreement with the Brahmasvarūpanirūpaṇa of Upaniṣads. For instance ''यतो व इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयत्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद् ब्रह्म ।''[४] ''लिङ्गं तद् ब्रह्मसंज्ञितम्''[५] ''सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान् इति शान्त उपासीत ।[६] ''लिङ्गं ब्रह्म शाश्वतम् ।''[७] etc. In

---

1. Candrajñānāgama, kri, pā, 3.8
   Cf : लीनं प्रपञ्चरूपं हि सर्वमेतच्चराचरम् ।
   सर्गादौ गम्यते यस्मात् तस्माल्लिङ्गमुदीरितम् ॥– Sū.Ā, kri.pā, 6.6
   Siddhānta Śikhāmaṇi, 6.16
2. Candrajñānāgama, kri, pā, 3.13,16
3. मम लिङ्गमिदं सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम् ।
   –Pārameśvarāgama, 2.4
4. Taittirīyopaniṣad, 3.1
5. Liṅgadhāraṇacandrikā, P. 118
6. Chāndogyopanisad, 3.14.1
7. Siddhānta Śikhāmaṇi, 6.16 (ORI, Mysore, 1995).

this manner the words Liṅga and Brahman are stated as synonyms. Thus what is stated in the Upaniṣads by the term Brahman, the same has been described in the Āgamas by the word 'Liṅga'. Therefore Sūkṣmāgama states :

लिङ्गं शैवमिदं साक्षाच्छिवशक्त्युभयात्मकम् ।
ध्यातव्यमर्चनीयं च भुक्तिमुक्तिफलेच्छुना ।।[१]

"A devotee who desires to get enjoyment and liberation should cherish in mind and worship this Śivaliṅga, which is of the nature of Śiva and Śakti."

Three kinds of Śivaliṅga :

शिवलिङ्गस्वरूपं ते वक्ष्यामि शृणु पार्वति ।
इष्टलिङ्गं प्राणलिङ्गं भावलिङ्गमिति त्रिधा ।।[२]

"Iṣṭaliṅga, Prāṇalinga and Bhāvalinga are the three kinds of Śivaliṅga." The worship of Śivalinga is of two types as 'antarliṅgopāsanā' (internal worship) and 'bahiraṅgopāsanā' (external worship). The worship of Liṅga shines in the form of light in mūlādhāra (base of spine), hṛdaya (heart) and bhrūmadhya (between the eye-brows), etc., is called 'antarliṅgopāsanā'. The worship of Liṅga made of stone, etc., which is the very form of Jyotirliṅga present internally, is called 'bahiraṅgopāsanā'. The individual soul (Jīvātma) has three bodies, viz., Sthūla (gross), Sūkṣma (Subtle) and Kāraṇa (causal body). The worship of three Liṅgas is related to these three bodies. Iṣṭaliṅga is related to Sthūlaśarīra, Prāṇaliṅga to Sūkṣmaśarīra and Bhāvaliṅga to Kāraṇaśarīra. Candrajñānāgama explains this as follows :

इष्टं स्थूलतनोः प्रोक्तं प्राणं सूक्ष्मतनोः स्मृतम् ।
भावाख्यं कारणस्यैव तनुत्रयगतं त्रयम् ।।
पूजयन्निष्टलिङ्गं तु निध्यायन् प्राणलिङ्गकम् ।
भावयन् भावलिङ्गं वै मृत्युपाशांश्छिनत्ति सः ।।[३]

"Therefore the devotee after receiving the Dikṣā and instruction from Guru remains engrossed in worshipping the Iṣṭaliṅga, meditates

---

1. Sūkṣmāgama, kri. pā 6.7
2. Ibid, kri, pā, 8.14
3. Candrajñānāgama, kri. pā, 3.45, 48

on the Prāṇaliṅga and contemplating on the Bhāvaliṅga. As a result of that his bondage of death is shattered.'' By the worship of these three Liṅgas, an Individual soul (Jivātma), who is called in Vīraśaiva terminology as 'Aṅga' becomes 'Liṅga' and releases it from the bondage of death. Now let us examine the features of Iṣṭaliṅga, Prāṇaliṅga and Bhāvaliṅga.

IṢṬALIṄGA :

Śivaliṅga graced by a Guru, which is made of stone, etc., size of a thumb during kriyādīkṣā is called Iṣṭaliṅga. Since the worship of it bestows attainments and eliminates all the undesired things of a devotee, it is called Iṣṭaliṅga. Candrajñānāgama states :

सकलं दृक्कलाग्राह्यमिष्टलिङ्गं प्रकीर्तितम् ।
इष्टसिद्धिकरं सम्यगनिष्टपरिहारकम् ।।[१]

''That which is sakala (is with form) and can be apprehended by all the sense organs like eyes, etc., is called Iṣṭaliṅga. This Liṅga bestows attainments and eliminates the adverses.'' Sūkṣmāgama defines the nature of Iṣṭaliṅga thus–

दीक्षाविधानाद् गुरुणा मल्लिङ्गं दत्तमादरात् ।
मन्त्रोपदेशसहितम् इष्टलिङ्गमुदाहृतम् ।।[२]

''The Liṅga given with favour by the Guru during Dīkṣā ceremony along with mantropadeśa, is termed Iṣṭaliṅga.''

The places of wearing Iṣṭaliṅga :

Vātulaśuddhāgama mentions the places where Iṣṭaliṅga is to be worn on the body of a devotee thus :

मूर्ध्नि कण्ठे भुजे हस्ते हृत्स्थले नाभिमण्डले ।
एतेषामेकदेशे तु धारयेत् शिवलिङ्गकम् ।।[३]

''Iṣṭaliṅga should be worn on any one of the following parts of one's body– the head, the neck, the arms, the hands, the chest or the

1. Ibid, kri. pā, 3.25
2. Sūkṣmāgama, kri. pā, 8.15
3. Vātulaśuddhāgama, 10.36 (ORI, Mysore)
   Cf : मूर्ध्नि वा कण्ठदेशे वा कक्षे वक्षःस्थलेऽपि वा ।
   कुक्षौ हस्ततले वापि धारयेल्लिङ्गमैश्वरम् ।।– Siddhānta Śikhāmaṇi, 6.51

naval.'' Devotee is released from kārmikamala (impurity of karma) present in his sthūlaśarīra (or gross body) as a result of wearing Iṣṭaliṅga on his gross body.

PRĀṆALIṄGA :

The Cidrūpa of self infused by the Guru during Mantradīkṣā is called Prāṇaliṅga. As the worship and anusaṁdhāna of Prāṇaliṅga is very fruitful, Candrajñānāgama describes its nature and worship as follows–

आधारे कनकप्रख्यं हृदये विद्रुमप्रभम् ।
भ्रूमध्ये दीपसंकाशं प्राणलिङ्गं प्रकीर्तितम् ।।
ज्योतिर्लिङ्गमिदं विद्वन् ध्यानस्थानं महेशितुः ।
ज्योतिर्लिङ्गं विभाव्यैव तत्र ध्येयः परः शिवः ।।
प्राणेष्वन्तर्मनःस्थानं हृदयाब्जगतं शिवम् ।
लिङ्गं यत् तदिह ग्राह्यं प्राणलिङ्गसमाह्वयम् ।।
ज्योतीरूपं तदेव स्यात् स्थानं मुख्यं महेशितुः ।
तत्र निध्यायमानं तु शम्भुर्मोचयतेऽचिरात् ।।[1]

''The nature of Prāṇaliṅga is regarded as of golden hue in mūlādhāra, of coral hue in the heart, of the nature of a lamp in between the eyebrows. Hence, Prāṇaliṅga is to be contemplated in those forms in the respective places. It should be known as Jyotirliṅga, which should be meditated upon of Śiva and concentrating on the Jyotirliṅga, one should meditate upon Paraśiva. The places of benign Prāṇaliṅga is the lotus of the heart, which is the receptacle of the mind inside the vital airs. The Liṅga worshipped only by the mind, is termed here as Prāṇaliṅga. This lustrous place has been considered to be the main abode of Maheśvara. If meditated upon on this abode, Lord Śiva releases the devotee immediately.'' This Liṅga resides in the Sūkṣmaśarīra (subtle body) and burnt the Māyīyamala present in it.

---

1. Candrajñānāgama, kri, pā, 3.33-36
   Cf : त्यक्तदेहेन्द्रियगुणः शिवार्पितनिजान्तरः ।
   शिव एव मनो लीनं प्राणलिङ्गं तदुच्यते ॥– Sū. Ā, kri. pām 8.16
   See. Siddhānta Śikhāmani, 12.6-20

BHĀVALIṄGA :

The Śivaliṅga established by Guru in the Kāraṇaśarīra (causal body) of the devotee is called Bhāvaliṅga. As a result of wearing this Liṅga, an impurity named āṇava is eradicated. Candrajñānagama defines the Bhāvaliṅga as :

सच्चित्सुखमयं शान्तमादिमध्यान्तवर्जितम् ।
निष्कलं शाम्भवं यत्तद्रूपं रूपमुच्यते ।
तद्भावनास्पदं विद्वन् भावलिङ्गं प्रकीर्तितम् ।।
भावग्राह्यं मनोऽतीतं भावाभावपरं शिवम् ।
कलासर्गकरं सत्यं भावलिङ्गं प्रकीर्तितम् ।।[१]

That form of Lord Śiva, which is characterised by sat (existence) cit (consciousness) and ānanda (bliss), which is Śānta (tranquil), which is devoid of beginning, middle and end (ādimadhyāntarahitam), which is formless (niṣkala) is known as Bhāvaliṅga. This can only be attained through conceptual meditation. This transcendental category is beyond both the positive and negative state of being. This auspicious state can only be realised through reflective contemplation. This is the real cause of Kalā. So it is termed as Bhāvaliṅga.[2]

Worship of three Liṅgas :

A devotee after receiving three kinds of Dīkṣā and instruction from the Guru, remains engrossed in worshipping the Iṣṭaliṅga. By worshipping the Iṣṭaliṅga, while meditating on the Prāṇaliṅga and conceiving an idea of the Bhāvaliṅga, the devotee cuts asunder the fetters of transmigration.

पूजयन्निष्टलिङ्गं तु निध्यायन् प्राणलिङ्गकम् ।
भावयन् भावलिङ्गं वै मृत्युपाशांश्छिनत्ति सः ।।[३]

Devotee should worship Iṣṭaliṅga, Prāṇaliṅga and Bhāvaliṅga without making any distinction between them. Firstly, devotee should

---

1. Candrajñānāgama, kri. pā, 3.37-38
2. जाग्रदादिष्ववस्थामु ज्योतिर्लिङ्गैक्यमानसम् ।
   अज्ञानविनिवृत्तं च भावलिङ्गं तदुच्यते ।।– Sūkṣmāgama, kri, pā, 8.17
3. Candrajñānāgama, kri. pā, 3.48

worship the Iṣṭaliṅga with the materials of worship such as Bhasma, sandal paste, akṣatas, flowers, etc., and conclude by offering naivedya. The meditation on Iṣṭaliṅga is Prāṇalṅgārcana. The absorption of all mental processes in the Iṣṭaliṅga is Bhāvaliṅgārcana. A devotee should worship Iṣṭaliṅga once, twice or thrice a day. One who worships Prāṇaliṅga with devotion is called as Vīraśaiva, the best among all Śaivas.

भावप्राणेष्टलिङ्गानि पूजयेदेकभावतः ।
पृथग्भावं न कुर्वीत प्राणलिङ्गपरो यतः ।।
स्नापनं प्रथमं कृत्वा ततो गन्धानुलेपनम् ।
अक्षतांश्च समर्प्याथ पुष्पैः सम्पूजयेत् ततः ।।
निवेदयित्वा नैवेद्यं ततस्ताम्बूलमर्पयेत् ।
एवं समर्चनं कुर्यादिष्टलिङ्गस्य पार्वति ।।
तद्ध्यानं मनसा यत्र प्राणलिङ्गार्चनं मतम् ।
मनोवृत्तिलयस्तत्र भावलिङ्गस्य पूजनम् ।।
एककालं द्विकालं वा त्रिकालं वापि शाङ्करि ।
पूजयेन्नियतं लिङ्गं प्राणलिङ्गपरायणः ।
एवं यः कुरुते भक्त्या प्राणलिङ्गार्चनं सदा ।
वीरशैवः स विज्ञेयः सर्वशैवोत्तमोत्तमः ।।[१]

Six kinds of Liṅgas :

The three Liṅgas mentioned above are again divided into two each. Thus, there are in all six Liṅgas. Bhāvaliṅga is divided into Mahāliṅga and Prasādaliṅga; Prāṇaliṅga into Caraliṅga and Śivaliṅga and Iṣṭaliṅga into Guruliṅga and Ācāraliṅga[2]. Among them Ācaraliṅga is said to be of the nature of Sadyojātamukha, Guruliṅga of Vāmadevamukha, Śivaliṅga of Aghormukha, Caraliṅga of Tatpuruṣa-mukha and Mahāliṅga of absolute form of Śiva Himself.[3] Thus Candrajñānāgama explains the nature of six Liṅgas. These six Liṅgas are related to ṣaṭsthalas, namely, Bhakta, Maheśvara, Prasādī,

1. Sūkṣmāgama, kri. pā, 6.44-47, 51-52
   Cf. Siddhānta Śikhāmaṇi, 12.15-20
2. Candrajñānāgama, kri. pā, 3.26-27
   Sūkṣmāgama, kri. pā, 8.4-5
3. Candrajñānāgama, kri. pā, 3.28-30

Prāṇaliṅgī, Śaraṇa and Aikya respectively. These six Liṅgas should be worshipped with the six kinds of Bhaktis, namely, śraddhā, nīṣṭhā, avadhāna, anubhava, ānanda and samarasa which belong to ṣaṭsthalas respectively. Then he should offer six things, namely, gandha, rasa, rūpa, sparśa śabda and saṅkalpa to the six Liṅgas and receive them as prasāda.[1]

3. JAṄGAMA

This world is made up of Sthāvara (immovable) and Jaṅgama (movable). These two are the very forms of Lord Śiva.[2] In the Vīraśaiva philosophy Śivaliṅga (acara) in the form of Sthāvara and Śivajñānin (cara) in the form of Jaṅgama are prescribed. Hence it is understood that the Jaṅgama which is considered as the third Āvaraṇa among Aṣṭāvaraṇas, is the Śivajñānin. This Śivajñānin is well known as cara, caraliṅga also.

एक एव शिवः साक्षात् सर्वानुग्रहकारकः ।
गुरुजङ्गमलिङ्गात्मा वर्तते भुक्तिमुक्तिदः ।।[3]

According to this statement of Siddhānta Śikhāmaṇi Guru, Liṅga and Jaṅgama are the three forums of Śiva. Hence the statement "एकमूर्तिस्त्रयो भागा गुरुर्लिङ्गं तु जङ्गमः"[4] attains importance. The nature of Guru and Liṅga is already discussed. Let us examine the nature of Jaṅgama as described in the Śaivāgamas.

Two kinds of Jaṅgama :

Jaṅgama is of two kinds as 'Māntrika jaṅgama' and 'Sahajajaṅgama'. The Liṅga invoked by the power of mantra is Māntrikajaṅgama. It is also called Iṣṭaliṅga or Acaraliṅga. This is worn by the vīraśaivas. The Sahajājaṅgama is called Māheśvara.[5]

---

1. Kāraṇāgama, kri. pā, 7. 60-65
2. जङ्गमं स्थावरं चेति शम्भो रूपद्वयं स्मृतम् ।– Candrajñānāgama, kri. pā, 4.4
3. Siddhānta Śikhāmaṇi, 9.59
4. Kāmikāgama
5. जङ्गमं द्विविधं प्रोक्तं मान्त्रिकं सहजं त्विति ।
मान्त्रिकं मन्त्रसामर्थ्यादावाहितमुदीरितम् ।
ध्रियमाणं महाशैवैश्वरलिङ्गादिकं मुने ।।
सहजं जङ्गमं माहेश्वर इत्यभिधीयते ।– Candrajñānāgama, kr. pā, 4.6-7

Synonyms of Jaṅgama :

Sahajajaṅgama is also called as maheśvara, cara, bhakta, śaiva, nirābhārī, avadhūta, saṁnyāsin, yogin, pāśupata, liṅgī, vīra, vīraśaiva, vīramāheśvaram yati– These are the different names of Sahajaṅgama.[1]

Three stages of Sahajajaṅgama :

Candrajñānāgama mentions the three stages of Sahajajaṅgama. They are–Brahmacārī, Gṛhī and Nirābhārī. Among them Gṛhī is superior to Brahmacārī and Nirābhārī is superior to Gṛhī. They are to be worshipped as per the rites :

ब्रह्मचारी गृही चैव निराभारीति ते त्रयः ।
यथोत्तरं विशिष्यन्ते पूजनीया यथाविधि ।।[२]

Characteristic features of a Jaṅgama :

Candrajñānāgama narrates the characteristic features of a Jaṅgama. It gives a list of ten external and three internal characteristics. The external characteristics are as follows– besmearing of Bhasma, wearing of Rudrākṣa and Iṣṭaliṅga; serving the Guru; reciting the Śivastotras, reciting the name of Śiva, worship of Śiva, enquiring into the inner meaning of the Śaivāgamas, listening to Śivapurāṇas, saluting the Jaṅgamas, serving food to the devotees of Śiva and donating the desired objects to Guru and Jaṅgamas. The internal characteristics of a Jaṅgama are : Mānasajapa, mānasīpūjā and svāntaḥ śivasākṣātkāra (i.e. the realisation of Lord Śiva as one's own self).[3] The characteristics mentioned here are related to the first two categories of Jaṅgama, namely, Brahmacārī and Gṛhī. Let us examine the characteristics of Nirābhārī Jaṅgama.

Characteristics of Nirābhārījaṅgama :

Nirābhārī is again divided into Svatantranirābhārī and Vaidika nirābhārī. Svatantranirābhārī is he who has left his wives, children etc., who is either clean shaven or with matted hair, who holds a stick,

1. Candrajñānāgama, kri. pā, 4.7
Pārameśvarāgama, 10-67-68
2. Candrajñānāgama, kri. pā, 4.8
3. Ibid, kri. pā, 4.12-19
Cf. Pārameśvarāgama, 9. 58-63

who wears the saffron clothes and who moves around the world. Vaidikanirābhārī is that Jaṅgama who moves around the world with full freedom wearing the sacred thread, putting crest on the head, bearing the stick and wearing saffron clothes. Above mentioned Nirābhārījaṅgamas wear Iṣṭaliṅga on their body.[1] Having described the particular lakṣaṇas to each one, Candrajñānāgama now narrates the lakṣaṇas common to both thus :

निस्पृहो निजलिङ्गैक्यो भिक्षाशी भयवर्जितः ।
मौनी भूतदयायुक्तो निराभार इति स्मृतः ।।
कन्थाकमण्डलुधरो भूतिरुद्राक्षसंयुतः ।
दण्डकौपीनधारी च निराभारीति गीयते ।।
निराभाराश्रमस्तस्य सम्भवे तस्य सन्निधौ ।
ग्राह्योऽयमाश्रमस्तस्य मुखाद्धि प्रणवोऽपि च ।।
असम्भवे तादृशस्य शिवागारेऽथवा पुनः ।
विल्वमूले परिग्राह्यो भवतीश्वरशासनात् ।।
प्रणवे जप्यमानेऽपि सूक्ष्मपञ्चाक्षरात्मनि ।
स्थूलपञ्चाक्षरः शैवो न वर्ज्यो यतिभिः सदा ।।[२]

"Nirābhārījaṅgama is desireless, one who has achieved union with the Iṣṭaliṅga, depends on alms, fearless, observes silence, cherishes compassion for all beings, wears kanthā (wallet for alms) and holds kamaṇḍalu (water pot), besmears Bhasma, wears Rudrākṣa and holds a stick and wears kaupīna. This Jaṅgama should take Dīkṣā and receive the instruction of Praṇavamantra as far as possible in the presence of a Nirābhārījaṅgama, who resides in the same hermitage. In case no such Nirābhārī is available, one should receive the Nirābhāradikṣā in the Śiva temple, or under the Bilva tree as prescribed in the śāstras. Nirābhārī should never abandon the muttering of Sthūlapañcākṣara mantra (gross five syllabled hymn) during the meditation on Prāṇava in the form of Sūkṣmapañcākṣara mantra.[3]"

1. Candrajñānāgama, kri. pā, 10.42-44
2. Ibid, kri. pā, 10.45-49; Sūkṣmāgama, kri. pā, 7.64-67; Pārameśverāgama, 15.54-69
3. For the explanation of Sūkṣma and Sthūlapañcākṣara mantras see candrajñānāgama, kri. pā, 11.43-46

Pārameśvarāgama adds some more characteristics of a Nirābhārījaṅgama. They are as follows– "Nirābhārī should reside only in a forest; he should never enters the house of a family holder. In case the devotees have invited him and offer alms, he should not think of taste, comfort, etc. He should not take into account respect or insult, praise nor condemnation. Jaṅgama should not see the face of women, nor should he listen to their humerous talks; he should not travel freely with others and common men. He should sleep on the ground. He should never use perfumes, do not see dance, etc."[1]

Three kinds of Jaṅgama :

According to Sūkṣmāgama, Jaṅgama is of three kinds– Svayajaṅgama, Carajaṅgama and Parajaṅgama[2].

Svayajaṅgama :

लिङ्गलाञ्छनसंयुक्तं बाह्यकर्मविवर्जितम् ।
केवलानन्दरूपं यत् स्वयलिङ्गमितीरितम् ।।[३]

"One who wears the Iṣṭaliṅga, who has abandoned all external activities (except the worship of the Iṣṭalinga and who is in the form of inner bliss, is called Svayahṅga (Svayajaṅgama)."

Carajaṅgamȧ :

स्वच्छन्दचारी स्वाभिन्नलिङ्गरूपो निराकुलः ।
भेदभ्रान्तिविहीनो यश्चरलिङ्गं स उच्यते ।।[४]

"He who wanders at will, who is of the nature of the Liṅga not different from himself, who is not disturbed by anything and who is free from the delusion of duality, is called Caraliṅga (Carajaṅgama)."

---

1. Pārameśvarāgama, 15.59-69
2. चरलिङ्गस्थलस्यास्य स्वरूपं कथयामि ते ।
   स्वयं चरं परं चेति त्रैविध्यं समुपागतम् ॥
3. Ibid, kri. pā, 8.18
   Cf. Siddhānta Śikhāmani, 15.51-56
4. Sūkṣmāgama, kri. pā, 8.19
   Cf. Siddhānta Sikhāmani, 15.57-63

Parajaṅgama :

निर्द्वन्द्वो हि सदा स्थाणुर्गमागमविवर्जितः ।
ज्योतिर्लिङ्गस्वरूपोऽयं परलिङ्गमुदाहृतम् ।।[1]

"He who is free from all conception of duality such as attachment and hatred, pleasure and sorrow, heat and cold, etc., who is always steady, who is free from the clutches of transmigration (coming and going) and who is of the nature of Jyotirliṅga, is called Paraliṅga (Parajaṅgama)."

Greatness of Jaṅgama :

Candrajñānāgama explains the greatness of Jaṅgama as follows :

ऐहिकामुष्मिका भोगा मोक्षस्तत्संगतो भवेत् ।
चरसंगस्तु सर्वेषां सर्वकामफलप्रदः ।।
तत्पादपांसुभिः पूतं भवनं चेतरद् वनम् ।
तद्यथाशक्ति संपूज्या जङ्गमा हि हितेप्सुना ।
यदमी मानुषाकाराः प्रत्यक्षपरमेश्वराः ।।[2]

"Not only the pleasures of this world and those of the other world but also liberation would accrue through the association with Jaṅgama. Hence, the association with Jaṅgama fulfils the desires of all beings. That which is purified by the dust of the feet of Jaṅgama is actually the home and all others (homes) are as good as forest. So, the person who desires his own welfare should worship the Jaṅgamas as per his capacity, because they are really the Lord Śiva in the form of human beings." Sūkṣmāgama also describes the Jaṅgama mahimā thus :

षट्स्थलज्ञानसंपन्नः षडङ्गाङ्गसमाधिमान् ।
आत्मवत् परद्रष्टा च स एवाहं न संशयः ।।
वीरशैवः परो यस्तु यत्र तिष्ठति पार्वति ।
तत्तीर्थं तत्तपः शान्तिस्तत्र तिष्ठामि सर्वदा ।।[3]

---

1. Sūkṣmāgama, kri.pā, 8.20
   Cf. Siddhānta Sikhāmaṇi, 15.64-71
2. Candrjñānāgama, kri. pā, 4.29-30
3. Sūkṣmāgama, kri. pā, 7.80-81

"One who is endowed with the knowledge of Ṣaṭsthalas, who is meditated on Ṣaḍaṅgāṅga samādhi, who sees everybody as himself, he alone is myself (Śiva), there is no doubt in it. The place where the Jaṅgama dwells is the pilgrimage, is the penance grove, is the place of tranquility and Śiva always stayed there." Similarly Yogajāgama also says :

दर्शनादर्चनास्तस्य त्रिसप्तकुलसंयुताः ।
जना मुक्तिपदं यान्ति किं पुनस्तत्परायणाः ।।[१]

"The sight and touch of a Jaṅgama accrues liberation to twenty one generation of his family members, then what one can say of a devotee who surrenders himself totally to the service of a Jaṅgama ?"

Greatness of Jaṅgamapūjā :

Bhakti or devotion is of three kinds as– Uttama (the best), Madhyamā (the middle) and Kaniṣṭhā (the inferior). According to Candrajñānāgama "the devotion towards Jaṅgama which is superior to that towards the Iṣṭaliṅga is called the best devotion. The devotion which is equal towards Iṣṭaliṅga and Jaṅgama is the middle kind of devotion. The devotion towards the Jaṅgama which is inferior to that towards Iṣṭaliṅga is the inferior kind of devotion. Having described the three kinds of devotion, the Āgama says that the learned should always follow the Uttamabhakti or the best kind of devotion."[2]

It is to be noted here that a devotee should have the same devotion towards Guru, Liṅga and Jaṅgama, the three worshipful Āvaraṇas among Aṣṭāvaraṇas. But in the present context in order to state the greatness of Jaṅgama Candrajñānāgama says that "the devotion towards Jaṅgama which is superior to that towards Iṣṭaliṅga is the Uttamabhakti (the best kind of devotion)." The merit of worshipping Jaṅgama is extold in the following lines :

सर्वतीर्थाभिषेकाच्च सर्वयज्ञविधानतः ।
सर्वदेवाराधनाच्च चरपूजा गरीयसी ।।

---

1. Quoted in Candrajñānāgama Vickāra Raśmi, p.61.
   Cf. Siddhānta Śikhāmaṅi, 11.41-44
2. Candrajñānāgama, kri. pā. 4.31-32

जङ्गमानसमच्च्यैव मत्पूजा क्रियते यदि ।
सा पूजा विफलैव स्यादित्येतच्छिवशासनम् ।।
तदात्महितमाकाङ्क्षमाणः सम्पूजयेज्जङ्गमान् ।
तेषां यथा मनस्तृप्तिः सैव पूजा निगद्यते ।।[१]

"The merit of worshipping the Jaṅgama is considered to be greater than that of having bath in sacred places, performing sacrifices and adoring all divine beings. The worship of a person becomes fruitless if he adores Śiva without worshipping Jaṅgamas. Hence, one who desires his well-being must worship Jaṅgama first."

4. BHASMA

Bhasma is the fourth Āvaraṇa. The word 'Bhasma' has two meanings, namely, paraśivaprakāśaḥ (the light of Śiva) and the Vibhūti prepared out of sacred ash of cowdung. There are such references as 'भस्म ज्योतिः समाम्नातम्'[२], 'भस्मेदं शाम्भवं ज्योतिः'[३], etc., in Candrajñānagama in support of the first meaning, i.e, Paraśivaprakāśa.

On account of the absence of the knowledge of the Paraśivaprakāśa in the heart, the Jīvātma revolves in the vicious circle of birth and death. In order to avoid such a calamity, the knowledge of the Paraśivaprakāśa is very essential. To understand that Jīvātma should meditate on self luminous Paraśiva in his heart. This kind of meditation of self Luminous Supreme Lord is called Nirupādhikabhasma.

The Vibhūti prepared out of the cowdung is the literal meaning of the term Bhasma. On account of besmearing of Bhasma of cowdung, the devotee becomes free from both physical and mental diseases and obtains eligibility to know the Supreme Lord, who is self luminous. A devotee should wear Bhasma on his body. This is described in the Śrutis. This Bhasma is called Sopādhika. Let us now examine the nature, kinds and uses of this Sopādhikabhasma.

Method of preparing Bhasma :

The method of preparing the Bhasma out of cowdung is described in

1. Ibid, kri. pā, 4.33, 36-37
2. Ibid, kri. pā, 6.64
3. Ibid, kri. pā, 6.66

detail in Candrajñānāgama[1] and Pārameśvarāgama.[2] Candrajñānāgama gives two methods of preparing Bhasma. The brief method of preparing Bhasma is described in Candrajñanāgama is as follows :

विधान्तरं प्रवक्ष्यामि भस्मसम्पादनं लघु ।
सद्येन गोशकृद् ग्राह्यं वामेन त्वभिमन्त्रयेत् ।।
अघोरेण दहेत् पिण्डं ग्राह्यं तत्पुरुषेण तु ।
नित्यमीशानमन्त्रेण स्वाङ्गे धार्यं प्रयत्नतः ।।[३]

"The cowdung should be received by reciting the Sadyojāta-mantra. It should be purified by uttering the Vāmadeva mantra. It should be burnt by reciting Aghora mantra and collected with Tatpuruṣa mantra. The Sādhaka should besmear carefully on his body by uttering Iśāna mantra."

Three kinds of Bhasma :

Candrajñānāgama has spoken of three kinds of Bhasma, namely, Śāntika, Pauṣṭika and Kāmada. These varieties are based on the method of collecting cowdung.[4]

1. Śāntikabhasma :

गोमयं योनिसम्बद्धं यद्धस्तेनैव गृह्यते ।
ब्रह्ममन्त्रैश्च संदग्धं तच्छान्तिकमिहोच्यते ।।[५]

According to this statement of Candrajñānāgama, the Bhasma which is prepared by the cowdung directly collected by hand (before it falls on the ground) and which is burnt by the Pañcabrahma mantras, is called Śāntikabhasma. It is so called because, the besmearing of this Bhasma on the body gives mental peace.

2. Pauṣṭikabhasma :

सावधानेन गोयोनिनिस्सृतं गोमयं तु यत् ।
अन्तरिक्षे गृहीत्वा तं षडङ्गेन दहेत् ततः ।
पौष्टिकं तु समाख्यातं.................. ।।[६]

---

1. Ibid, kri. pā, 6.6-28
2. Pārameśvarāgama, 17.44-49
3. Candrajñānāgama, kri. pā, 6.29-30
4. शान्तिकं पौष्टिकं भस्म कामदं च त्रिधा भवेत् ।– Ibid, kri. pā, 6.31
5. Ibid, kri. pā, 6.31
6. Ibid, kri. pā, 6.32

As per this statement of the Āgama the cowdung which is collected carefully before it reaches the ground and which is then burnt by reciting Ṣaḍaṅga mantra, is termed Pauṣṭika bhasma.

3. Kāmadabhasma :

सुशुद्धे भूतले दैवात् पतितं गोमयं तु यत् ।
प्रसादेन दहेदेवमेतत् कामदमुच्यते ।।[१]

The Bhasma prepared out of the cowdung which is naturally fallen on the duly purified ground and which is burnt by the recitation of Prasāda mantra is called the Kāmada bhasma. The besmearing of this Bhasma leads to the fulfillment of the desired objects of the devotes. Hence, it is so called.

Siddhānta Śikhāmaṇi, a digest of the Śaivāgamas, refers to four kinds of Bhasma, namely, Kalpa, Anukalpa, Upakalpa and Akalpa.[2] This division is made on the basis of the method of preparation. The first two varieties of the Bhasma mentioned in the Candrajñānāgama, viz., kāmada comes under Anukalpabhasma of the same.

Three kinds of Bhasmadhāraṇa :

The Bhasma prepared as per the above mentioned method and duly sanctified it with Pādodaka of the Guru and applying it on the body is Bhasmadhāraṇa. This is of three kinds as– Bhasmoddhūlanam, Bhasmāvaguṇṭhanam or Bhasmasnānam and Tripuṇḍradhāraṇam.

Bhasmoddhūlanam :

पञ्चभिर्ब्रह्मभिर्वाऽपि मूलमन्त्रेण वा पुनः ।
संमन्त्र्य निर्मलं भस्म तेन लिम्पेत् सुसंयतः ।
सर्वाङ्गमापादशिखमुद्धूलनमिदं स्मृतम् ।।[३]

"Besmearing of Bhasma carefully from the legs to the head without using the water by reciting the Pañcabrahma mantra or Pañcākṣara mantra is called Bhasmoddhūlanam."

---

1. Ibid, kri. pā, 6.33
2. Siddhānta Śikhāmaṇi, 7.13-17
   Cf. Brihajjābalopaniṣad, Śaivopaniṣads, Adyar, Madras. P. 103.
3. Candrajñānāgama, kri. pā, 6.41

Bhasmāvaguṇṭhanam or Bhasmasnānam :

भस्मस्नानविधिं वक्ष्याम्यशेषाघौघनाशनम् ।
भस्ममुष्टिं समादाय संहितामन्त्रमन्त्रितम् ।
मस्तकात् पादपर्यन्तं भस्मस्नानं समाचरेत् ।।[१]

"Taking a handful of Bhasma in the palm and duly purifying it with the mantras prescribed in Vedas, the devotee should besmear it from the head to the legs. This method of Bhsmadhāraṇa is called as Bhasmasnānam. It is also called as Bhasmāvaguṇṭhanam :

भस्मना मन्त्रितेनैव सजलेनानुलेपनम् ।
अवगुण्ठनमाख्यातं.................. ।।[२]

"Besmearing of the Bhasma mixed with the water purified by the mantras is called Bhasmāvaguṇṭhana." Kāraṇāgama states the greatness of Bhasmasnāna among other snānas as :

भस्मना विहितं स्नानमिदमाग्नेयमुत्तमम् ।[३]

Tripuṇḍradhāraṇavidhi :

त्रिपुण्ड्रं कारयेद्धीमान् ब्रह्मविष्णुशिवात्मकम् ।
मध्याङ्गुलिभिरादाय त्रिसृभिर्मूलमन्त्रितम् ।।[४]

"Learned should draw the Tripuṇdra (three horizontal lines) of Bhasma with three middle fingers on the forehead, etc., by the devotee. These three horizontal lines of Bhasma represnt Brahmā, Viṣṇu and Maheśvara respectively."

In the context of describing the places where the Bhasma is to be applied, Candrajñānāgama gives the four different alternatives. Accordingly, the Tripuṇḍraka should be applied in 32 places, 16 places, 8 places or 5 places of the body.[5] The proper reason for giving these

1. Ibid, kri. pā, 6.37
2. Ibid, kri. pā, 6.42
3. Kāraṇāgama, kṛi. pā, 3.44
   Cf. Siddhānta Śikhāmaṇī. 7.22
4. Candrajñānāgama, kri. pā, 6.43
5. द्वात्रिंशत्स्थानके वाथ षोडशास्थानकेऽथवा ।
   अष्टस्थाने तथा चैवं पञ्चस्थाने च योजयेत् ।।– Ibid, Kri. pā, 6.44

alternatives is not mentioned there. To this question one can find an answer in one of the Kannada Vacanas of Channabasavaṇṇa[1], a vacanakāra belongs to 12th century A.D. The purport of the Vacana is as follows : "Those devotees called Sahajaliṅgadhārakas, who are given the Iṣṭaliṅga within a few days after their birth (during naming ceremony) are required to apply Bhasma in eight places. Those who have undergone kriyādīkṣā alone and who are called Upādibhaktas should apply Bhasma in 16 places. Those devotees who have undergone Kriyādīksa and Mantradīkṣā and who are called Nirupādhikabhaktas should apply Bhasma in 32 places. Those devotees who have undergone Kriyādīkṣā, Mantradīkṣa and Vedhādīkṣā and who are called Sahajabhaktas should apply Bhasma in 36 places. Those who are endowed with Kriyādīkṣā, Mantradīkṣā, Vedhādīkṣā and Saccidānandadīkṣā and who are called Nirvañcanabhaktas should put Bhasma in 44 places. The Sadbhaktaśaraṇas who are consecrated through Kriyādikṣā, Mantradīkṣā, Vedhādikṣā, Saccidānandadīkṣā and Nirvāṇapadadīkṣā, should first smear themselves with Bhasma from head to feet and apply Tripuṇḍraka in 48 places." Thus according to the practice prevalent among the 12th century saints of Karnāṭaka, the number of places for applying the Tripuṇḍraka varies according to the standard of Dīkṣā the devotees have undergone. But the traces of these methods of applying Bhasma are found in the Āgamas. The three methods of applying Bhasmatripuṇḍraka in 36 places, 44 places and 48 places seem to have come into vogue during the times of Channabasavaṇṇa and others.

The list of 32 places where Bhasma Tripuṇḍraka should be made is found common in Kāraṇāgama and makuṭāgama where only one list is given. The 32 places of the body where Tripuṇḍraka should be applied is mentioned in the three Āgamas is as follows : "Head, forehead, two ears, two eyes, two nostrils, mouth, throat, two shoulders, two elbows, two wrists, chest, two lungs, naval, two Guhyas, two thais, two hips, two knees, two muscles of the legs and two

1. Channabasavaṇṇanavara Vacana Saṁgraha, Vacana No. 946
2. Candrajñānāgama, kri. pā, 6.45-57
3. Makuṭāgama, kri. pā, 2.13-16; Kāraṇāgama, kri. pā, 3.47-49; Candrajñānāgama, kri. pā, 6.45-46

feet.''[3] Siddhānta Śikhāmaṇi gives only one list in which the Tripuṇḍraka should be put on 15 places of the body.[1]

Bḥasmadhāraṇaphalam :

The smearing of Bhasma on the body produces the fruits of the Tīrthayātrā and destroys all the sins. Ghosts, evil spirits, demons, incurable diseases, etc., run away on the sight of the Bhasma. Candrajñānāgama states thus :

भस्मसंधारणादेव सर्वतीर्थफलं भवेत् ।
भस्मसंधारणात्सर्वं भस्मीभवति किल्बिषम् ।।
भूतप्रेतपिशाचाश्च महारोगाश्च दुस्सहाः ।
भस्मदर्शनमात्रेण पलायन्ते न संशयः ।।[२]

5. RUDRĀKṢA

Rudrākṣa is the fifth Āvaraṇa. Rudrākṣa etymologically means ''रुद्रस्य अक्षि रुद्राक्षः ।'' The meaning of the term Rudrākṣa is रुद्रदृष्टिः i.e 'Rudra's eye'. According to the Śruti statement 'सर्वो ह्येष रुद्रः'[३], 'एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः'[४] etc., the witnessing of this movable and immovable world as the forms of Rudra, is the meaning of the term Rudradrṣṭi. A seed of a particular kind of a tree produced from the drops of tears of Rudra is also called as Rudrākṣa. This is in accordance with the account of the origin of Rudrākṣa.

Origin of Rudrākṣa :

A puraṇic account is referred to in Brihajjābālopaniṣat, Rudrākṣajābalopaniṣat about the origin of Rudrākṣa. The same account is briefly quoted in Candrajñānāgama thus :

त्रिपुराणां वधार्थाय विभुना शम्भुना पुरा ।
उन्मीलितानि चक्षूंषि दिव्यं वर्षसहस्रकम् ।।
उभाभ्यां चारुपक्ष्मभ्यां पतिता जलबिन्दवः ।

1. Siddhānta Śikhāmaṇī, 7.53-57
2. Candrajñānāgama, kri. pā, 6.65-67
3. Mahānārāyaṇīyopaniṣat, 10.11
4. Śvetāśvataropaniṣat, 3.2

त एव बिन्दवो जाता महारुद्राक्षवृक्षका: ।
स्थावरत्वमनुप्रापु: भक्तानुग्रहकारणात् ।।[१]

"Formerly Lord Śiva opens his eyes for the destruction of the three cities (Tripuras) and gazed continuously for one thousand years. Tears started dropped down from the eyes and fell on the ground which produced the great Rudrākṣa trees. The trees became firmly established for the favour of the devotees."

Three kinds of Rudrākṣa :

Candrajñānāgama speaks of three kinds of Rudrākṣas as the best (Uttama), the middle (madhyama) and inferior (adhama) one on the basis of the size. The Rudrākṣa of the size a Dhātrīphala (Āmalaka) is the best; that of the Badarīphala (jujube fruit) is the middle type and that of the size of Bengalgram is the lower type[2]. Further, the same Āgama states the best and middle varieties of Rudrākṣa in a different way. Accordingly, the Rudrākṣa that naturally possesses the hole is the best and the Rudrākṣa in which the hole has to be made by man is the middle one.[3]

Auspicious and Inauspicious Rudrākṣas :

Before wearing Rudrākṣa, one should examine them carefully The Rudrākṣas which possess the colour of the copper, which are glossy, which are hard, which are big and which are full of granules, are considered to lose auspicious. On the contrary, the six types of Rudrākṣas which are eaten by worms, which are broken, which are without granules, which are full of wounds and which are unshapely, should be abandoned by the devotees.[4]

Rudrākṣadhāraṇa-places and Numbers :

According to Candrajñānāgama, kāraṇāgama and makuṭāgama, the number and places where Rudrākṣas are to be worn are as follows : "One Rudrākṣa on the knot of hair on the head, thirty on the head, 32

1. Candrajñānāgama, 7.4-5
   Cf. Siddhānta Śikhāmaṇi, 7.47-48
   Bṛhajjābalopaniṣat, 7.8
2. Candrajñānāgama, kri. pā, 7.9-10
3. Ibid, kri. pā, 7.15
4. Ibid, kri. pā, 7.14

around the neck, 16 each on both the arms, 12 each on both the wrists, 500 on the shoulders. The garland of 108 Rudrākṣas should be used for recitation of mantras. One should wear garland of Rudrākṣas for two, three, five, seven, or ten rounds (strings) around the neck. The wearing of 300, 500 and 1000 Rudrākṣas is considered to be of inferior type, middle type and the best type respectively. One should always wear Rudrākṣas while sleeping, walking, eating, drinking, etc.''[1]

Wearing of Rudrākṣa with recitation of Mantra :

Rudrākṣadhāraṇa should be made on the different parts of the body with the recitation of proper mantras. This is stated in the Makuṭāgama and the Candrajñānāgama thus :

शिरसीशानमन्त्रेण कण्ठे तत्पुरुषेण च ।
अघोराख्येन मन्त्रेण करयोर्धारयेत् सुधीः ।
पञ्चाशदक्षसहितां व्योमव्यापीति चोदरे ।।
पञ्चब्रह्मभिरङ्गैश्च त्रिमाला पञ्च सप्त च ।
अथवा मूलमन्त्रेण सर्वाण्यक्षाणि धारयेत् ।।[२]

A learned devotee should wear the Rudrākṣa on the head by reciting Īśāna mantra, on the neck by Tatpuruṣa mantra, on the hands by Aghora mantra; a garland of 50 beads should be worn on the stomach by Vyomaryāpi mantra. Three, five or seven strings of garlands of Rudrākṣas should be worn by uttering Pañcabrahma mantra and Ṣaḍaṇga mantra[3] or all the Rudrākṣas should be worn by uttering the Pañcākṣara mantra.

Rudrākṣamahimā :

The result of the sight of Rudrākṣa is million times more than the merit of donating a cow with a calf to a learned brahmin. A touch of Rudrākṣa produces billion times more results and wearing of

---

1. Ibid, kri. pā, 7.18-22; makuṭāgama, kri. pā, 2.17-19;
   Kāraṇāgama, kri, pā, 3.50-54
   Cf. Siddhānta Śikhāmaṇi, 7.54-58
2. Candrajñānāgama, kri. pā, 7.23-24; makuṭāgama, kri. pā, 2.20-22
3. हृदयाय नमः, शिरसे स्वाहा, शिखायै वषट्, कवचाय हुं, नेत्रत्रयाय वौषट्, अस्त्राय फट् – एतानि षडङ्गन्यासमन्त्राणि ।

Rudrākṣa is one hundred billion times more virtuous than that to the man. Devotees who recite mantras wearing the Rudrākṣas are regarded as endowed with hundreds of millions and thousands of million times the virtue of wearing the Rudrākṣa.[1] Candrajñānāgama further states at a length the greatness of Rudrākṣa on the basis of the number of faces of Rudrākṣas.[2]

6. MANTRA

Mantra is the sixth Āvaraṇa among Aṣṭāvaraṇas. मन्त्रयते गुप्तं परिभाष्यते or मन्त्रयते गुप्तं भाष्यत इति मन्त्रः ।[3] According to this interpretation, the meaning of the term 'mantra' is the very name of the desired deity of a devotee; mantra is taught by the Guru secretly in the context of Mantradīkṣā. By the recollection of the name of the Iṣṭadevatā, the devotee will be protected. Thus the name of the deity is termed here mantra. Hence, this etymology– मननात् त्रायते यस्मात् तस्मान्मन्त्रः प्रकीर्तितः । It is stated in the Upaniṣad as :

मननात् त्राणनाच्चैव मद्रूपस्यावबोधनात् ।
मन्त्रमित्युच्यते ब्रह्मन् मदधिष्ठानतोऽपि वा ।।[४]

Vātulaśuddhāgama explains the meaning of the term 'mantra' as follows :

मननं सर्वपक्षेषु त्राणं संसारसागरात् ।
मननत्राणधर्मित्वाद् मन्त्र इत्यभिधीयते ।।
यथाऽऽदरः स्वनाम्ना तु जनः सन्निहितो भवेत् ।
तथा मन्त्रप्रयोगेण तत्र सन्निहितः शिवः ।।[५]

As this mantra contains five syllables (नमः शिवाय) it is called Pañcākṣara mantra. It is said to be Ṣaḍakṣara mantra by adding the Praṇava (ॐ) in the beginning.

---

1. Candrajñānāgama, kri. pā, 7.6-8 & 45-48
2. Ibid, kri. pā, 7.25-39
3. Dr. Chandraśekhara śivācārya swamigelu, Śaktiviṣi ṣṭādvaitatattvatrayavimorśaḥ, p. 246
4. Yogaśikhopaniṣad, 2.7-8
5. Vātulaśuddhāgama, 5.8-9

Other names of the mantra :

Pārameśvarāgama and Candrajñānāgama mention the other names of this mantra as :

मूलं विद्या शिवं चैव सूत्रं पञ्चाक्षरस्तथा ।
नामान्यस्य विजानीयादोङ्कारो हृदयं मतम् ।।[१]

"Mūla, Vidyā, Śiva, Sūtra, Pañcākṣara are the names of this mantra and Oṁkāra is its heart."

Nature and greatness of the mantra :

Śaivāgamas describes the nature and greatness of Pañcākṣara and Ṣaḍakṣara mantra as follows :

नमःपदं वदेत् पूर्वं यान्तं शिवपदं ततः ।
प्रणवेन समायुक्तं षडक्षरमिति स्मृतम् ।।[२]

"The word 'namaḥ' should be recited first, then the word 'Śivāya'. It is said to be Ṣaḍakṣara mantra with the addition of praṇava in the beginning." This mantra is mentioned in all the Vedas and it gives all kinds of fruits to the devotee. This Pañcākṣara mantra preceeded by praṇava (i.e. षडक्षरमन्त्र) is called 'Mantrarājaḥ.'

वेदागमेषु सर्वेषु संस्थितोऽयं महामनुः ।
समस्तफलदस्तस्माज्ज्ञेयो वैदिकतान्त्रिकैः ।।
....
प्रणवेन युतो देवि मन्त्रराजः प्रकीर्तितः ।।[३]

According to Candrajñānāgama, the Pañcākṣara mantra is originated from the Paraśiva-brahman and again merges in it. Seven crores of great mantras with different forms and shapes originated from the Pañcākṣara mantra and again merge into it :

1. Candrajñānāgama, kri. pā, 8.17; Pārameśvarāgama, 11.44
   Cf: Siddhānta Śikhāmaṇi, 8.23
2. Sūkṣanāgama, kri. pā, 3.13; Candrajñānāgama, kri. pā. 8.5,9
   Pārameśvarāgama, 11.30-31
   Cf. Siddhānta Śikhāmaṇī, 8.17,13
3. Sūkṣmāgama, kri. pā, 3.14-16

परे पञ्चाक्षरोत्पत्तिः पुनस्तत्रैव लीयते ।
सप्तकोटिमहामन्त्रा रूपवक्त्रैरनेकधा ।
पञ्चाक्षरे प्रलीयन्ते पुनस्तस्माद् विनिर्गताः ।।[1]

The greatness of Pañcākṣara mantra lies in the fact that it is of the nature of all well known Pentads (pañcakas) in this world. This has been stated in the Sukṣmāgama as :

सर्वाणि पञ्चभूतानि तन्मात्राणां च पञ्चकम् ।
ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चापि तथा कर्मेन्द्रियाणि च ।।
पञ्चब्रह्माणि कृत्यानि पञ्चपञ्चात्मकानि च ।
तानि सर्वाणि बोध्यानि पञ्चवर्णैर्महामनोः ।।
लोके हि पञ्चधा यानि प्रसिद्धानि विशेषतः ।
ज्ञेयानि तानि सर्वाणि पञ्चाक्षरमयानि हि ।।[2]

''The five elements (pañcamahābhūtas), pañcatanmātras (subtle forms of śabda, sparśa, rūpa, rasa and gandha); pañcajñānendriyas (five sense organs– netra, śrotra, nāsikā, rasanā and tvak), pañcakarmendriyas (vāk, pāṇi, pāda, pāyu and upastha), pañcabrahmamantras (sadyojātaṁ prapadyāmi.....etc) and pañcakṛtyas (sṛṣṭi, sthiti, laya, tirodhāna and anugraha). Thus all the well known pañcakas in this world are of the nature of pañcākṣara mantra.

Ṛṣi, Devatā and Chandas of Pañcākṣara mantra :

While observing any religious duties one should follow the methods mentioned in the scriptures. For the observance of a Japa, Śaivāgamas have stated the Ṛṣi, Devatā, Chandas, Svara, Mukha, etc., of the Pañcākṣara mantra. Sūkṣmāgama states :

वामदेव ऋषिः पङ्क्तिश्छन्दो देवः शिवः प्रभुः ।
बीजं प्रणव एव स्यान्नमः शक्तिरुदाहृता ।
शिवाय कीलकं मोक्षे विनियोगः प्रकीर्तितः ।।[3]

---

1. Candrajñānāgama, kri. pā, 8.44-45
   Cf. पञ्चाक्षरेण मन्त्रेण पञ्चब्रह्ममनुस्तया ।।– Siddhānta Śikhāmaṇi, 8.21
2. Sūkṣmāgama, kri. pā, 4.58-61 (This view of the Āgama is almost repeated in siddhānta śikhāmaṇi, 8.14-16
3. Sūkṣmāgama, kri. pā, 3.23-24;

"Vāmadeva is the seer, Paṅkti is the metre, Śiva is the deity, Praṇava is the seed, Namaḥ is the śakti, Śivāya is the kīlaka. This mantra is to be uttered for attaining salvation." Candrajñānāgama[1] and Pārameśvarāgama[2] have also mentioned the same view. Having stated the Ṛṣi, Devatā, etc., of the mantra, Śaivāgamas further state the Ṛsi, Devatā, etc., of each of the syllables of Pañcākṣara mantra. Sūkṣmāgama states the Ṛṣi, Devatā, Chandas, Varṇa, Svara and Mukha of each of the five syllables.[3] But Candrajñānāgama mentions the sixteen forms of each syllable such as– Varṇa, Devatā, Śakti, Ādhāra, Chandas, Ṛṣi, Sthāna (place of face), Brahma, Āyudha, Kalā, Guṇa, Cakra, Prakāśa, Karaṇa, Vāyu and Jñānendriya.[4]

Three kinds of Japa :

स जपस्त्रिविधोः प्रोक्तो वाचिकोपांशुमानसैः ।[5]

According to this statement Japa is of three kinds, namely, Vācika, Upāṁśu and Mānasa. When the mantra is pronounced with the clear voice uttering the letters, words with Udātta, Anudātta and Svarita, it is called the Vācikajapa.[6] When the mantra is pronounced with a slight movement of the tongue in such a way that the recitor only is able to listen, but not the other person, it is called the Upāṁśujapa.[7] The japa which is observed so silently as the letters, the words and their meaning remain only in the sphere of intellectual consciousness and the mind is specially concentrated on the meaning

---

1. Candrajñānāgama, kri. pā, 8.11
2. Pārameśvarāgama, 9.38
3. प्रत्यक्षरमिदं गोप्यं शृणुष्वावहिताऽखिलम् ।
   ऋषिश्छन्दो देवताश्च वर्णस्वरमुखानि च ॥– Sūkṣmāgama, kri. pā, 3.25
   (For the details see sukṣmāgama, kri. pā, 3.26-30)
4. Candrajñānāgama, kri. pā, 8.20-21
5. Sūkṣmāgama, kri. pā, 3.41
   Cf. Siddhanta śikhāmaṇi, 8.26
6. Candrajñānāgama, kri. pā, 8.47; Sūkṣmāgama, kri. pā, 3.41; Pārameśvarāgama, 11. 85-86
   Cf. Siddhānta Śikhāmaṇi, 8.27
7. Candrajñānāgama, kri. pā, 8.48; Sūkṣmāgama, kri. pā, 3.42
   Pārameśvarāgama, 11.86-87, Cf. S.S, 8.28

of the words, is called the mānasajapa.[1] Among these three japas, mānasajapa is the best, Upāṁśu is the middle one and vācika is considered to be the inferior. Thus the merit of Upāṁśujapa is hundred times more than that of Vācikajapa; the merit of Mānasajapa is thousand times more than the Upāṁśu and that of the Sagarbhajapa is hundred times more than that of Mānasajapa.

उत्तमो मानसः प्रोक्त उपांशुर्मध्यमस्तथा ।
अधमो वाचिकः प्रोक्त इत्येतच्छिवशासनम् ।।
वाचिकस्त्वेक एव स्यादुपांशुः शतमुच्यते ।
सहस्रं मानसं प्रोक्तं सगर्भस्तच्छताधिकः ।।[2]

Sagarbha and Agarbhajapa :

Candrajñānāgama further refers to two types of Japa called Sagarbha and Agarbha. The Japa with prāṇāyāma is called Sagarbhajapa and that which is without prāṇāyāma is Agarbhajapa. Between these two Japas Sagarbhajapa is considered to be praiseworthy.

प्राणायामसमायुक्तः सगर्भो जप उच्यते ।
प्राणायामेन रहितो ह्यभर्गो जप उच्यते ।।
....
अगर्भं वा सगर्भं वा सगर्भस्तु प्रशस्यते ।।[3]

According to Pārameśvarāgama, the Japa made with kumbhaka prāṇāyāma is called Sagarbhajapa and that which is made with pūraka and Recaka types of prāṇāyāma is known as Agarbhajapa. This Japa is also praiseworthy:

---

1. Candra. Ā, kri. pā, 8.49; Sūk. Ā, kri. pā, 3.43; pā. Ā, 11.87-88
Cf. S.S, 8.29
2. Candra. Ā, kri. pā, 8.56 & 60; pār. Ā, 11.83-84 & 88-89
Cf. त्रयाणामपि चैतेषां वरं स्यादुत्तरोत्तरम् ।– Sū. Ā, kri. pā, 3.43
माहात्म्यं वाचिकस्यैतज्जपयज्ञस्य कीर्तितम् ।
तस्माच्छतगुणोपांशुः साहस्रो मानसः स्मृतः ॥
वाचिकात्तदुपांशोश्च जपादस्य महामनोः ।
मानसो हि जपः श्रेष्ठो घोरसंसारनाशकः ॥– S.S, 8.31-32
3. Candra. Ā, kri. pā, 8.61,63

कुम्भकेन समायुक्तः सगर्भो जप उच्यते ।
आद्यन्तयोरगर्भोऽपि प्राणायामः प्रशस्यते ।।[१]

A devotee should recite the mantra at least forty times after performing prāṇāyama. After knowing the mantra and its meaning, he should cherish the mantra related to Lord Śiva, according to Sagarbha method or Agarbha method. Sagarbhajapa is considered to be praiseworthy. The Japa combined with meditation (Sadhyānajapa) is thousand times superior to Sagarbhajapa. Devotee should select anyone among these five Japas (Vācika, Upāṁśu, Mānasa, Sagarbha and Agarbha) as per his ability.[2]

7. PĀDODAKA

The last two Āvaraṇas, namely, Pādodaka and Prasāda are the fruits of the worship of the Guru, Liṅga and Jaṅgama. According to the interpretation पादस्य उदकं पादोदकम्, the water sanctified by the washing of the feet of Guru, Liṅga or Jaṅgama, is called Pādodaka. Thus the Pādodaka is the sacred water obtained after washing the feet of Guru, Liṅga or Jaṅgama.

Candrajñānāgama mentions the three kinds of Pādodaka, namely, Dīkṣāpādodaka, Śikṣāpādodaka and Jñānapadodaka related to Guru, Liṅga and Jaṅgama respectively:

पादतीर्थं त्रिधा शम्भोर्गुरुजङ्गमयोरपि ।
दीक्षा शिक्षा ज्ञानमिति त्रिसंज्ञं तद्भवत्यहो ।।[३]

"One who always partakes pādatīrtha of Guru, Liṅga or Jaṅgama, gets liberated from the bondage of the world :

पादतीर्थं सदा पेयं भवबन्धमुमुक्षुभिः ।
गुरोरपीष्टलिङ्गस्य चरस्यापि विशेषतः ।।[४]

In case of non-availability of Pādodaka of Guru, Jaṅgama simultaneously, the devotee should assume these two in the Liṅgodaka of

1. Pāra. Ā, 11.89-90
2. Ibid, 11.89-90; Candra Ā, kri. pā, 8.62-64
3. Candra. Ā, kri. pā, 5.5
4. Ibid, kri. pā, 5.6

the Iṣṭaliṅga. Similarly, in case of non-availability of Jaṅgama, the Pādodaka of Guru also may be assumed as the Pādodaka of Guru and Jaṅgama. If the Pādodaka of the Jaṅgama only is available, then the devotee should assume and partake it as the Pādodaka of Guru also.[1] Guru, Liṅga and Jaṅgama are the three aspects of one and the same Śiva. So the Pādodaka of Guru and Jaṅgama is to be accepted as the sacred water of Iṣṭaliṅga :

एकमूर्तेस्त्रयो भागा गुरुर्लिङ्गं तु जङ्गमः ।
तदेवं गुणकं ग्राह्यं गुरुजङ्गमयोरपि ।।[2]

Pādodakamahimā :

Candrajñānāgama explains the greatness of pādodaka of Guru, Liṅga and Jaṅgama as :

धृत्वा शिरसि पादाम्बु महत्फलमवाप्नुयात् ।
ऋतं सत्यमिति प्राश्य चाऽनन्तपलमश्नुते ।।
अकालमृत्युमथनं सर्वव्याधिविनाशनम् ।
सर्वपापोपशमनं शम्भोः पादोदकं शुभम् ।।
मङ्गलं मङ्गलानां च सर्वपावनपावनम् ।
दुष्टग्रहोपशमनम् इष्टसिद्धिप्रदायकम् ।।
सर्वदुःखप्रशमनं सर्वोपद्रवनाशनम् ।
सर्वसिद्धिप्रदं सद्यः सर्वेषां मुक्तिदायकम् ।।
सर्वतीर्थाभिषेके या शुद्धिर्मनसि जायते ।
गुरोरङ्घ्रिस्पर्शजले शिरसा धारिते हि सा ।।
सप्तसागरपर्यन्तं तीर्थस्नानफलं सदा ।
गुरोरङ्घ्रिपयोबिन्दुसहस्रांशं न पूरयेत् ।।
चरपादोदमहिमा वर्णितुं केन शक्यते ।
तद्धि मोचयितुं सद्यः शक्नुते यच्चराचरम् ।।[3]

"Countless fruits are obtained by getting the holy water on the

1. Ibid, kri. pā, 5.6-9
2. Ibid, kri. pā, 5.15
3. Ibid, kri. pā, 5.11-15,17-19

head by partaking it with the recitation of 'ṛtam' and 'satyam' mantra.[1] The auspicious Pādodaka of the Śambhu (i.e. Iṣṭaliṅga) destroys the untimely death, removes all sufferings and sins. It provides goodness to all good things, purifies all pure things, eradicates the evil effects of the stars and bestows all desired attainments. Pādodaka destroys all miseries, calamities and causes the immediate liberation for all. The purity of mind attained by taking bath in all the holy places is attained only by putting Pādodaka of Guru on the head. The result of taking bath in all the holy places covering the seven seas, can never be equal to even the thousandth part of one drop of the sacred Pādodaka of Guru. No one can describe the glory of the Pādodaka of Jaṅgama, as it is able to bestow immediate release from the bondage on all beings.''

When the greatness of the Pādodaka of each of Guru, Liṅga and Jaṅgama is so great, it is beyond the capacity of anybody to describe the greatness of the Pādodaka of all the three put together.

Siddhānta Śikhāmaṇi also states the three kinds of Pādodaka, namely, Dīkṣā, Śikṣā and Jñāna on the basis of Śivāgamas and explains them philosophically. Such a philosophical meaning is not found in the definitions of these given in the Śaivāgamas. Thus the Siddhānta Śikhāmaṇi goes a step further while narrating the three kinds of Pādodaka.

Dīkṣāpadodaka stands for the blissful communion between the Guru and the Śisya, which is in three form of the knowledge of non-duality with the notion of duality eradicated by Dīkṣā :

दीक्षयोपगताद्वैतं यद् ज्ञानं गुरुशिष्ययोः ।
आनन्दस्यैक्यमेतेन दीक्षापादोदकं स्मृतम् ।।[२]

That instruction (śikṣā) which is nothing but the knowledge of the spiritual relation of the Guru and the Śiṣya inspires the Śivayogin. The communion between that instruction and that knowledge is regarded as Śikṣāpādodaka :

---

1. "ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम् । ऊर्ध्वरितं विरूपाक्षं विश्वरूपाय वै नमः ।।"– तैत्तिरीयारण्यक, २०.२२.२
2. Siddhānta Śikhāmaṇi, 19.6

गुरुशिष्यमयं ज्ञानं शिक्षा मननमीर्यते।
तयोः समरसत्वं हि शिक्षापादोदकं स्मृतम्।।[१]

Jñānaguru consists in the knowledge of the bliss obtained through the spiritual communion between the Guru and the Śiṣya. The same communion between bliss and knowledge is the Jñānapādodaka, for the Śiṣya :

सदैक्यसम्पदानन्दो योऽसौ ज्ञानगुरुर्मतः।
तत्सामरस्यं शिष्यस्य ज्ञानपादोदकं विदुः।।[२]

8. PRASĀDA

Prasāda is the eighth Āvaraṇa. Candrajñānāgama defines Prasāda as– गुरुलिङ्गजङ्गमानां भुक्तशेषः प्रसादकः ।।[3] What is received after having offered to Guru, Liṅga and Jaṅgama is termed Prasāda. It may be in the form of some fruit, food, flower, water, etc. It is also a means to salvation like pādodaka. It should be regarded and accepted as the Prasāda of all the three. If the Prasāda of either one or two is available, like Pādodaka, a devotee should partake what was offered to Śiva. This is the Sanātanadharma :

शुद्धसिद्धप्रसिद्धाख्यः स हि मुक्त्येकसाधनः।
द्वयोस्त्रयाणां वा लाभे ग्राह्योऽयं पादतीर्थवत्।।
शिवेन भुक्तं भुञ्जीयात् तत्पीतं हि जलं पिबेत्।
शिवाघ्रातं सदा जिघ्रेदेष धर्मः सनातनः।।[४]

Candrajñānāgama warns one who enjoys the things without offering them to Śiva. It says that even though one eat the food, without offering it to Guru, Liṅga and Jaṅgama, one practically eats the insects and commits sins.[5] Therefore it is said :

पत्रं पुष्पं फलं तोयमन्नपानाद्यमौषधम्।
असमर्प्य न भुञ्जीत भगवन्तं सदाशिवम्।।

---

1. Ibid, 19.12
2. Ibid, 19.19
3. Candrajñānāgama, kri. pā, 5.20
4. Ibid, kri. pā, 5.21-22
5. Ibid, kri. pā, 5.23

शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्रपञ्चकम् ।
असमर्प्य न भुञ्जीत भगवन्तमुमापतिम् ।।[१]

"Leaves, flowers, fruits, water, foods, drinks, medicines, etc., should not be accepted without offering them to Śiva. Not only these solid things, even the five subtle elements like śabda, sparśa, rūpa, rasa, and gandha should not be accepted without offering them to Śiva."

Three kinds of Prasāda :

Prasāda is of three kinds, namely, Śuddhaprasāda, Siddhaprasāda and Prasiddhaprasāda.[2] These are respectively the prasādas of Guru, Liṅga and Jaṅgama. Although they are not explained in the Candrajñānāgama, they should be understood in the light of the Sūkṣmāgama which explains the nature of three Prasādas as follows :

Śuddhaprasāda :

पूर्वसर्वगुणत्यागः कामक्रोधादिवर्जनम् ।
गुरुभक्तप्रसादो यः स शुद्धः परिकीर्तितः ।।[३]

"That prasāda which is obtained from the Guru by the devotee, who is free from the three Guṇas, associated with prakṛti (which is his body) and who is bereft of desire, anger, etc., is called Śuddhaprasāda."

Siddhaprasāda :

ज्ञात्वा लिङ्गत्रयं सम्यक् तदैक्यं च वरानने ।
लिङ्गार्पितप्रसादोऽयं सिद्ध इत्यभिधीयते ।।[४]

"That prasāda which is offered to the Liṅga and received by the disciple after realising the communion of the three Liṅgas (Iṣṭa, Prāṇa and Bhāva), is said to be Siddhaprasāda."

---

1. Ibid, kri. pā, 5.24-25
2. प्रसादलिङ्गत्रैविध्यमपि शृणु वरानने ।
   शुद्धं सिद्धं प्रसिद्धं च भेदश्चैषामथोच्यते ।।– Sūk. Ā, kri. pā, 8.22; Candrajñānāgama, kri. pā, 5.21
3. Sūk. Ā, kri. pā, 8.23
4. Ibid, kri. pā, 8.24

Prasiddhaprasāda :

शिवोऽहम्भावनायुक्तो निश्चलीकृतमानसः ।
चरार्पितप्रसादोऽयं प्रसिद्धः परिकीर्तितः ।।[१]

"That prasāda which is offered to the Jaṅgama and obtained by the devotee who is endowed with the conception of Śiva as his self and whose mind is rendered steady, is called Prasiddhaprasāda." Candrajñānāgama states that this Samarpaṇa to Lord Śiva (Guru, Liṅga and Jaṅgama) is of two kinds, namely, Sthūla and Sūkṣma. Things offered in their gross forms to Iṣṭaliṅga without discriminating them as śabda, sparśa, etc., are called Sthūlasamarpaṇa (gross offering). The offering of śabda, sparśa, etc., in their conceptual forms but not in their gross forms with the consciousness of their distinction, is called Sūkṣmasamarpaṇa. The object enjoyed by the particular sense organ is to be offered to the respective Liṅga.[2]

Prasādamahimā :

The offering which is made by the devotee to Lord Śiva and received as favour and which renders the mind pleased, is well known as prasada. This is considered as 'ṛta' (righteousness), satya (truth), Parabrahma and amṛta (nectar). No one is able to describe the glory of prasāda. The prasāda in the form of the things offered to the Guru-Jaṅgamas and accepted as their favour is equal to Puroḍāśa. It certainly gives purity :

समर्पितः प्रसादैककारणत्वान्महेशितुः ।
प्रसादत्वेन विख्यातः परमानन्ददायकः ।।
ऋतं सत्यं परं ब्रह्मामृतमित्यपि गीयते ।
प्रसादस्तस्य महिमा केन वा वर्ण्यते कथम् ।।
गुरूच्छिष्टं पुरोडाशं चरस्यापि विशेषतः ।
चरगुर्वोः प्रसादस्तु ध्रुवं पावित्र्यदायकः ।।[३]

In the foregoing pages a brief account of the Vīraśaiva

1. Ibid, kri. pā, 8.25; Cf. Siddhānta Śikhāmaṇi, 11.6-7
2. Candrajñānāgama, kri. pā, 5.28, 30-31
3. Ibid, kri. pā, 5.33-35

Aṣṭāvaraṇas was presented as described in the śaivāgamottarabhāgas. Among the Aṣṭāvaraṇas, Guru, who is considered the first Āvaraṇa protects the disciple from अरिषड्वर्ग by favouring him with three Liṅgas, in his three bodies through three kinds of Dikṣā. Hence Guru is regarded as a Rakṣākavaca to a disciple. By the worship of Iṣṭaliṅga, Prāṇaliṅga and Bhāvaliṅga, the devotee's eyes, mind and intellect become purified. As Iṣṭaliṅga, Prāṇaliṅga and Bhāvaliṅga are the cause of the purity of senses, mind and intellect, so they protect the Sādhaka from the affairs of this world. Hence Liṅga is considered as an Āvaraṇa. Jaṅgama, a wandering mendicant, instructs the disciple with the knowledge of Śiva, protects him from desire, anger, greed, etc., is regarded as the third Āvaraṇa. The besmearing of Bhasma by a devotee, protects him from the bad evils such as Graha, Yakṣa, Piśāca, etc. It also produces the physical and mental sanctity. Therefore Bhasma is considered as the fourth Āvaraṇa. The wearing of Rudrākṣa destroys all kinds of physical and mental defects and it protects the devotee as the fifth Āvaraṇa. The muttering of pañcākṣara mantra with praṇava in the beginning removes all kinds of sins and is able to give liberation and protects the Sādhaka from the sorrows of this world. So the mantra is also in the form of Rakṣākavaca. Onė who partakes daily the pādodaka of Guru, Liṅga and Jaṅgama with devotion accordiṇg to properties will be protected from all kinds of external and internal defects. Therefore pādodaka stands as a Rakṣākavaca. Offering which is made by the devotee to Guru, Liṅga and Jaṅgama, the one and the same forms of Śiva and received as favour renders the mind pleased, is well known as prasāda. The acceptance of prasāda, removes all kinds of bad mental thoughts and produces 'Prasāda guṇa', it acts as a Rakṣākavaca of a devotee. Thus, the Aṣṭāvaraṇas protects the devotees, who seek the path of liberation, in one way or the other. Hence they are called as Aṣṭāvaraṇas in Vīraśaiva terminology.

•

वीरशैवागमोत्तरभाग में वर्णित सप्तविध शैव और उनकी क्रमिक श्रेष्ठता

विद्वान् जी.वी. शिवस्वामी

भारतीय धर्मों में शैव धर्म अतिप्राचीन धर्म है। वेद, आगम, स्मृति, उपनिषत् तथा पुराणों में शैव धर्म की प्राचीनता विद्यमान है। वेदों में शिव भगवान् के ईश, रुद्र, शितिकण्ठ, सर्वज्ञ, कपर्दी, सोम आदि नाम प्रचलित हैं। ऋग्वेद के ६०-७० सूक्तों में शिव का नाम, प्रभाव, महिमा एवं स्वरूप का वर्णन देखा जा सकता है। यजुर्वेद में श्रीरुद्रदेव शिव हैं। इस वेद का १७वाँ अध्याय शिव, रुद्र के वर्णन के लिये सीमित है। शैव तथा वीरशैवों का पवित्र मन्त्र शिवपञ्चाक्षरी है। इस मन्त्र का मूल रुद्राध्याय के आठवें अनुवाक में **"नमः शिवाय च शिवतराय च"** कहते हुये विवृत है। शैव धर्म की पहचान मोहंजोदरो (सिन्धु) संस्कृति के उत्खनन में छोटे-छोटे लिङ्गों के रूप में प्राप्त हुई है। वेद के साथ तन्त्रसाहित्य, रामायण, महाभारत, स्कन्दपुराण और स्मृति ग्रन्थों में शिव का वर्णन तथा उपासना को देखा जा सकता है। शैवागमों (तन्त्र) की रचना ही उमा-महेश्वर, रुद्र, महादेव-देवी, पार्वती-परशिव—इनके संवाद रूप में विद्यमान है।

हमारे देश में प्राचीन शैवागम का उद्‌गम तथा विस्तार दक्षिण में ही हुआ है। इसके लिए ब्रह्मपुराण के एक श्लोक पर गौर किया जा सकता है–

उत्पन्ना द्रविडे चाहं वृद्धिं कर्णाटके गता।
क्वचित् क्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता।।

दक्षिण भारत के तमिल प्रान्त मे उद्‌गम होकर, कर्नाटक में फलीभूत होते हुये थोड़ी-बहुत महाराष्ट्र में विस्तार पाकर गुजरात में समाप्त होने की बात शैव धर्म के इतिहास की साक्षी देती है।

शैवधर्म की प्रमुख शाखाओं शैव, पाशुपत, कालामुख, कापालिक एवं काश्मीर शैव का उत्तर-दक्षिण भारत में प्रचार-प्रसार हुआ है। शैव का उत्तर भारत के गुजरात, मध्य प्रदेश, बिहार, बंगाल, नेपाल तथा काश्मीर में भी कालामुख शाखा का तमिल

शैव तथा वीरशैव का दक्षिण में प्रचार-प्रसार हुआ है। शैव धर्म की प्राचीनता को देखते समय श्री वी.आर. रामदीक्षित द्वारा लिखित गोरखपुर से प्रकाशित 'कल्याण शिवाङ्क' में शैव सम्प्रदाय के लिङ्गोपासन-लिङ्गधारणादि को आर्य संस्कृति से बहुत प्राचीन होने की बात कही गई है।

प्रस्तुत लेख ''पारमेश्वरागम'' में पार्वती-ईश्वर (शिव) संवाद के रूप में प्रतिपादित वीरशैवागमों में वर्णित सप्तविध शैव और उनकी श्रेष्ठता के बारे में लिखा गया है।

सप्तविध शैव

आनन्द-सागर में विचरते शम्भु को नमस्कार करने के उपरान्त देवी ने विनम्रता-पूर्वक पूछा कि हे भगवान्! मुझे आप सप्तविध शैव एवं वीरशैव मतों की गुण-विशेषताओं के बारे में कृपया बताएँ। उनकी जानकारी से मनुष्यमात्र वीरशैव मत में प्रवृत्त हो जाते हैं। देवी की इस प्रार्थना को सुनने के उपरान्त ईश्वर ने सप्तविध शैवों के विवरण को इस प्रकार प्रस्तुत किया–

शृणुष्वैकमना देवि माहात्म्यं तु मतस्य मे।
अनादिशैवभेदस्य लक्षणाचारमादितः[१]॥

१. अनादिशैव लक्षण

शम्भु के अनुग्रह के बिना शैव मत में प्रवेश करने से उसके द्वारा प्राप्त किये गये पुण्य-फल के अनुरूप शैवमत में प्रवेश तो प्राप्त हो जाता है, परन्तु उसका जागरूक, बुद्धिमान् एवं शैव धर्म में दृढ़चित्त होना आवश्यक है। गुरु की बातों को अनुष्ठान में लाना चाहिये। कठिन तो लगता है, लेकिन पालन को सुनिश्चित करना चाहिये। त्रिकाल में अपने शिवलिङ्ग (इष्टलिङ्ग) को भक्तिपूर्वक पूजना चाहिये। अपनी शक्ति के अनुरूप भक्ति से जङ्गमों को अन्न-पानादि से पूजना चाहिये। (स.प. ५-८)

अनादिशैव की विशेषता यह है कि वह सामान्य मनुष्य की भाँति जब सन्तोष होता है, तो प्रसन्नचित्त और दुःख होने पर दुःखी होकर रह जाता है। इसे तो बन्धन-मोक्ष की जानकारी भी नहीं है। यदि उससे कोई गलती हो भी जाती है, तो प्रायश्चित्त कर लेता है। अधिक जानकारी के लिए उसे आदिशैव मत के आश्रय में जाना चाहिये।

---

१. पारमेश्वरागमे, स.प.पु. ४।

२. आदिशैव लक्षण

शक्त्या समर्चयेदन्नैर्जङ्गमान् गृहमागतान् ।
त्रिकालमर्चयेल्लिङ्गमादिशैवमते शिवे ।।
यथाशक्त्याचरेच्छास्त्रमशक्तो वर्जयेत् क्वचित् ।
नाश्रयेन्नापि वर्तेत सोऽनादिरधिकः शिवे[१] ।।

आदिशैव मत में आये हुये जङ्गम का अपनी शक्ति के अनुसार सत्कार करते हुये पूजा करनी चाहिये। इतना ही नहीं, त्रिकाल में लिङ्ग की भक्तिपूर्वक आराधना करनी चाहिये। जहाँ तक सम्भव हो, शास्त्र के अनुरूप आचरण करना चाहिये। सम्भव नहीं है, तो छोड़ा जा सकता है। फिर भी यह आगम के अनुसार अनादिशैव से उत्तम माना गया है।

३. अनुशैव लक्षण

अर्चयेदेककालं वा लिङ्गं मे जङ्गमानपि ।
मम ध्यानपरो नित्यमनुशैवमतो भवेत् ।।
ज्ञानेनाधिकता यस्य शान्त्यात्यभ्यासपाटवात् ।
न तस्य कर्मबाहुल्यं ज्ञानमेवाधिकं परम्[२] ।।

इसे दिन में कम से कम एक बार लिङ्ग या जङ्गम की पूजा सुनिश्चित करनी चाहिये। अनुशैव-मतावलम्बी शान्ति आदि के अभ्यास की कुशलता से कर्मकाण्ड का आचरण नहीं करता, परन्तु ज्ञानाधिक ही प्रमुख है।

अलग-अलग शैव मतों में जो व्यक्ति अपनी बुद्धिमत्ता की विशेष योग्यता को प्राप्त करते हुए कामादि भावनाओं से मुक्त होकर शान्तगुण सम्पन्न होता है, उसे उत्तरोत्तर मत को प्राप्त करना चाहिये। यदि ऐसा किया गया, तो 'वृक्षाग्रच्युत' यानि जो व्यक्ति पेड़ की चोटी तक चढ़कर गिर जाने की स्थिति में होता है, वहीं स्थिति यहाँ पर भी होती है। यह बात पारमेश्वरागम में प्रतिपादित है।

४. महाशैव लक्षण

अथ वक्ष्ये महाशैवं न विना जङ्गमार्चनम् ।
तत्प्रसादं विनाऽश्नाति महाशैवमते स्थितः ।।

---

१. पारमेश्वरागमे, स.प.पु. ११० ।
२. तत्रैव, स.प.पु. ११० ।

स स्वपेच्छयनादीनि पूजायै शङ्करेऽर्पयेत् ।
सर्वेन्द्रियनिवृत्तोऽपि शिवमेवार्चयेच्छिवे[१] ।।

जो महाशैवमतावलम्बी है, वह जङ्गम की पूजा किये बिना, उससे प्रसाद प्राप्त किये बिना कभी खाना नहीं खायेगा। सारी चीजें शिव को अर्पित किये जाने के उपरान्त (सो जाने की तैयारी) ही विश्राम लेगा। इन्द्रिय-प्रवृत्तियों से मुक्त हो जाने की स्थिति में शिव की पूजा करने की विधि इस लक्षण में समाहित है।

५. योगशैव लक्षण

चराचरात्मकं सर्वं जगदेतच्छिवात्मकम् ।
भावयन्नात्मतादात्म्यं योगशैवमते वसेत् ।।
न बाह्यपूजा नाचारो नैव जङ्गमपूजनम् ।
न प्रत्युत्थानमन्यस्य योगशैवमते मम[२] ।।

स्थावर-जङ्गमात्मक इस जगत् को शिवमय मानकर उसके साथ ही अपना तादात्म्य प्राप्त व्यक्ति को योगशैव मत में रहना चाहिये। उसको तो बाह्य पूजा विधियाँ नहीं करनी हैं, जङ्गम पूजा विधियाँ उसके लिए नहीं होती हैं। साथ ही साथ उसे अन्य व्यक्तियों को आदर के साथ आमन्त्रित करने की भी आवश्यकता नहीं रहती। योगशैवी को सदा ही लोकहित स्थान में वास करते हुये धनादि को छोड़कर, ममकार-अहङ्कार-रहित अपनी आत्मा में ही शिव का वास होने की बात याद रखते हुये ध्यानासक्त होना चाहिये। इस दुनिया को लिङ्गमय समझकर चलना चाहिये। लिङ्ग को ही शिवस्वरूप मानकर चलना उसका अन्तिम ध्येय होना चाहिये। इन्हीं बातों को शिव भगवान् देवी को समझाते हैं।

६. ज्ञानशैव लक्षण

तदेतज्ज्ञानशैवाख्यं ज्ञानस्य ज्ञानमुत्तमम् ।
जगत् तदात्मकं ज्ञानं महाज्ञानमितीश्वरि ।।
न ध्यानं नापि वाऽऽयासो नार्चा जङ्गमलिङ्गिनाम् ।
न योगधारणं ज्ञानं शैवस्थस्य मम प्रिये ।।
यो ज्ञानशैवमतगो य उक्तक्रमनिष्ठितः ।
स जीवन्नेव विश्वेशि शिवोऽहं नात्र संशयः[३] ।।

---

१. पारमेश्वरागमे, स. प. पु. १११।
२. तत्रैव, स. प. पु. १११।
३. तत्रैव, स. प. पु. ११२।

जिस किसी में श्रेष्ठज्ञान है, वही ज्ञानशैवी कहलाता है। इस दुनिया के परमात्म्य होने की जानकारी उसे होती है। इस मत में आसक्त व्यक्ति को ध्यान नहीं, श्रम नहीं, जङ्गम एवं लिङ्गार्चन नहीं होते, योगाभ्यास भी नहीं। इन बातों के लक्षण जिस व्यक्तिविशेष में होते हैं, वह व्यक्ति निस्सन्देह जीते जी शिव बन जाता है।

ज्ञानकर्मसमुच्चय

ज्ञानाधिकारसिद्ध्यर्थमाचरेत् कर्म चोदितम्।
ज्ञाननिष्ठाबलेनैव त्यजेत् कर्माणि नान्यथा।।
विना ज्ञानाधिकारेण शक्त्या कर्माणि यस्त्यजेत्।
न याति पारं दुःखस्य विषयेष्ववसीदति[१]।।

इस मत में ज्ञानमार्ग प्राप्त करने के लिए या योग्यता प्राप्त करने के लिए शास्त्र में उल्लिखित कर्मों का पालन करना चाहिये। ज्ञान निष्ठा की ताकत से कर्मों को त्यागा जा सकता है, अन्यथा नहीं। ज्ञान का अधिकार समर्थ होने पर भी जो व्यक्ति कर्म को त्याग देता है, वह दुःख का पार नहीं कर पायेगा। वह व्यक्ति असफल हो जाता है।

मतों में समान एवं भेदक अंश

इन सभी मतों में दीक्षा, होम आदि में समानता है। आचार एवं भक्ति में भी समानता है। साथ ही नित्य लिङ्ग एवं जङ्गम की पूजा आवश्यक मानी गई है। सभी भेदों में भक्ति अति आवश्यक है।

१. अनादि शैवमत में निष्ठा रखने वाले के लिए कर्म ही परम ध्येय है।
२. आदि शैवमत में निष्ठा रखने वाले के लिए स्मरण ही निरन्तर नियम है।
३. अनुशैव मतावलम्बी के लिए मन ही प्रमुख साधन है।
४. जो महाशैवी है, निश्चय ही उसका प्रमुख लक्ष्य है।
५. योगशैवी के लिए अष्टाङ्ग योग साधन ही प्रमुख नियम है।
६. जो ज्ञानशैव मतस्थ है, उसके लिए तो अनुभव ही सब कुछ है।
(श्लोक ३२-३६)

७. वीरशैवमत निरूपण

वीरशैवमतस्थस्य ज्ञानयोगो हि साधनम्।
विना ज्ञानं न योगः स्यान्न ज्ञानं योगतो विना।।

---

१. पारमेश्वरागमे, स.प.पु. ११३।

न विना ज्ञानयोगाभ्यां वीरशैवमताश्रयः ।
सन्तारणाय भवति च्यवते नात्र संशयः ।।
यथा वीरो रणे शूरो वीरशैवमते तथा ।
भक्त्या वीरो न वैरेण न बलेन च कार्यतः[१] ।।

वीरशैवमतस्थ को ज्ञानयोग ही साधन है, ज्ञान के बिना योग नहीं एवं योग के बिना ज्ञान नहीं। ज्ञान-योग के बिना वीरशैव मत में आश्रित होना मुक्ति के लिए नहीं हो पाता है, क्योंकि ज्ञान एवं योगों के बिना वीरशैव में आसरा पाने का मतलब है, अपनी राह से भटक जाना। पारमेश्वरागम में उल्लिखित है कि ज्ञानयोग को छोड़ देने का अर्थ है सिपाही के जङ्ग से पलायन कर बैठना। सिपाही का कर्तव्य है कि वह अपना कर्तव्य निभाए।

वीरशैवों के विधि-निषेध

न मांसं भक्षयेल्लिङ्गी नाप्यपेयं पिबेत् क्वचित् ।
नाभक्ष्यं भक्षयेद् देवि नानावश्यनिमित्तकम् ।।
नात्मार्थं पाचयेदन्नं नाद्यान्नातिथ्यनर्पितम् ।
शक्त्या सम्पूजयेल्लोके जङ्गमं गृहमागतम्[२] ।।

वीरशैवी (लिङ्गधारी) को मांस नहीं खाना चाहिये, मद्य का सेवन भी नहीं करना चाहिये। अनावश्यक चीजों को भी नहीं खाना चाहिये। अपने लिए खाना तैयार नहीं करना चाहिये। अतिथियों को खिलाये बिना खाना वर्जित है। अपनी शक्ति के अनुसार घर आये हुये जङ्गम की पूजा (उपचार) करनी चाहिये।

अलिङ्गी के घर पर वीरशैवी को खाना नहीं खाना चाहिये। परन्तु लिङ्गी के घर पर अलिङ्गी को भोजन पूछने पर दिया जा सकता है। उनका अनादर नहीं करना चाहिये। इतना ही नहीं, अलिङ्गी से द्वेष, हिंसा, निन्दा न करते हुये गौरव भाव से देखना चाहिये।

अतिथिसत्कार

गृहमायान्तमालोक्य गुरुं वागुरुमेव च ।
यो गृही भवते नम्रः स गुरुर्नेतरः क्वचित् ।।

१. पारमेश्वरागमे, स.प.पु. ११४।
२. तत्रैव, स.प.पु. ११५।

तदागतं गृहे वीक्ष्य प्रत्युत्थायाभिवादयेत् ।
श्रमापनोदनं कुर्याद् व्यजनादिभिरादरात् ।।
प्रणम्य स्वागतं ब्रूयात् पादप्रक्षालनं चरेत् ।
प्रथमं पूजयेद् गन्धपुष्पैः संक्षालयेत् ततः ।।[१]

वीरशैवी के घर आये हुये जङ्गम (गुरु) चाहे उम्र में बड़े या छोटे हों, उनका आदर किया जाता है, वह गृहस्थ श्रेष्ठ गुरुभक्त कहलाता है। जब गुरु घर पर आता है, तो खड़े होकर स्वागत करना चाहिये। तदुपरान्त (गुरु जी के) पाद धोकर गन्ध-पुष्पों से भक्तिपूर्वक पूजा करनी चाहिये।

गुरु-जङ्गम साक्षात् शिवरूप ही हैं। उनके चरणों में भगवान् का वास होता है, ऐसा समझकर धोने के उपरान्त तीर्थ का सेवन करना चाहिये। लिङ्गधारी शिवयोगियों में जाति का भेद नहीं है। इतना ही नहीं, किसी भी प्रकार का दृष्टिदोष, स्पर्शदोष भी नहीं होता, क्योंकि वे सभी स्वयं शिव ही बने रहते हैं। यह बात शिव स्वयं पार्वती को समझा चुके हैं।

अष्टावरण-निर्देशन

गुरुर्लिङ्गं जङ्गमश्च पादतीर्थं प्रसादकम् ।
देहे विभूतिरुद्राक्षौ मम पञ्चाक्षरी मनुः ।।
अष्टावरणसंयुक्ता वीरमाहेश्वरा नराः ।
मम रूपधरा देवि विचरन्ति महीतले[२] **।।**

गुरु, लिङ्ग, जङ्गम, प्रसाद, विभूति, रुद्राक्षी तथा पञ्चाक्षरी मन्त्र इन सभी से आवृत्त वीरमाहेश्वर इस भूमण्डल यानि धरती पर चलते-फिरते रहते हैं। उनके मार्गदर्शन के अनुरूप ही अष्टावरणों का आचरण करना सुनिश्चित करना चाहिये। इसी में उसकी आत्मोन्नति समाहित है।

गुरुर्लिङ्गं जङ्गमश्च तीर्थं चैव प्रसादकम् ।
भस्मरुद्राक्षमन्त्राश्च अष्टावरणसंज्ञिताः[३] **।।**

गुरु, लिङ्ग, जङ्गम, पादोदक, प्रसाद, विभूति, रुद्राक्ष एवं मन्त्र ये सभी शिवभक्तों के भवदोषों को हरण करने वाले आठ आवरण हैं। इन अष्टावरणों से लिङ्गी सहज ही लिङ्गस्वरूप बन जाता है।

---

१. पारमेश्वरागमे, स.प.पु. ११५-११६।
२. तत्रैव, स.प.पु. ११७।
३. चन्द्रज्ञानागमः।

इनका विवरण चन्द्रज्ञानागम में मिलता है।

लिङ्गधारियों में जाति-भेद नहीं है

न जातिभेदस्तत्रास्ति लिङ्गिनां शिवयोगिनाम्।
न दृष्टिस्पृष्टिदोषो वा सर्व एव शिवाः शिवे[1] ।।

लिङ्गधारी शिवयोगियों में जातिभेद नहीं है, दृष्टि-दोष और स्पर्श-दोष भी नहीं, क्योंकि वे स्वयं शिव हैं। यह बात शिव जी ने देवी को अवगत कराई है। लिङ्गधारी भवियों, अलिङ्गियों से दूध, दही, मक्खन, घी तथा चाय स्वीकार कर सकते हैं।

वीरशैव मत की श्रेष्ठता

समस्त शैव मतों के मन्थन से उद्‌गत हुआ है वीरशैव धर्म। यह एक श्रेष्ठतम धर्म है। वही धन्य है, जो इसको प्राप्त किया हो। उसे तो खुशी होनी चाहिये, इतनी खुशी कि अन्धे को दिखाई देने लगने से, गरीब को अधिक धन-धान्य की प्राप्ति से, भूखे को खाना, वधू को वर, निस्सन्तान व्यक्ति को सन्तान की प्राप्ति तथा मृत व्यक्ति को जीवन पुनः मिलने पर होता है।

अनायासतपश्चर्यं शैवलब्धेन तोषणम्।
शिवपूजा सदा देवि कैवल्यं शिवलिङ्गिनाम्।।
तत्र मुह्येत यो मूढस्त्यक्त्वा स्वाचारमुक्तवत्।
भ्रश्येत पश्यन् गिरिजे सदा विषयलम्पटः[2] ।।

श्रमरहित तप के आचरण से युक्त शैव मत की प्राप्ति से सन्तोष मिलता है। इष्टलिङ्गधारी के लिए सदा शिवपूजा ही कैवल्य है। इसमें आचरण की राह पर भटक जाने की स्थिति में वह मूर्ख पतन की ओर चला जाता है।

वीरशैव-लक्षण

त्रिकालमर्चयेन्नित्यं शिवपञ्चाक्षरीं जपन्।
कीर्तयन् शिवनामानि शिवोऽहमिति भावयन्।।
जगज्जीवमयं सर्वं चैतन्यमयविग्रहम्।
पञ्चाक्षरमयं लिङ्गं लिङ्गं पञ्चाक्षरं महत्।।
जगदात्मनि सम्पश्यन्नात्मानं जगतीक्षयन्।
जगदात्मानमीशानि पश्येन्मयि चिदात्मकम्।।

१. पारमेश्वरागमे, स.प.पु. ११७।
२. तत्रैव, स.प.पु. १२३।

तथाधिकारसम्पन्नो वीरशैवमतं श्रयेत् ।
दृढवैराग्यसम्पन्नो गुरुत्वेन विधानतः[१] ।।

त्रिकाली में शिवपञ्चाक्षरी मन्त्र का पठन करते हुये, शिवनाम का स्मरण करते हुये शिवोऽहं समझकर प्रतिदिन शिव की पूजा करनी चाहिये । सकल जीवराशियों से युक्त इस समग्र जगत् को चैतन्यमय परमात्मा का शरीर समझकर, पूरी दुनिया को अपने में समाहित समझकर शिव को चिन्मय रूप में देखना चाहिये । इस गुण से सम्पन्न एवं योग्य पुरुष दृढ वैराग्य को प्राप्त कर गुरु का मार्गदर्शन स्वीकारना चाहिये । (दीक्षा के माध्यम से) वीरशैवमत के आचरण करने की पद्धति को स्वयं शिव ने पार्वती को समझाया है ।

वीशब्देनोच्यते विद्या शिवजीवैक्यबोधिका ।
तस्यां रमन्ते ये शैवा वीरशैवास्तु ते मताः[२] ।।

'वी' नामक अक्षर लिङ्गाङ्ग सामरस्यरूप शिवजीवैक्य विद्या का बोध कराता है । ऐसी लिङ्गाङ्ग सामरस्यरूप शिवजीवैक्य विद्या में जो विनोद से खेलते हैं, वे वीरशैव हैं । यह बात सिद्धान्तशिखामणि में निरूपित है । वीरशैव के लक्षण को पारमेश्वरागम में **''वीरशैवमतं सद्यो भोगमोक्षैकसाधनम्''** कहा गया है । वीरशैव मत की विशेषता यह है कि यह भोग एवं मोक्ष दोनों के लिए एक समान साधन है, क्योंकि इस मत के प्रवर्तक स्वयं श्रेष्ठ शिव ही हैं । आगम वाणी **''न वीरशैवसदृशं मतमस्ति जगत्रये''** नामक आगमवाणी के अनुसार तीनों लोकों में वीरशैव मत के समान अन्य कोई मत नहीं है । सुलभ आचरण से शिव साम्राज्य को प्राप्त कराने वाला श्रेष्ठ मत ही वीरशैव है ।

यो हस्तपीठे निजमिष्टलिङ्गं विन्यस्य तल्लीनमनःप्रचारः ।
बाह्यक्रियासङ्कुलनिष्पृहात्मा सम्पूजयेदङ्ग स वीरशैवः[३] ।।

स्कन्दपुराण के इस वचन के अनुसार जो व्यक्ति अपने हाथ पर इष्टलिङ्ग को रखकर बाह्यक्रियाओं से विमुख होकर इष्टलिङ्ग में मन को केन्द्रित कर पूजा-आराधना-प्रार्थना करता है, वही साधक श्रेष्ठ वीरशैव कहलाता है । कुल मिलाकर कहा जाय, तो गुरु के मार्गदर्शन में अष्टावरणों का आचरण करते हुये जो शिवजीवैक्य विद्या में तल्लीन रहते हैं, वे शिवसाम्राज्य को प्राप्त करते हैं ।

•

---

१. पारमेश्वरागमे, स.प.पु. १२४ ।
२. सिद्धान्तशिखामणिः, परिच्छेद ५.१५ ।
३. स्कन्दपुराणे; पारमेश्वरागमे, प.प.पु. ४१ ।

पारमेश्वरागमे व्याख्यातानि मतमतान्तराणि

डॉ. अभिनवश्रीश्रीकल्मठसवदत्तिः

विविधानि मतानि दृश्यन्ते यथा बौद्ध-सौगत-चार्वाक-जैन-आर्हतेत्यादीनि। एवं सौर-वैकर्तन-आदित्य-पौष्ण-मातङ्गेत्यादयः सौरमन्त्राः। सौरमतानि चैतानि तत्र च सूर्य एव अधिदेवता। वैष्णवमतेऽपि गोपाल-नारसिंह-राम-कृष्ण-नारायणेति पञ्चविधानि। एवमेव शैवमतमपि वीरशैवेत्यादिसप्तभेदयुतम्। ते सप्त भेदाश्च वीरशैव-अनुशैवादिशैव-महाशैव-योगशैव-ज्ञातिशैवश्चेति।

तेषु च सप्तसु वीरशैवं हि सर्वश्रेष्ठम्, उत्तराणि तदङ्गभूतानि। गाणपत्य-वैरभद्र-भैरव-शम्भु-नन्दिकेश-कौमार-पैशाचेत्यादीन्यन्यानि च बहूनि मतानि सन्ति। एतन्मतानां च लक्ष्यमेकम्, साधनानि तु विविधानि गोचरीभवन्ति। वीरशैव-वैष्णव-शाक्तदर्शन-शास्त्राणि तत्र च मतोक्तरीत्या तत् कर्म कर्तव्यम्। वीरशैवेतरमतानि दीर्घकालफलदायकानि बहुधनव्ययसाध्यानि च। वीरशैवमतं सद्यः फलप्रदं भोगमोक्षप्रदं च। प्रथमपटले तदुक्तम्–

वीरशैवमतं सद्यो भोगमोक्षैकसाधनम्।
सर्वोत्तमं मम मतं यतः सर्वोत्तमोऽस्म्यहम्॥४१॥
न वीरशैवसदृशं मतमस्ति जगत्त्रये।
सर्वभोगप्रदं पुण्यं शिवसायुज्यदायकम्॥४२॥
यथा मत्सदृशो नास्ति पुरुषाणां त्वया समा।
स्त्रीणां तथा वीरशैवसदृशं नास्ति वै मतम्॥४३॥
अपि पापशतं कृत्वा ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा।
वीरशैवमतं प्राप्य शिव एव न संशयः॥४४॥

शिवयोगिनां माहात्म्यं वाचामगोचरं भाति भस्माङ्गेषु रुद्राक्षमालाः कण्ठे च इष्टलिङ्गं, येषां ते मम स्वरूपा एव। एते ये केऽपि जना एतादृशशिवयोगिनो मामाराध्य मत्सारूप्यं लब्धुमर्हन्ति भावनानुसारेण सिद्धिर्जायते। वर्णाश्रमनिरपेक्षं लिङ्गधारणमात्रेण पुनीता भवन्ति। ये केऽपि जना लिङ्गधारणमात्रेण शिवस्वरूपिणो भवन्ति। कारणं

चैतदुक्तेर्भक्तिरेव। भक्तिः पञ्चमपुरुषार्थः। एतादृग् भक्तियुताः शिवदीक्षामर्हन्ति। शिवदीक्षायाश्च कृते श्रीगुरुकृपा आवश्यकी। सद्गुरुं विना च शिवदीक्षा दुर्लभा। सद्गुरुं विना लिङ्गधारणं कृतं चेत्, निष्फलमेव। यतो हि–

लिङ्गमिदं मम चिह्नम्। देवालयादिभित्तिषु यदा वयं चित्राणि पश्यामस्तदा तत्तद्व्यक्तेः स्मरणं भवति तद्वदेव लिङ्गदर्शनेन शिवसाक्षात्कारो भवति। शिवस्मरणमपि सिद्ध्यति। तेन पापपरिहारो भवति। इत्येवं वर्तते घोषणा तत्र न त्वेतन्मम कल्पनालास्यम्। पश्यतां तावत्–

देवालयादिषु यथा चित्रादिषु यथा गृहे।
दृश्यते चाकृतिर्यस्य तद्ज्ञानं जायते स्फुटम्॥८८॥
एवं हि वीरमन्त्रे तु सर्वपापैः प्रमुच्यते।
लिङ्गस्य दर्शनाद्देवि मम ज्ञानं प्रजायते॥८९॥
गतेषु बहुसंख्येषु दुःखरूपेषु जन्मसु।
मत्कारुण्येण तस्यान्ते जायते लिङ्गदर्शनम्॥९०॥
यदीदमिति जानाति लिङ्गं मम महेश्वरि।
मज्ज्ञानाद्दर्शनात् सद्यो मल्लिङ्गस्य च सोऽस्म्यहम्॥९१॥
एवं हि महिमा देवि मम लिङ्गस्य किं पुनः।
धृते तु तस्मिन् स्वतनौ सर्वा लिङ्गमयी तनुः॥९२॥
लीलार्थकमपि त्वीशि यत्तल्लिङ्गमुदाहृतम्।
तल्लिङ्गमयमित्येतच्छरीरं तस्य धारणात्॥९३॥ इति।

ईदृशलिङ्गधारणात् तस्य शरीरं लिङ्गमयं भवति। कर्मपूर्णचरिता मायामोहमलिना मत्कृपावर्जिताः सायुज्यं कथं लभेरन्। कथं नु मत्स्मरणकीर्तनलिङ्गधारणक्रियाभिरुत्तमोत्तम-फलभाजो भवितुमर्हन्ति खलु।

●

पारमेश्वरागमं पुरस्कृत्य शैवमतभेदनिरूपणम्

आचार्यः श्री एन.शङ्करशास्त्री

पारमेश्वरागमे प्रथमपटले–

अथ वक्ष्ये गिरिसुते मतं मम महत्तरम्।
शैवं सप्तविधं पुण्यं वीरशैवादिभेदतः ।।१५।।
वीरशैवं तथानादिशैवमादिपदं ततः।
अनुशैवं महाशैवं योगशैवं तु षष्ठकम् ।।१६।।
सप्तमं ज्ञानशैवाख्यं तत्र सर्वोत्तमोत्तमम्।
वीरशैवमितीशानि तदङ्गानीतराणि तु ।।१७।।

श्रीपरमेश्वरोमासंवादतयाऽस्मिन् श्लोकत्रये वीरशैवादिसप्तभेदेषु वीरशैवमतमेव ह्युत्तमोत्तममिति प्रतिपादितमवधेयम्।

चन्द्रज्ञाने दशमपटले–

शिवागमेषु शैवभेदाश्चत्वार इति क्वचित् सप्तेति क्वचिद् दशेति क्वचित् सम्प्रोक्ताः, अतस्तान् सङ्गृह्य परिष्कारं ब्रूहीति सुराचार्येण बृहस्पतिना पृष्टोऽनन्तरुद्र उवाच–

अधुना ते प्रवक्ष्यामि शैवभेदमनुत्तमम्।
अनादिशैवं प्रथममादिशैवं द्वितीयकम् ।।४।।
पूर्वशैवं तृतीयं स्यान्मिश्रशैवं चतुर्थकम्।
शुद्धशैवं पञ्चमं स्यात् षष्ठं वै मार्गशैवकम् ।।५।।
सामान्यं सप्तमं ज्ञेयं वीरशैवमथाष्टमम्।
अथ तल्लक्षणं वक्ष्ये यथावदनुपूर्वतः ।।६।।

अत्रानादिशैवम् आदिशैवं पूर्वशैवं मिश्रशैवं शुद्धशैवं मार्गशैवं सामान्यशैवं वीरशैवमित्यष्टौ भेदाः सङ्गृहीताः। एतेषां लक्षणानि, यथा –

१. कैलासवासी रुद्रः, प्रमथगणाश्च अनादिशैवा इति कथ्यन्ते।

२. कौशिकाद्या महर्षयः– महेश्वरस्य सद्योजातादिपञ्चमुखेषु दीक्षिता आदिशैवाः (कौशिकः, कश्यपः, भरद्वाजः, अत्रिः, गौतम इत्येतन्नामधेयाः) इति निरूप्यन्ते। अपि चैतत्पञ्चमहर्षीणां गोत्रेषूत्पन्नानामादिशैवाभिख्यानां लक्षणमधस्तनविधं प्रतिपाद्यते।

गुरोः कल्याणदेशिकस्य मुखाददीक्षिताश्चान्यगोत्रिणश्च आगमान्तोक्तविधया शाम्भवव्रतसेविनो वेधा-मनु-क्रियाऽभिख्यदीक्षात्रयविधानतो लिङ्गीत्रयपरिस्फूर्जदङ्गत्रितय शोभिन आदिशैवा इति निगद्यन्ते।

एते आदिशैवाः शिवप्रतिष्ठादि-कुम्भाभिषेकादि-सत्कार्याणि-कारयितु-माचार्यत्वेऽधिकृताः स्युः।

३. पूर्वशैवास्तु– अनूढासु विप्रकन्यासु समुत्पन्ना अत एव कानीना इति ख्याताः, कौशिकादिपञ्चर्षिगोत्रिणो हरद्विजा इति समाख्यायन्ते। अपि चैते शिवागमपूर्वभागोक्तविधिना शैवदीक्षिताः केचिद् अदीक्षिताश्च केचिदिति द्विविधाः स्युः। शैवदीक्षितास्त्वलिङ्गिनः, अत एव स्वार्थे परार्थे च शिवपूजनेऽधिकृता भवन्ति। अपि च शिवपरिचर्यायां शिवा-लयपरिशुभ्रतायां चाधिकारवन्तः। एतेषु शिवदीक्षितानामपि प्रतिष्ठादिकर्मस्वधिकारो नास्ति, ये त्वदीक्षितास्ते देव ह्येका इति, व्यवह्रियन्ते। शिवालयादन्यत्र न प्रष्टव्या एते। अपि च, एतेषां शिवार्चकत्वाच्छैवत्वेऽप्यदीक्षितजनानर्हपरार्थयजनात्। शिवद्रव्योपभोगात्, शिवकैङ्कर्यविषयश्रद्धालोपादिदोषाच्चैतंन्मला इति कथ्यन्ते।

४. मिश्रशैवानां रवि–अम्बिका-विष्णु-गणनाथ-महेश्वरान् एकपीठे निवेश्य मिश्रीकृत्य पूजनात् मिश्रशैवत्वमापद्यते, एतेषां शिवदीक्षा, शिवाधिक्यभावना न च स्यात्, भस्मरुद्राक्षधारणादेवैते शैवा इति निगद्यन्ते–

अन्तः शाक्तं बहिः शैवं सभामध्ये तु वैष्णवम्।
मिश्रितं दृश्यते यस्माद् मिश्रशैवाः प्रकीर्तिताः।।

इत्युक्तरीत्या आदित्याम्बिकाविष्णुगणनाथमहेश्वरान् समतया पूजयन्त एते मिश्रशैवा भवितुमर्हन्ति।

५. शुद्धशैवास्तु भस्मरुद्राक्षान् धारयन्तः, शिवलिङ्गमात्रपूजनपराः, शिवाधिक्य-भावनासम्पन्नाः, "शिवोऽहं" ध्यानतत्पराश्च भवन्ति।

६. मार्गशैवाः– निगमागमान्तोपपादितदीक्षात्रयपरिग्रहः, षट्स्थलज्ञानसम्पत्तिः, षट्कालशिवपूजन–षट्शतोत्तरैकविंशतिसहस्रसंख्यया (२१६००) प्रणवपञ्चाक्षरी-महामन्त्रजपः, लिङ्गाङ्गैक्यभावना, चैते धर्मा मार्गशैवीयाः परमेश्वरेण प्रकीर्तिताः।

आदिशैवानामिवैतेषां, दीक्षासाम्येऽपि शीघ्रमुक्तप्रदोत्तमधर्मा निरन्तरानुष्ठानादिविशेषा अस्मिन् वर्तन्त इति कृत्वा आदिशैवापेक्षया मार्गशैवस्य वैशिष्ट्यं दरीदृश्यते।

७. अथ सामान्यशैवा निरूप्यन्ते– शाक्तादिपञ्चमतानुयायिनः, अध्वशोधनसंस्कार-सङ्ग्रहमवाप्य, वेदगायत्रीमन्त्रमात्रजापिनश्च सामान्यशैवा इति व्यवह्रियन्ते।

८. वीरशैवास्तु– वीरशैवमतं श्रौतं स्वतन्त्रमिति द्विविधं भवति। तत्र वर्णाश्रमधर्मसहितं श्रौतमिति, वर्णाश्रमधर्मरहितं स्वतन्त्रमिति च चन्द्रज्ञानागम उद्घोषयति।

वीरशैवमते उत्तरशिवागमोक्तदीक्षास्वीकारः आदिशैवेन समानोऽपीष्टलिङ्गस्य नष्टत्वे, व्रतलोपस्य सम्भवे च तृणमिव प्राणाः परित्यज्यन्ते, एतदेव वीरव्रतमिति निगद्यते। भक्त्यतिशयात् शिवाराधने जागरूकत्वं च वीरव्रतत्वं भवितुमर्हति।

पुनरेतद्वीरशैवमतं सामान्यं विशेषरूपं निराभारित्वसम्पन्नमिति च त्रिविधं भवति–

१. इष्टप्राणभावलिङ्गानामेकीभावेन समर्चनम्, गुरौ चरे इष्टलिङ्गे च समभावना, त्रिकालं स्वेष्टलिङ्गपूजनं च सामान्यवीरशैवस्य लक्षणानि।

२. भस्मरुद्राक्षमन्त्रधारणादिभिः सह प्रत्यहं द्वित्रमाहेश्वराणां सुभोजनं कारयित्वा तत्पाकशेषस्य स्वयं स्वीकारः षट्कालशिवपूजनं चैते विशेषा यस्मिन् तद् विशेष्यरूपं वीरशैवं स्यात्।

३. पूर्वोक्तलक्षणसमन्वितश्चतुर्थाश्रमी निराभारी भवितुमर्हति। वैदिकवीरशैवः शिखायज्ञोपवीतदण्डकाषायवस्त्रधारी वर्तेत। स्वतन्त्रवीरशैवस्तु मुण्डी जटिलो वा दण्डकाषायवस्त्रं च धारयन् भूम्यां सञ्चरेत्। उभयोः वीरशैवयोररिपुत्रगृहादिषु ममकारभावः, निस्पृहत्वम्, निजलिङ्गैक्यभावना, भिक्षाहारस्वीकारः, निर्भयत्वं मौनव्रतावलम्बनं भूतदया, दण्डकौपीनधारणमिष्टलिङ्गस्य आजन्मान्तमपरित्यागश्च एते धर्माः समाना एव।

एतेषामष्टविधशैवानां भेदा गौणाः, अत एव मुख्या न भवन्ति, शैवमित्येव मुख्यं नामधेयमिति विज्ञेयम्।

शैवे–अष्टावरणानि, पञ्च आचाराः, चतुःषष्टिः शीलानि, शिवपूजायां षट्स्थलानि, महादीक्षात्रयस्य वेधा-मनु-क्रियाऽभिख्यस्यावान्तरभेदा एकविंशतिसंख्याकाश्च विस्तरभिया अत्र न समुल्लिखिता इति निवेदयन् विरमामि।

●

Speciality of Vīraśaiva cult and its Subdivision

Dr. R.N. Aralikatti, Pune

Nigamas (Vedas) and Āgamas (Tantraśāstra) are the two main streams of thought of Indian philosophy and religion and of thought system and practice which have been running parallel from ancient times and have been iṇfluencing religions and cultural life of our people. Among three main divisions viz. Śaiva, Vaiṣṇava and Śākta, Śaiva Āgamas are considered as oldest and their number is Twenty eight starting from Kāmikāgama to Vātulāgama. In Śaivāgama also there are two main divisions, viz., Śaiva and Vīraśaiva. According to scholars, the Śaiva cult has four subcults, viz., Southern Śaivism, Kāśmirśaivism, Śivādvaita (of Śrīkanṭha) and Vīraśaiva. Sāyana–Mādhava, author of Sarvadarśan saṅgraha has discussed the Lakulīśa, Pāśupat and so also Śaṅkarācārya in his Brahmasūtra bhāṣya has summarised and criticised the tenets of Pāśupat cult. Dr. R.G. Bhandarkar in his book on 'Śaiva, Vaiṣṇava and other minor cults has traced historical development of these sects. Dr. S.C. Nandimaṭh in his book in 'Vīraśaiva cult' has detailed the tenets of Vīraśaivism. There is no unanimity of opinion among scholars regarding the number of Śaivāgamas. Of course some scholars consider Śaiva cult as antique as Mohonjodaro civilization. However, it may be noted that origin and development of Vīraśaiva cult can be traced to 11th cen. AD–a century earlier than Basaveśvara (12th cen. AD) from the epigraphic and archeological records in Karnatak area. It was Basaveśvara who laid the firm foundation and consolidated its position. Basaveśvara was trained under Kālāmukh teacher which is a subsect of Lakulīśa Pāśupat where there is a procedure prescribed for worship of God in individual house as well as enshrined image in a temple. Carrying a Liṅga with them was a practice among Pāśupatas. Pāśupat followers were practitioner of Liṅgadhāraṇa. A small effigy of a Liṅga was given to the disciple at the time of dīkṣā (initiation) by

the Guru. Once received one should keep it unto death. One should perform pujā with all upacāras (articles) prescribed in the texts. Same must have been the case with Kālāmukhas since many inscriptions mention Liṅgī on imprecatory verses. Kallumathad Prabhudeva borrows most of the concepts from vātulāgama in his book Liṅgalīlā Vilāsa caritra and shows the relationship between Vácanas and their sources as Āgamas by citing the texts like :

अलक्ष्यमदेहमशून्यममूर्तं परमव्ययम् ।
अनाममकुलं शुद्धमनाद्यं शिवमुच्यते ।।

Due to influence of power of cit, original niṣkala Liṅga becomes Mahāliṅga from where worship of saguṇa (with form) begins with meditation etc.

Coming to our present topic with reference to Pārameśvarāgama the etymology of Vīraśaiva is given as one who wears Liṅga, Rudrākṣa, besmears holy ashes and utters Pañcākṣara mantra. In 15th patal two characteristics and qualities possessed by three types of Vīraśaivas, viz. general, special and Nīrabhārī are mentioned. The last one should not loose his Liṅga at any cost and if he does, he has to sacrifice his life.

Śaivāgamas

The French Institute of Pondicherry in its book Rauravāgama part I, has given the list of 28 Āgamas and 20 Upāgamas of Śiva-Rudrāgama. Among them below mentioned are printed in Devanagarī Script 1. Mataṅga, 2. Mṛgendra, 3. Raurava, 4. Ajit, 5. Sardhatriśati, 6. Vatul Śuddha, and Kāmika, Kāraṇa, Kiraṇa, Pauṣkar, Suprabheda, Kumāratantra are printed in grantha script. The following Āgamas are available in manuscripts. Aṅśumat, Kaśyapa, Aṅśumatbheda, Achintya, Viśvasādākhya, Umāsaṅhitā, Kālottara, Kaśyapottara, Candrajñana, Cintyadīptya, Niśvāsa kārikā, Bhīma saṅhitā, Makuṭa, Yogaja, Vātula, Vijaya, Vināyaka tantra, Vimal, Vīra, Sivadharma, Sivadharmottara Saulan Saṁhitā, Sahasra Siddhānta, Sūkṣma, Svāyambhūva.

Ramakantha's commentary on Vidyāpāda of Mataṅga Pārameśvarāgama, Nārāyana kaṇtha's Commentary on entire Mṛgendrāgama are available in print in Devanagarī script, whereas Umāpati-Śivācāryā's on jñānapāda of Pauṣkarāgama is available in

Grantha script. The manuscript of Kiraṇāgama with explanation in 350 pages is available. There are number of manuals (prakaraṇas) are available in print in Grantha scripts. Many of our texts are printed in Trivendrum, Shrinagar (Kashmir). The following deserve mention:– Iśāna Śiva gurudeva paddhati, Karmakāṇḍa kramāvalī, Kriyāsāra, Pratiṣṭhā lakṣaṇasārasamuccaya of Virochana. Śataratna saṅgraha of Umāpati Śivācāryā, Śivārcana Candrikā of Appayya Dixit, Śaiva Paribhāṣā by Śivāgrayogendra. Śaiva siddhānta paribhāṣā and Śivarahasya by Suryabhatta. Similarly Nityapūjālakṣaṇasaṅgraha-sārārtha, Nityapūjākrama, Sakalāgamasārasaṅgraha and Siddhānta Śikhāmaṇi (printed iṇ grantha script). Abhinava gupta says that H.P. was the home of this Āgama Śastras where Śrikanṭha, Tryambaka, Amardaka Śrināthа are mentioned in the 7[th] cen. inscriptions. Siddhānta Śikhāmaṇi mentions Vīraśaiva Siddhānta in the latter portions of the books and present text Pārameśvarāgama is one of those manuals which detail out the prominent tenets and letergical practices of Vīraśaiva cult. This Āgama mentions 4 subsects of Śaivism, viz., Śaiva, Pāśupata, Soma and Lākula. Further this Śaiva cult is subdivided into seven– Anādiśaiva, Ādiśaiva, Mahāśaiva, Aṇuśaiva, Avāntaraśaiva, Yogaśaiva and seventh is Vīraśaiva. Unlike other subsects of Śaivism, where institution of sacrifice has a significant role which entails money, labour etc., this Vīraśaiva cult is very simple and inexpensive and best among all of them because it is the only one which at once leads to eight-fold prosperity and emancipation i.e. uniting individual soul with Paramaśiva- the highest principle. There is none higher than Śiva among men-folk and none higher than Pārvati among women-folk. No other cult is higher than Vīraśaiva. Even yama's servants run away from their duties when they see devotees who are initiated in this cult and wear Liṅga and Rudrākṣa and besmear holy ashes on his forehead. By wearing Liṅga alone they become one with Śiva. When asked by Pārvati regarding the special significance of Vīraśaiva cult, Śiva says, 'although all Śiva yogins are termed as Vīra, the real Vīrsas are those who follow the path shown by the teacher with unflinching devotion. In fact all devotees of Śiva, who have attained the fourth stage are known as Vīras.' But this word is currently used to denote the Vīraśaiva cult in particular. The etymology of 'Vīra' is given in this text–

वीरत्वं नाम विश्वेशि तुरीया यत्र यत्र वै ।
गुरूक्तमार्गनिरता मते वीरपदाभिधे ।। I-66
अन्यत्र कर्मबाहुल्यादाचारस्य व्यतिक्रमात् ।
चित्तशुद्धेरलाभाच्च भेदसद्भावतः, सुखम् ।। I-68

In Vātulaśuddhāgama, the etymology of Vīraśaiva is given as follows–

विशिष्ट ईर्यते यस्माद् वीर इत्यभिधीयते ।
शिवेन सह संबन्धं शैवमित्यादृतं बुधैः ।। (V.Ś.Ā- X-27)
शिवार्थार्पितजीवत्वाद् वीरतन्त्रसमुद्भवात् । (X-28)
वीरशैवसमायोगाद् वीरशैवमिति स्मृतम् । (X-29)

In other sects, there is more of ritualism and lack, of good conduct and purity of mind. There is a lot of caste distinctions also which results in the mutual trickerings. But this sect is free from all these and hence it is rightly termed as Vīra where the devotee is gradually led to climb higher spiritual ladder resulting in the union with Śiva. Among the 7 subsects of Śaivism starting from Ādiśaiva, there is no specific distinctions worth mentioning but Vīraśaiva is distinct from others in the sense that this Jīva (soul) becomes Śiva.

There are 3 types of Vīraśaivas, viz. general Vīraśaiva, special Vīraśaiva and Nirābhārī Vīraśaiva according to this Pārameśvarāgama as well as Vātulaśuddhāgama and procedure of worship etc. are mostly common to all in more or less degree. The special qualities that are possessed by Sāmānya Vīraśaiva are enumerated as follows–Truth, compassion to all beings, nonviolence, self-satisfaction, control of senses, liberal attitude, devotion to God in lonely place, rejection of all sorts of distinctions, attachment to worship of Śiva, remembering and muttering Śiva mantra and meditation on him, cultivation of practice of feeling one with Śiva, great love towards devotees of Śiva, absorption in Śiva with unwavering mind, service towards teacher with all devotion, worshipping of Iṣṭaliṅga at the timings chosen by oneself, preferably thrice daily, arranging for ones own food without harming anybody. This wearing a Liṅga and garland Rudrākṣa and observing all the rules and conducting himself worthy of the qualities

mentioned above, are the characterstic marks of a Sāmānya Vīraśaiva.

Special Vīraśaiva possesses the following qualities and distinguishing features are mentioned as follows.

He should stay outside the village and go to village only for begging alms (Bhikṣā). He should never sleep there. He should avoid the company of women and familied persons. He should not be interested in the news report of a village nor should he be associated with common people. When begging for alms, he should not announce himself orally except through conchshell or bell. While entering the house of any householder, he should keep silence. He should not enter the same house again inspite of his not getting alms from that house. Observing silence, he should control and restrict all his activities. He should not unnecessarily strain himself and should not yield to any pressure. He should always get himself absorbed in the worship of Śiva, remembering and meditating on Śiva and should keep himself free from desires and temptations. He should speak truth and be compassionate towards all beings. If his Liṅga is lost accidentally, he should wear a new one and meditate on Śiva and he should regard his body itself as Iṣṭaliṅga. He should beg alms everyday and should not store anything for the next day. He should stay in secluded place being absorbed in meditation on Śiva. He should keep his mind steadfast and proceed to next stage after he earns eligibility for it. But if he acts otherwise he is considered as fallen from his status.

The third type of Vīraśaiva is termed as 'Nirābhārī' who is a great heroic Mahāśaiva. His characteristics are mentioned as follows : He should also stay in the forest and keep himself away from contact with public. He too should not enter the house of a householder or a village or town. If any devotee brings food voluntarily he should not show any special interest nor should he care for his pleasure or pain. He should ignore his praise or condemnation. He should get himself absorbed in the meditation of Śiva and should behave like children i.e. child like simplicity and innocence. He should not see the face of women nor should he chitchat with them nor should he keep contact with common people nor should he wander at his will. He should not cross the river if he can't cross it walking with knee or waist deep

water. He should not sit in a boat, made of leather nor with those not wearing a Liṅga. If he is crossing the river on foot he should not proceed if the water level reaches his chest. He should not eat in the water nor should he store anything. He should sleep on the ground and should not use cot. He should use loose and colourless garments as his dear clothes. He should shave his head or should keep matted hair or keep his hair scattered. He should not shave his matted hair. If he is keeping tuft on his head he can, if he likes, have oil bath but not when he is having matted hair. He should not use oil kept in a leather container. He should not rule his body with fragrance. He should not enter the city nor should he witness dance, drama or film. He should keep himself in solitude. He should not employ deceipt, nor should he speak untruth, should keep himself away from cheat, anger, violence to beings, tempting desires. He should not store nor should yield to pleasure. He should not be attached to his body too much. He should be equanimous when he is honoured or dishonoured.

If this Nirābhārī looses his Iṣṭaliṅga he should try to search it and wear it after feeding priest with sumptuous food at the end of fasting for 3 days and performing a fire worship. If he does not get his Liṅga, even after his intensive search, he should leave this body without any delay by means, such as, entering fire lit with cowdung or falling from a mountain, or fasting or by controlling breath or by drowning himself in water. In any case, he should not keep himself alive even for a moment after he looses his Iṣṭaliṅga. He should abandon food, water, breathing, seeing or conversing with the learned. He would suffer heavily if he engages himself in any of these due to his temptation. He should abandon his life meditating on his teacher whom he should consider as Śiva himself. If a Nirābhārī acts, contrary to this, he is doomed. He should abandon his sense organ of smell. He should besmear ashes and sleep on ashes. He should not accept oil, flower, cooked or uncooked food or water touched by one not wearing a Liṅga. Keeping in view the prescriptions of Śāstras, the advice of the teacher and one's own determination, one should enter this Nirābhārī stage after entering this he attains liberation or becomes one with Śiva (Śiva sāyujya).

From the foregoing brief presentation about the speciality of

निराभारी वीरशैवाचे पारमेश्वरागमसम्मत स्वरूप

डॉ. शे. दे. पसारकर

अठ्ठावीस शिवागमांमध्ये 'पारमेश्वर' या आगमाचा समावेश असून 'पारमेश्वरागमा'चे अभ्यासपूर्ण संपादन पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी यांनी केले आहे. शैवभारती शोधप्रतिष्ठान, वाराणसी या प्रकाशन-संस्थेने १९९५ मध्ये हा ग्रंथ प्रकाशित केला। संस्कृत श्लोकांबरोबरच सुगम हिंदी भावानुवाद दिल्यामुले सर्वसामान्य जिज्ञासू वाचकांना ग्रंथातील आशय समजून घेण्याची सोय झाली आहे।

'पारमेश्वरागमा'त निराभारी वीरशैवाचे अत्यंत रेखीव असे शब्दचित्र रेखाटलेले आहे। केवल भारतीयच नव्हे, तर जगातील सर्वच धर्मांनी आपल्या भावविश्वात एक आदर्श मानव पाहिलेला आहे। सांसारिक सुखदुःखांनी पीडलेल्या, अवतीभोवतीचे

'पतिव्रतेच्या पदरी धोंडा। वेश्येला मणिहार। उद्धवा अजब तुझे सरकार'

असे दाहक वास्तव पाहून व्यथित होणाऱ्या, पोटासाठी भाकरी मिलवायला संघर्ष करणाऱ्या सर्वसामान्य माणसाने आपल्या दृष्टीसमोर एक आदर्श पुरुष सदोदित ठेवला पाहिजे, अशी धर्मांची अपेक्षा आहे। तो दुःखाचेच सदैव चिंतन करीत राहिला तर चिंतेशिवाय त्याच्या पदरी दुसरे काही पडण्याची शक्यता नाही। सुखदुःखभोग तर सर्वांनाच भोगायचे असतात, परंतु ते भोगताना जर समत्वबुद्धी बालगता आली पर आपले जीवन ही सहजक्रीडा होऊन जाते। यासाठीच भगवद्गीतेने स्थितप्रज्ञ पुरुषाचा आदर्श आपल्यापुढे उभा केला आहे। बौद्धधर्माने बुद्ध आणि जैनधर्माने तीर्थंकर हे आदर्श सामान्यांसमोर ठेवले आहेत। जेरुसलेमच्या वाटेवरून धिंड काढलेली असताना, आपल्या खांद्यावर क्रूस वाहत, दुष्टांनी केलेली मानहानी पचवून त्याबद्दल किंचित्‌ही शापशब्द न उच्चारता येशू ख्रिस्ताने केलेले आत्मसमर्पण हा मानवी सहनशीलतेचा जसा अप्रतिम आविष्कार आहे तसाच ईश्वराला केलेल्या आत्मसमर्पणाचाही एक आदर्श आहे। छातीत गोल्या घुसल्यावर, किंकाली न फोडता, 'हेर राम' म्हणत खाली कोसलणारे महात्मा गांधी हा देखील नामसाधनेच्या क्षेत्रातील एक आदर्शच आहे, असे मला वाटते। असाच एक आदर्श पुरुष निराभारी वीरशैवाच्या रूपाने, पारमेश्वरागमात स्पष्ट उभा केला आहे।

निराभारी वीरशैवाची लक्षणे

सामान्य वीरशैव (१५.३४-४१), विशेष-वीरशैव (१५.४२-५३) आणि निराभारी वीरशैव (१५.५४-९६) अशा विविध वीरशैवांची लक्षणे 'पारमेश्वरागमांत' वर्णिली आहेत। सत्य भाषण, अहिंसा, शम, दम, उदारता, एकान्तप्रियता, भक्ती, अभेदबुद्धी, शिवपूजाप्रीती, स्मरण, कीर्तन, शिवैकात्म्याची भावना, गुरुसेवा, इत्यादि श्रेष्ठ गुण तीनही वीरशैवांत आढलतात। परंतु त्यांपेक्षा काही वैशिष्ट्यपूर्ण असे गुण निराभारी वीरशैवांत आहेत। ते असे:-

निराभारी वीरशैवाला वनवास प्रिय असून तो कोण्या गावात आणि कोणाच्या घरात प्रवेश करीत नाही। कोण्या भक्ताने भिक्षा आणली तर त्या भिक्षेत तो विशेष रुची दाखवत नाही। मानापमानाची पर्वा न करता तो सदैव शिवध्यानात मग्न असतो। एखाद्या निष्पाप बालकासारखे त्याचे आचरण असते। तो स्त्रीसंगती टालतो, लोकांच्या गर्दीत सामील होत नाही। नदीतून जाताना पोहून जात नाही, उथल पाण्यातून चालत जातो, शिथिल व विवर्ण वस्त्र त्याला प्रिय असते। तो मुंडन करू शकतो, जटा ठेवू शकतो, शिखा ठेवू शकतो किंवा केस मोकले सोडू शकतो। शरीराला उटणे (उबटन) लावणे, गावात प्रवेश करणे, नाच-गाणे पाहणे, किंवा चित्रे पाहणे त्याला वर्ज्य असते। तो एकान्तप्रिय असतो। तो कोणाशी कपट करीत नाही, खोटे बोलत नाही, कोणाला फसवत नाही; दंभ व क्रोध या दुर्गुणांपासून दूर राहतो, प्राणिमात्राला तो किंचितही दुःख देत नाही। तो वस्तुसंग्रह करीत नाही, भोगाभिलाषेपासून दूर राहतो आणि देहाविषयी त्याच्या मनात ममत्व नसते। कोणी त्याला दुःख दिले तर ते तो पूजेप्रमाणे प्रिय मानतो।

निराभारी वीरशैवाची ही लक्षणे वाचताना असे जाणवते की, एकूण भारतीय विचार-विश्वातील आदर्श पुरुषाशी ही लक्षणे जुलणारी आहेत। 'ज्ञानेश्वरी' हे भगवद्गीतेवरील सुप्रसिद्ध मराठी भाष्य आहे। ज्ञानी पुरुषाची लक्षणे ज्ञानेश्वर आपल्या शब्दांत सांगताना म्हणतात:-

पूज्यता डोलां नेदेखावी। स्वकीर्ति कांनि नायकावी।
हा अमुका ऐसी न व्हावी। से चि लोका। (१३.१८८)

चातुर्य लपवी। महत्त्व हारवी।
पीसेपण मिरवी। आवडोनि।। (१३.१९१)

जगें अवज्ञाचि करावी। संबंधीं सोये न धरावी।
ऐसी ऐसी जीविं। चाड बहू।। (१३.२०९)

बहू एकांतावरी प्रीति । जेया जनपदाची खंती ।
जाण मानुषी मूर्त्ति । ज्ञान चि तो ।। (१३.६१२)

ज्ञानी पुरुषाची भूमिका आणि त्याचे आचरण कसे असते, ते येथे ज्ञानेश्वरांनी वर्णिले आहे। आपली पूज्यता तो डोल्यांनी पाहत नाही, आपली कीर्ती तो कानांनी ऐकत नाही। हा एक ज्ञानी पुरुष आहे याची लोकांना जांणीव होऊ नये, असे त्याचे वर्तन असते। आपले चातुर्य तो कोणासमोर प्रकट करीत नाही। आपले महत्त्व दाखवत नाही। आपले वेडेपण तो लोकांसमोर मोठ्या आवडीने मिरवतो। लोकांनी आपली अवज्ञा करावी, नातलगांनी आपल्याशी संबंध ठेवू नये, अशी त्याच्या जीवाला मोठी इच्दा असते। देहभोगाकडे पाहताना तो अत्यंत कृपण असतो, अर्थात् भोग भोगत नाही, परंतु धर्माविषयी मात्र तो थोड़े-बहुत म्हणत नाही, त्यासाठी वाटेल ते करतो। त्याची एकान्तावर अत्यंत प्रीती असून त्याला लोकसंबंधाची अनावड असते। असा पुरुष मनुष्यरूपातील मूर्तिमंत ज्ञान च असतो।

अध्यात्म-क्षेत्रातील ज्ञानलक्षणे सर्वत्र समानच आहेत। ती वेगवेगल्या भाषांत वर्णिलेली आहेत एवढेच। निराभारी वीरशैवाची लक्षणे पाहिल्यावर सामान्य शैव आणि विशेष शैव यांच्यातही ही लक्षणे आहेत, हे ध्यानात येते। मग सामान्य शैव आणि विशेष शैव यांक्ष्यापेक्षा निराभारी वीरशैवाचे वेगलेपण कोणते ? ते 'पारमेश्वरागमा'त स्पष्ट केले आहे। इष्टलिंगधारण व इष्टलिंगपूजा हे वीरशैवाचे–सामान्य वीरशैव, विशेष वीरशैव व निराभारी वीरशैव या सर्वांचे–नित्यव्रत आहे। वीरशैवाने इष्टलिंग प्राणाप्रमाणे शरीरावर धारण केले पाहिजे, असे 'श्रीसिद्धान्तशिखामणी' मध्ये म्हटले आहे। जर दुर्दैवाने इष्टलिंग हरवले तर वीरशैवांनी काय करावे ? या प्रश्नाचे उत्तर 'पारमेश्वरागमा'त दिलेले आहे। सामान्य वीरशैवाने इष्टलिंग हरवले किंवा नष्ट झाले तर दुसरे लिंग विधिपूर्वक धारण केले पाहिजे:–

लिङ्गादिनाशे दैवाद्वा धारयेद् विधितः पुनः ।। (१५.४१)

विशेष वीरशैवानेही लिंग हरवल्यावर अथवा नष्ट झाल्यावर दुसरे लिंग विधिवत् धारण करावे, असे सांगितले आहे:–

लिङ्गादिनाशाद्दैवेन धारयेद् विधितः पुनः ।। (१५.४९)

याचा अर्थ असा की, सामान्य व विशेष या वीरशैवांना श्रीगुरूने दिलेले इष्टलिंग नष्ट झाल्यावर दुसरे लिंग विधिपूर्वक धारण करण्याचा अधिकार आहे। परंतु निराभारी वीरशैवाच्या बाबतीत असे नाही। निराभारी वीरशैवाचे इष्टलिंग हरवले तर त्याने त्याचा

कसून शोध घ्यावा आणि ते सापडत नाही असे निश्चित झाल्यावर प्राणत्याग करावा, असे सांगितले आहे:-

तदलाभं विनिश्चित्य त्यजेद् देहमतन्द्रितः ।
खड्गेनानशनेनापि करीषेण भृगौ गिरेः ।। (१५.७४)
प्रायोपवेशनिःश्वासरोधनाम्बुनिपातनैः ।
न तदूर्ध्वं क्षणं जीवेद् यदि स्याच्च ह्यलिङ्गकः ।। (१५.७५)

खूप शोध घेतल्यानंतर, आता इष्टलिंग मिलणार नाही असे निश्चित झाल्यावर निराभारी वीरशैवाने खड्गप्रहार करून, करीषाग्निप्रवेश करून किंवा पर्वतावरून उडी घेऊन विधिपूर्वक प्राणत्याग केला पाहिजे । प्रायोपवेशन (उपवास) करून, श्वास रोधून किंवा पाण्यात डुबून देखील तो प्राणत्याग करू शकतो, इष्टलिंग नष्ट झाल्यावर निराभारी वीरशैवाने एक क्षणभर देखील इष्टलिंगाशिवाय राहू नये ।

इष्टलिंग हरवताच प्राणत्याग करणे हे निराभारी वीरशैवाचे, सामान्य व विशेष वीरशैवांपेक्षा वेगलेपण आहे हे स्पष्ट दिसते । मराठी वीरशैव संतकवी श्रीमन्मथस्वामी यांनी आपल्या 'परमरहस्य' या ग्रंथात म्हटले आहे:-

लींग हृदईचे जीवन । लींग प्राणाचा प्राण ।
लींगामाजी मीश्रीत होउन । आसे जो कां ।। (३.७)
तो लींग गेलीया देह न ठेवीं । अैसे घडें केवी ।
पती गेलिया वाचनें जीवी । तरी ते पतीव्रताची नव्हें ।। (३.८)
तेविं लींग गेलीया जो राहें । तो वीरशैवची नोहे ।
प्राण गेलिया देह । प्रेत बोलीजे ।। (३.९)

इष्टलिंग ज्याच्या हृदयीचे जीवन, प्राणाचा प्राण असते आणि जो लिंगाशी एकरूप झालेला असतो असा वीरशैव लिंग नष्ट झाल्यावर प्राणत्याग करतो, असे मन्मथस्वामी म्हणतात । पतीच्या मृत्यूनंतर जी पत्नी जिवंत राहते तो पतिव्रता असत नाही । त्याप्रमाणे लिंग हरवल्यावर जो जिवंत राहतो तो मनुष्य वीरशैवच नाही, असे मन्मथस्वामीनी म्हटले आहे । मन्मथस्वामीनी येथे 'निराभारी वीरशैव' असा शब्द योजिला नसला तरी हे लक्षण निराभारी वीरशैवाचे आहे हे निश्चित । 'श्रीसिद्धान्तशिखामणी' ग्रंथात तर प्रमादाने लिंग जमिनीवर पडले तर प्राणत्याग करावा, असे म्हटले आहे ।

यदि प्रमादात् पतिते लिङ्गे देहान्महीतले ।
प्राणान् विमुञ्च सहसा प्राप्तये मोक्षसम्पदः ।। (६.२७)

याचा अर्थ एवढाच की इष्टलिंगाविषयी वीरशैवाने अत्यंत सजग असले पाहिजे। आपल्या प्राणाविषयी आपण जेवढे सावध असतो तेवढेच इष्टलिंगाविषयी सावध असले पाहिजे।

निराभारी वीरशैवाने विषयोपभोग घेऊ नये, सर्वांगावर भस्मधारण करावे, भस्मावरच शयन करावे; तेल, फूल, पक्व अथवा अपक्व अन्न-पाणी अलिंगी व्यक्ती देत असेल तर ते स्वीकारू नये, बहिर्मुख चित्तवृत्तींना अंतर्मुख करून ध्यान करावे, इत्यादी नियम निराभारी वीरशैवासाठी 'पारमेश्वरागमा'त सांगितले आहेत। निराभारी वीरशैवांच्या रूपाने वीरशैवाचार्यांनी एक आदर्श समाजापुढे ठेवला आहे, यात शंका नाही।

Praise of Śiva According to Pārameśvarāgama

Dr. M. N. Joshi

अमरीकबरीभारभ्रमरीमुखरीकृतम् ।
दूरीकरोतु दुरितं गौरीचरणपङ्कजम् ।।

God Parameśvara in His absolute state is beyond the ken of mind and speech. He is indefinable. But when He is immanent in the universe, He is denoted as *Saccidānandam*– Existence-Knowledge-Bliss. A more comprehensive and exhaustive definition than this cannot be had. That which is not affected by time, space and causation is *Sat* or Reality. Nevertheless, Reality puts on the appearance of getting entangled in time, space and causation. Limiting adjuncts Upādhis- are thereby created. It is because of these limiting adjuncts that the individual souls, i.e., the Jīvātmans, come into being. The Jīvātmans are the manifestations of the Reality, the Paramātman. These individualized souls are moreover given to ceaseless activity. Karma is concomitant with Jīvahood. As light and heat happen to be part and parcel of the blazing sun, karma is inherent in Jīva. Between the Jīva and his karma, the explanation of one necessarily contains the explanation of the other. Verily, each activity is actuated by will. There is no *karma* independent of the will. Man wills to walk, to eat, to sleep, to wake up and so on. As a result, action ensues, in the gross manifestation of the cosmic will. All forms of will resolve themselves ultimately into the will to live. This itself results into innumerable activities. Existence is not Life. Souls have emanated from God. Preserving life in the face of death and seeking permanence in the midst of perdition, are the workings of the will to assert existence. This assertion of existence is called *Sat*. And God is defined as *Sat*.

नमश्चिद्घनरूपाय सच्चिदानन्दमूर्तये ।
समग्रैश्वर्यरूपाय शिवलिङ्गाय ते नमः ।। पारमेश्वर, ९५

You, who are the combination of 'Sat', 'Cit', and 'Anand', are the manifestation of the entire wealth; you who appear in the form of Śivaliṅga, obeisance to you. You, who are Mṛtyunjaya (conqueror of death), Rudra, Tryambaka, Trimūrti (Brahmā, Viṣṇu and Maheśvara), Vīra, Mahāvīrasvarūpī, obeisance to you. You in the form of Śivaliṅga, from whom Vedas and Vedānta can be understood, you who are a judge (Vivekī), and also a manifestation of great success, obeisance to you. You, whose eyes are a combination of the moon, sun and fire, themselves, 'Aṣṭamūrti' (combination of the five elements–earth, water, fire, air, ether, the sun–the moon, and the sacrificing priest), manifestation of 'Mahashri', obeisance to you. You who are formless (*nirākāra*), you who are a manifestation of ever existing intellect, who are in the form of a Śivaliṅga, obeisance to you. In this way, you, who are the manifestation of six fortunes and granting these six fortunes and manifesting yourself as one who is liberated or who has attained liberationand appearing in the form of Śivaliṅga, obeisance to you.

Purified emotion is Bhakti or devotion. Allegedly impure emotions become pure when directed towards God. Man's love for God increases in direct proportion to his being soaked in His glory. As iron is attracted towards a magnet, a man of devotion is attracted towards God. And God is Love. Pure Love generates sweetness. It also expresses itself as bliss. Supreme bliss is divinity itself. *Ānandaṁ Brahaman*–Bliss is Reality. It is in search of this Bliss that souls struggle and hug life. But for its bliss, life would not be tolerated even for a moment. It would be voluntarily liquidated. Out of the fully blossomed flower of emotions flows the nectar of *ānandaṁ*.

Śrī Ādinath is one of the names given to Lord Śiva, who is supreme cosmic consciousness. In Tantra there is the concept of Śiva and Śakti. Śiva is the eternal consciousness of the cosmos and Śakti is his creative power. The cosmic consciousness or universal spirit is known by many names. In Sānkhya philosophy it is Puruṣa, in Vedānta it is Brahman. The Shaivaites call it Śiva. Vaishnavaites call it Viṣṇu. It is one and the same and the original source from which creation and sentient beings are evolved.

A few people have reached this stage of evolution. Therefore,

the first thing one must always ensure before starting any spiritual practice, is that the cosmic force is guiding all actions and that we are the instrument of that force. In both, the orient and the occident, the tradition is the same. First we pay our respects and then we ask for guidance as was the ancient tradition of prostrating oneself before the guru, whether he is worshipped in his physical or cosmic form. This is done before undertaking any work so that the divine power can be invoked. It acts like a *sankalpa* or resolve, constantly reminding one of one's ultimate goal and purpose in life, to attain the same perfected state of being.

Such obeisance and prostrations are not just an acknowledgement of superiority of a higher being, but an act done in sincerity, with pure motives, which involves offering one's whole being with love, faith and devotion. This is called *śraddhā*. There is humility, absence of ego or the sense of 'I', and this is extremely important for attaining a higher state of consciousness.

Relation of jñāna and yoga with each other :

चर्याचर्या च सततमहिंसा ज्ञानसंग्रहः ।
सत्यमस्तेयमास्तिक्यं श्रद्धा चेन्द्रियनिग्रहः ।।२।।
अध्यापनं चाध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
ज्ञा(दा)नमीश्वरभावश्च यजनं याजनं शिवे ।।३।।
अन्तर्यागो बहिर्यागः सततं ज्ञानशीलता ।
य एवं वर्तते योगी ज्ञानयोगस्य सिद्धये ।।४।।
अचिरादेव विज्ञानं लब्ध्वा योगं च विन्दति ।
दग्धं देहमिमं ज्ञानी क्षणाज्ज्ञानाग्निना व्ययेत् ।। द्वादशपटले २-५
ज्ञानयज्ञरतो देवि तस्माद्योगं समभ्यसेत् ।
विदिते शिवसात्म्यैककर्मणि ज्ञानयोगिनः ।।९।।
न यजन्ति शिवं युक्ताः समलोष्टाश्मकाञ्चनाः ।
नित्यमुक्तो महादेवि भक्तिमान् यः समाहितः ।।१०।।
ज्ञानयोगरतो योगी मम सायुज्यमाप्नुयात् ।
अथ नीरक्तचित्ता ये वर्णिनः शिवमाश्रिताः ।।

द्वादशपटले ९-११

O Pārvati, that Yogī who is always engaged in good conduct, interested in maintaining non-violence (Ahiṁsā) and gaining knowledge, interested in divine intelligence, controls his desires, interested in studying and teaching, performing and conducting Yajñas, who believes that knowledge and devotion to Īśvara are equivalent to performing and conducting Yajñas, who is engaged in gaining knowledge and believes that gaining knowledge is equivalent to possessing good behaviour, such a Yogī, without much delay, will be able to acquire 'Jñāna Yoga'. Such a Jñānī will have attained or acquired powerful yogic strength. With the help of this yogic strength, he may burn down the physical body within moments.

Therefore, those who are interested in 'Jñāna Yoga', should study Yoga. Such a person who has become one with Lord Śiva will become a 'Jñāna Yogī' and he will not offer worship to Lord Śiva in external representations in the form of earthen mond, stone, gold, etc. Because, he will treat all such things in the same way. O Mahādevī, a Yogī who is 'Nityamukta', possessing Bhakti and with concentration of mind and engaged in 'Jñānayoga', will attain 'Sāyujya'. But those who follow 'Varṇāśrama' and who are free from worldly desires, if they seek shelter of Lord Śiva, they will gain knowledge (*jñāna*), desire to serve (*caryā*) or 'Karmayoga.' By so doing, they will attain the required eligibility.

How the desireless one works and lives in the world is explained in Bhagavadgītā as follows :

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।। (II.48)

The yogī treats all the activities taking place in him as the doings of the Lord. He places himself in the position of a willing servant, ever ready to execute orders. An attitude of this kind eliminates attachment. The master orders his servant to go to the next village and bring a particular person. The servant goes on the errand accordingly, but finds the person absent. There is no disappointment in him for this failure. He is commissioned to go on another day on which he is able to find the required person. There is no special elation over the success now. The servant is simply satisfied with carrying out orders

effectively. It is in this manner that the yogī holds the successes and failures in his endeavours free from attachment and aversion.

The nature of the mind is feeling elated in success and dejected in failure. But by remaining unperturbed by either, the mind gains in clarity and firmness. It is like the surface of water that has become placid and fit to reflect objects clearly. This even-mindedness is equilibrium. He is a yogī who keeps the mind in this poised state under all circumstances. Spiritual growth is possible only to him who keeps the mind ever poised.

Characteristic Features of Persons Entitled to Follow Śivadharma :

अष्टधा लक्षणं प्राहुः शिवधर्माधिकारिणाम् ।
येन ज्ञेया नरैरन्यैर्नरा विश्वविचक्षणाः ।।२५।।
शिवभक्तेषु वात्सल्यं पूजायां चानुमोदनम् ।
स्वयमभ्यर्चनं चैव तदर्थं चाङ्गचेष्टनम् ।।२६।।
तत्कथाश्रवणे भक्तिः स्वरनेत्राङ्गविक्रिया ।
शिवानुस्मरणं नित्यं सर्वथा तदकैतवम् ।।२७।।
एतदष्टगुणं चिह्नं यस्मिन् म्लेच्छेऽपि दृश्यते ।
स शिवेन्द्रो यतिः श्रीमान् स शुचिः स च पण्डितः ।।२८।।
नास्ति कृत्यमकृत्यं च समाधिर्वा परायणम् ।
न विधिर्न निषेधश्च मम साम्यः स चाद्रिजे ।।३७।।
यथैव परिपूर्णस्य साध्यं मम न विद्यते ।
तथैव कृतकृत्यानां तेषामपि न संशयः ।।३८।।
शिवभक्तहितार्थं मे मानुषं भावमाश्रिताः ।
रुद्रलोकात् परिभ्रष्टास्ते रुद्रा नात्र संशयः ।।

पारमेश्वरागमे, द्वादशपटले, २५-३९

There are eight different characteristics of persons who are entitled to follow Śivadharma. With the help of such persons, ordinary people may be enabled to understand all things (*Viśvavicakṣaṇas*). Compassion and love in respect of devotees of Lord Śiva, approving of the worship offered by such persons, offering worship to Lord Śiva

by oneself, engaging oneself in such activities, possessing devotion in listening the praise of Lord Śiva 'Śivakathā', and for this, engaging the whole body in such activities, remembering Lord Śiva on and often, being free from evil desire (*Chala*) and deceit–in this way whosoever possesses these eight virtues, will be a great Śiva *Bhakta*.

O Pārvati, for such a Śivayogī, there is no diktat that he should do this or should not do that. There is no need for him to offer meditation. He is barred from doing some things and not doing certain other things. Such a Śivayogī is on at par with or equal to me, i.e., Lord Śiva. Since I am 'Paripūrṇa' and I am required to attain nothing, in the same way there is nothing that Śivabhaktas are required to attain. Śivabhaktas are born on the earth for the welfare of humanity only. There is no doubt about this.

Four Divisions of Śiva Dharma :

ततो दयाऽन्यत्र कार्या मोक्षमार्गबहिष्कृते ।
ज्ञानं क्रिया च चर्या च योगश्चेति धरात्मजे ।।४६।।
चतुष्पथः समाख्यातः शिवधर्मः सनातनः ।
पशुपाशपतिज्ञानं ज्ञानमित्यभिधीयते ।।४७।।
षडध्वशुद्धिर्विधिना गुर्वादीनां क्रियोच्यते ।
वीरशैवप्रयुक्तस्य शिवेन विहितस्य च ।।४८।।
लिङ्गार्चादिः स्वधर्मस्य चर्या चर्येति कथ्यते ।
तदुक्तेनैव मार्गेण शिवसुस्थितचेतसः ।।४९।।
वृत्त्यन्तरनिरोधोऽयं स योग इति कथ्यते ।
अश्वमेधशताच्छ्रेष्ठं देवि चित्तप्रसादतः ।।५०।।

पारमेश्वरागमे द्वादशपटले, ४६-५०

Lord Śiva addresses Pārvati : The ancient Śiva Dharma comprises of four divisions as : (1) Jñānapāda (2) Kriyāpāda (3) Caryāpāda and (4) Yogapāda. Knowledge of the doctrines of 'Paśu', 'Pāśa' and 'Pati' is identified as 'Knowledge' as such. Action undertaken through a Guru and attaining according to prescribed procedure, the six-fold purity (*ṣaḍadhvaśuddhi*) is known by the name 'Kriyā'. 'Caryā' is that which is comprised in Vīraśaiva Śāstra, which includes worship of 'Iṣṭa Liṅga' as prescribed by Gurus and is a symbol of practising

one's own religion. 'Yoga' is that which is communicated or narrated by Gurus and other similar persons to those who are deeply devoted to Lord Śiva to enable them to control their mind from diversions.

This 'Yoga', for the reason of being pure, will confer liberation or 'Mukti' and is superior to more than one hundred 'Aśvamedha Yajñās'. However, this is not possible for those who are indulging in worldly pleasure.

The Six Urmies (Divine Thoughts) :

क्षुत्पिपासे महेशानि शोकमोहौ जनिर्मृतिः ।
संसाराब्ध्यूर्मयश्चैता यथाब्धावूर्मयस्तथा ।।६७।।
क्षुत्पिपासे प्राणधर्मौ शोकमोहौ मनोगतौ ।
जननं मरणं चेति देहधर्मौ षडूर्मयः ।।६८।।
भवन्त्यप्राप्य दुःखाय प्राप्यापि च तथैव हि ।
आगमापायिनो नित्यं न स्वस्थं स्थापयन्त्यमी ।।६९।।
अत ऊर्मिवदूर्मित्वं तद्दुःखजनकं नृणाम् ।
तेषामिदं सहायो हि वर्गषट्कं दुरासदम् ।।

पारमेश्वरागमे षष्ठपटले, ६७-७०

O, Maheśvarī, hunger and thirst, sorrow and delusion of mind (or ignorance) and birth and death like the waves in the sea, are the waves or ups and downs in worldly life of human beings. Hunger and thirst are basic instincts of life. Sorrow and delusion are concerned with human mind; Birth and death are concerned with the human body. These are the six *Urmies.* As humans, we experience sorrows whether these occur or do not occur. They continue to be coming and going. They do not allow us to feel comfortable at all. Therefore, these *Urmies* can be compared to waves which will be rising and falling. They always bring in misery and sorrow to men. The intolerable enemies.

Ariṣaḍvargah :

कामः क्रोधश्च लोभश्च मोहश्च मद एव हि ।
मात्सर्यं च क्रमेणैतद् वर्गषट्कमुदाहतम् ।।७१।।

अरिवत् प्रतिकूलत्वादरिषड्वर्ग उच्यते ।
तदूर्मिषट्कमरिषड्वर्गं त्यक्त्वा विमुच्यते ।।

पारमेश्वरागमे षष्ठपटले, ७१-७२

Desire, anger, greed, delusion, arrogance and jealousy are known as the group of six enemies (*Ariṣaḍvarga*). By renouncing these six *Urmies* and the six enemies, man attains liberation from the miserable worldly life.

Sādhanāmṛtam :

भक्तादिसम्यग्ज्ञानान्तमुत्तरोत्तरमुत्तमम् ।
साधनं पूर्वपूर्वं स्यात् साध्यं स्यादुत्तरोत्तरम् ।।७३।।
ऊर्मिवर्गविहीनस्य सम्यग्ज्ञानाधिकारिणः ।
सुज्ञातस्थलषट्कस्य मुक्तिः करतले स्थिता ।।

पारमेश्वरागमे षष्ठपटले, ७३-७४

Śiva addresses Īśwarī, whosoever loves me, I love him/her. The one who possesses the characteristics already referred to is me or myself only. There is no doubt about this. O Pārvati, as a result of the 'Puṇya' gained and also as a result of possessing Vīraśaiva dīkṣā such a person should praise me by chanting the above mentioned *ślokas* three times daily (morning afternoor and evening).

नमः शिवाय रुद्राय नम ॐकाररूपिणे ।
भक्तस्थलस्वरूपाय शिवलिङ्गाय ते नमः ।।७७।।
गजचर्माम्बरभृते व्याघ्रचर्मधराय ते ।
महेशस्थलरूपाय शिवलिङ्गाय ते नमः ।।७८।।
कपर्दिने सकालाय ककुद्मिध्वजशोभिने ।
प्रसादस्थलरूपाय शिवलिङ्गाय ते नमः ।।७९।।
नमः परात्मने तुभ्यं प्राणलिङ्गस्थलात्मने ।
शुद्धस्फटिकवर्णाय शिवलिङ्गाय ते नमः ।।८०।।
नीलकण्ठाय नित्याय निर्मलाय परात्मने ।
शरणस्थलरूपाय शिवलिङ्गाय ते नमः ।।८१।।

त्रिशूलमृगहस्ताय कुठाराभयपाणये ।
शिवलिङ्गैक्यरूपाय शिवलिङ्गाय ते नमः ।।

पारमेश्वरागमे षष्ठपटले, ७७-८२

Obeisance to you Lord Śiva, Rudra, in the form of *'Omkāra'*, in the form of *Bhaktasthala,* in the form of Śivaliṅga, Obeisance to you. You, who wear elephant's hide, who put on tiger's skin, who have assumed the *Maheśasthala* form in the form of Śivaliṅga, obeisance to you. You who are identified as *Kapardi, Kālakāla, Nandidhvaja-śobhita* (decorated by the Nandidhvaja), you who are in the form of *Prasādisthala,* obeisance to you. You who are *'Parātma'*, who are as pure and resplendant like a crystal, you who are in the form of *Prāṇaliṅgīsthala,* and in the form of Śivaliṅga, obeisance to you. You who are blue necked (Neelakantha), *Nitya* (eternal), pure, *'Parātma', 'Śaraṇasthala svarūpī'* in the form of Śivaliṅga, obeisance to you. You who are holding the trident in one hand, a deer in the other, an axe in the third and the fourth indicating *'Abhaya'*, you who are Śivaliṅga, obeisance to you.

नमो दक्षमखान्ताय नमोऽन्धकविघातिने ।
नमः सर्वज्ञरूपाय शिवलिङ्गाय ते नमः ।।८३।।
पार्वतीशाय पृथवे पराय परमेष्ठिने ।
नमस्ते नित्यतृप्ताय शिवलिङ्गाय ते नमः ।।८४।।
नमस्ते वेदरूपाय नमः कन्थानिषङ्गिणे ।
नमस्त्वनादिबोधाय शिवलिङ्गाय ते नमः ।।८५।।
नाटिताखिलभूताय नगजार्धशरीरिणे ।
नमः स्वतन्त्रतन्त्राय शिवलिङ्गाय ते नमः ।।८६।।
नमः शशाङ्कचूडाय शशाङ्कायुतरोचिषे ।
अलुप्तशक्तये नित्यं शिवलिङ्गाय ते नमः ।।८७।।
नमः कैलासवासाय नमस्ते पुरघातिने ।
नमोऽस्त्वनन्तशक्ताय शिवलिङ्गाय ते नमः ।।

पारमेश्वरागमे षष्ठपटले, ८३-८८

You who destroyed the Dakṣa Yajña, you who killed the demon Andhakāsura, you who are the embodiment of all knowledge, and are of the form of Śivaliṅga, obeisance to you. You, who are the consort

of Pārvati, you who have a very broad personality, and you who are 'Parameșthi', who arę eternally contented, who are Śivaliṅga, obeisance to you.

You who control the entire world, who are holding half the body of Pārvati, assuming the form of *Ardhanārīśvara,* assuming an independent existence, in the form of Śivaliṅga, obeisance to you. Putting the moon on your head as an ornament, possessing the light of millions of moons, and being the full form of *Śakti* in the form of Śivaliṅga, obeisance to you. You who are living in Kailāśa, killer of the demon Tripura and who are the very manifestation of the limitless strength, in the form of Śivaliṅga, obeisance to you.

निःश्वासोत्पन्नवेदाय साक्षिभूतत्रयीमते ।
नमस्ते भक्तिरूपाय शिवलिङ्गाय ते नमः ।।

पारमेश्वरागमे षष्ठपटले, ८९

Obeisance to you, who created the Vedas with inspiration and standing as witness to them and who manifest Bhakti in the form of Śivaliṅga. You who are adored by Brahmā, who have, grown a braid of hair on your head, who destroy karma, obeisance to you, who manifest in the form of Śivaliṅga obeisance to you. Father of Ganesha and Kumāraswāmī, and manifestation of intellect in the form of Śivaliṅga, obeisance to you. Holder of the sacred Gaṅgā river, master of the Nandī and beholding the face of Gaurī in the form of Śivaliṅga, obeisance to you. God of the world (Viśvesvara), the world itself (Viśva), Brahmā, in the form of Śivaliṅga you minimise arrogance, obeisance to you. You are the support for all, you are the cause of existence as also of destruction, you who are the epitome of all intellect, obeisance to you, who are in the form of Śivaliṅga

The yogī views all forms of *karma* alike, imbued as he is with misery in varying degrees. He converts the misery-laden *karma* into the miseryfreed one. It is characteristic of *karma* to perpetuate the wheel of birth and death. But the yogī in his wisdom renders it effectless in this respect. Converting evil into good is the best of all dexterities. Lord Śiva converts the world-destroying poison into the world-saving nector. The yogī walks the way of Śiva. He handles the

bondage-producing *karma* in such a way that it becomes the freedom-yielding one; yoga is the panacea of all evils in the world.

According to Hathayoga Pradīpikā by Swātmarām–

अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमग्रहः ।
जनसंगश्च लौल्यं च षड्भिर्योगो विनश्यति ।। I.15

Overeating, exertion, talkativeness, blindly adhering to rules not understanding the spirit of the rules, being in the company of common (mundane) people and unsteadiness (wavering mind) are the six causes which destroy yoga.

Yogī should avoid over-exerting or over-straining the body and mind. Hard physical labour or intense mental work taxes one of the energy systems and can create further imbalance between the two energies. The yogī has to conserve and build up his store of energy for spiritual purposes and should not waste it in performing any unnecessary physical or mental feats.

Too much talking dissipates vital energy and wastes time which could be better spent in awakening the inner awareness. Gossipping with people who have low morals, base consciousness and sensuous desires cannot enlighten your soul, rather, their negative vibrations may influence you. Social situations and irrelevant discussions definitely distract the mind from *sādhanā*.

Self-dedication is the highest law of life. It prevails at the ethical and spiritual planes. It is given to the enlightened man alone to practise self-dedication. The act of offering the best and the most useful one for the welfare of the others is self-dedication. Both the giver and the receiver stand to gain through this sacred act. It is like draining the water away from a copious well into a fertile field. This bounteous act goes by the name of *Yajña* which literally means sacrifice. As fresh water springs out from an emptied well, the man who performs *Yajña* becomes more and yet more enlightened and prosperous. By imparting one's learning to others the capacity to teach increases. By sharing one's knowledge and wisdom with others one's fund of knowledge and wisdom increases. By supplying manure to the soil its capacity to yield is made more potential. By giving the

labourer his due wage the urge in him to turn out more work is made keen. By sharing one's wealth with all those who have been responsible for its growth, security and further expansion are ensured. The personal well-being is ever unfailingly contained in the public welfare. Giving effect to this inviolable law of nature is the practice of *Yajña*.

Swātmārāma says–

उत्साहात्साहसाद्धैर्यात्तत्त्वज्ञानाच्च निश्चयात् ।
जनसंगपरित्यागात् षड्भिर्योगः प्रसिद्ध्यति ।। I.16

Enthusiasm, perseverance, discrimination, unshakable faith, courage, avoiding the company of common people, are the six causes which bring success in yoga.

To succeed in yoga, enthusiasm or we could say, 'a positive attitude', is absolutely essential. Constant inspiration and the ideal of attaining perfection generate energy and help to maintain regularity in practice. Every day should seem like the first day of practice. The same zeal should exist between a *sādhaka* and his *sādhanā* as between a newly wed couple. Then the *sādhanā* will be invigorating and exciting. This spontaneously generates perseverance.

According to *Haṭayoga Pradīpikā*–

दिवा न पूजयेल्लिङ्गं रात्रौ चैव न पूजयेत् ।
सर्वदा पूजयेल्लिङ्गं दिवारात्रिनिरोधतः ।। I.42

Worship the liṅgaṁ neither by day only nor by night only. The liṅgaṁ should always be worshipped, irrespective of day and night.

''Worship the liṅgaṁ neither by day nor by night''; an ambiguous sentence which should not be taken on face value. 'Worship of the liṅgaṁ' means concentration upon ātmā, the highest consciousness and practices leading to its realization, all the time, day and night, continuously.

In the midst of the devotion to the preceptor, whole-hearted service to him and searching inquiries into the nature of the real and non-real, the disciple may not be making rapid progress, due to lack of adequate zeal, the criterion for spirituality. To the extent *śraddhā* or zeal beams in one, progress is made in the path of knowledge. One is

said to be devoted when one's mind is given wholly to the Ideal. Perfect mastery over the senses is a prerequisite to the development of intuition. Variance in the fulfilment of these conditions leads to quick or slow gain of knowledge. The time factor for it varies from a trice to the duration of several births. Along with the gain of *Brahmajñāna* comes peace that cannot be described. *Brahmajñāna* is also identified as *Īśvara* or Rudra.

Rudras are eleven in number. All Purāṇas are not agreed in naming them. But the widely accepted names are Ajaikapad, Ahirbudhnya, Vīrabhadra, Girīśa, Śaṅkara, Aparājita, Hara, Aṅkaraka, Pinākī, Bhaga and Śambhu. The cosmic function of the Rudras is to make men cry. True to the etymological meaning of this word, crying of people in particular is always for gain either in *Preyas* or *Śreyas.* The characteristic of the Rudras is to make them cry for *Śreyas.* Śaṅkara among these eleven is the doer of good as his name indicates. He takes the *sādhakas* direct Godward. Spiritual anguish purifies peoples very quickly.

Extreme devotion surges in the heart of the devotee who has made himself over to the Lord. He has nothing but Nārāyaṇa to cognize both within and without. This intense fervour ends with his becoming Brahman. As darkness disappears when light comes, the three Guṇas disappear when the dawn of the *Brahma jñāna* takes place.

Parameśwara is the *Cit-ākāśa* or *Cidambaram* or the Screen of Consciousness. It is the persisting Substratum. On this screen, the perishing pictures of the *Jagat* and *Jīvātman* - the universe and the beings - appear and disappear. As the cinema screen remains ever itself white while the projected pictures on it come and go, in the same way the Paramātman is ever Himself unaffected and unmodified by the appearance and disappearance of the phenomenon. The *Jñānī* takes note of the background. Parameśwara provides apparent life and consciousness to the Prakṛti clinging on to Him. In his vision the universe is not independent of the Paramātman, whereas to the ignorant man the phantom of the universe seems real while the Paramātman remains unknown.

सूर्यकोटिप्रकाशाय सूक्ष्माय सुखरूपिणे ।
शुद्धवैराग्यरूपाय शिवलिङ्गाय ते नमः ।।१००।।
नमः षड्भाग्यरूपाय नमः षड्भाग्यदायिने ।
मुक्तये मुक्तिसंधात्रे शिवलिङ्गाय ते नमः ।।

पारमेश्वरागमे षष्ठपटले, १००-१०१

The Absolute Reality is Īśvara. It is supremely above time, space and causation which are the characteristics of the universe. The senses and the intellect cannot gain access to it. For this reason it is called Parameśvara–the Supreme God.

मृत्युञ्जयाय रुद्राय त्र्यम्बकाय त्रिमूर्तये ।
महावीर्याय वीराय शिवलिङ्गाय ते नमः ।।९६।।
वेदवेदान्तवेद्याय वेदार्थाय विवेकिने ।
महसे यशसे तुभ्यं शिवलिङ्गाय ते नमः ।।९७।।
सोमसूर्याग्निनेत्राय नमस्ते त्वष्टमूर्तये ।
नमो महाश्रीरूपाय शिवलिङ्गाय ते नमः ।।९८।।
निराकाराय कवये कारणाय कलात्मने ।
नित्यज्ञानस्वरूपाय शिवलिङ्गाय ते नमः ।।९९।।
सूर्यकोटिप्रकाशाय सूक्ष्माय सुखरूपिणे ।
शुद्धवैराग्यरूपाय शिवलिङ्गाय ते नमः ।।१००।।
नमः षड्भाग्ययुक्ताय नमः षड्भाग्यदायिने ।
मुक्तये मुक्तिसंधात्रे शिवलिङ्गाय ते नमः ।।

पारमेश्वरागमे षष्ठपटले, ९६-१०१

•

Reference Works :

1. Karnataka Kala Kulaśaivara Itihāsa K.U. Dharwad.
2. Śiva in Medieval Indian Literature. By A. Sarkar. Punthi Pustak. Calcutta, 1974.
3. Pārameśvarāgama. Ed by Dr. M. Sivakumara Swami. Veerashaiva Anusandhana Sansthana. Bangalore, 1999.

शैवागमों में भक्ति की महिमा

शिवाप्पा खके

मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी।

प्रत्येक मनुष्य का जीवन-ध्येय मुक्ति है। मुक्ति-प्राप्ति के अनेक विहित साधन हैं। शिवमहिम्नस्तोत्र में पुष्पदन्ताचार्य कहते हैं—

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव[१]॥

वेदत्रयी, सांख्य, योग, पशुपतिमत, वैष्णवमत आदि भिन्न-भिन्न प्रस्थानों का उल्लेख कर वे कहते हैं कि सभी साधन साधक को भक्त शिव तक ले जाते हैं। साधक रुचि के अनुसार स्वीकार करे कि किस मार्ग से शिव जी की तरफ जाना है। ऊपर निर्दिष्ट श्लोक में सभी साधनों की विहितता सिद्ध होने से उनका निर्देश किया है, किन्तु उनका वर्णन करते समय इनमें से कुछ ऋजु हैं और कुछ कुटिल बताये गये हैं। यह इनका स्वरूप है। स्वाभाविक रूप से साधक कुटिल मार्ग की अपेक्षा सरल साधन को स्वीकार करेगा। इसी तुलनात्मक साधनविचार से पारमेश्वरागम का भक्तिमाहात्म्य प्रतिपादक बाइसवाँ पटल प्रारम्भ होता है—

न साधयति मां योगः सांख्यधर्मस्त्वनुष्ठितः।
न स्वाध्यायस्तपस्तीर्थं क्षेत्राणि नियमादयः[२]॥

ईश्वर सांख्ययोगादि मार्गों की अपेक्षा भक्ति का महिमाधिक्य बताते हैं। प्रकृति-पुरुषों के पार्थक्य का रहस्य लेकर सांख्यमत आता है।

---

१. शिवमहिम्नस्तोत्र, ७।
२. पारमेश्वरागम, २२.१।

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः[१] ।।

इसमें सांख्यशास्त्र के सभी तत्त्वों का सूत्ररूप से स्वरूप बतलाया गया है। सांख्य को सिद्धान्तशिखामणि में **'वेदैकदेशवर्तिभ्यः'** वेद के किसी एक भाग का प्रामाण्य स्वीकार करने वाला कहा है। सांख्यशास्त्र में प्रकृति स्वतन्त्र है, यह असङ्गत लगता है। हमारे दर्शन में शक्ति और शिव का अविनाभाव सम्बन्ध है। पुरुष को असङ्ग मानकर नाना माना है, यह ठीक नहीं है। सुख-दुःख तो बुद्धि के धर्म बताये गए हैं। सुख-दुःख भेद से बुद्धि का भेद सिद्ध हो सकता है, आत्मा का नहीं।

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'[२] चित्तवृत्ति का निरोध करना योगशास्त्र का उद्देश्य है। उसके लिए क्लिष्ट अष्टाङ्गसाधन बतलाये हैं। योगशास्त्र उसके स्वरूप से दुस्तर सिद्ध होता है। ऐसे क्लिष्ट मार्ग का स्वीकार सामान्य साधक कैसे कर सकता है ?

ज्ञानमार्ग में अधिकार का प्रश्न आता है। विवेक-वैराग्यादि साधन से अधिकारी सिद्ध होता है। अगर ये साधन साधक के पास नहीं हैं, तो मुक्ति के मार्ग में उसका अधिकार ही नहीं है। इस मार्ग का स्वरूप देखते हुए साधक को सुलभता से मुक्तिमार्ग की आशा नहीं है। वीरशैवाचार्यों ने—

सांख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा।
एतानि मानभूतानि नोपहन्यानि युक्तिभिः[३] ।।

कहते हुए युक्ति से सांख्यादि का खण्डन नहीं किया, किन्तु उनका स्वरूप देखते हुए उनका स्वीकार भी नहीं किया है। इससे यही सिद्ध होता है कि जहाँ अधिकार का प्रश्न न हो, जहाँ दुस्तरता न हो, जहाँ कर्ममार्ग की सूक्ष्मता न हो, जहाँ भेद का विचार न हो, ऐसा साधन सभी के लिए भक्ति ही है। इसी से तो कहते हैं–

अनाचारोऽपि साचारो वृत्तिः शुद्धाऽपि वा न वा।
सुजनो दुर्जनो वाऽपि मद्भक्त्या पदमुत्तरेत्[४] ।।

अनाचार दुर्जन भी इस मार्ग से पुनीत होकर मोक्षप्राप्ति कर सकता है। सभी को स्वीकारने वाली केवल भक्ति-माता ही हैं। भक्तिरसायन में आचार्य मधुसूदन सरस्वती

१. सांख्यकारिका, २।
२. योगसूत्र, १।
३. सिद्धान्तशिखामणि, ५.४।
४. पारमेश्वरागम, २२.५।

जी का वचन याद आता है–''मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी''[१]। इसीलिए भक्ति की सर्वोत्तमता निर्देशित की है। ऐसी भक्ति करने वाले से स्वयं भगवान् डरते हैं। वे कहते हैं **''न बिभेमि कुतश्चापि यथा भक्तादहं प्रिये''**[२]।

भक्ति का स्वरूप

जिस प्रकार नारदभक्तिसूत्र में **''सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा अमृतरूपा च''**[३] यह भक्ति का लक्षण कहा गया है, उसी तरह यहाँ भक्ति का लक्षण करते हैं—

सहानुभावा या सेवा सा भक्तिरिति कथ्यते[४] ।।

भावना से भरी सेवा ही भक्ति है। सिद्धान्तशिखामणि भी इसकी पुष्टि करते हुए कहती है–**''साङ्गा न्यूना च या सेवा सा भक्तिरिति कथ्यते''**[५]। परशिव की प्रीतिपूर्वक सेवा ही भक्ति है। 'भज् सेवायाम्' धातु में क्तिन् प्रत्यय लगने से भक्तिशब्द निष्पन्न होता है।

कर्मणा मनसा वाचा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु।
मदनुस्मरणं ध्यानं स्तुतिः पूजा रतिः सदा[६] ।।

इस वचन के अनुसार मन, वचन, कर्म से तीनों स्थितियों में जागृति, स्वप्न तथा सुषुप्ति दशा में शिव का स्मरण, ध्यान, स्तुति आदि करना भक्ति है। भक्त के कर्म शिव के प्रति समर्पित होते हैं। उसका मन शिव का हो जाता है। वाणी शिव के गुणकथन के लिए प्रयुक्त होती है।

मनो महेशध्यानाढ्यं नान्यध्यानरतं मनः।
शिवनामरता वाणी वाङ्मता चैव नेतरा[७] ।।

वीरशैव की भक्ति सम्प्रदाय के उपास्य की सेवा है। विशेष रूप से वहाँ कहते हैं—

मल्लिङ्गधारणं भक्तपूजनं लिङ्गपूजनम्।
अहिंसा सर्वभूतेषु दया मदनुवीक्षणम्[८] ।।

---

१. भक्तिरसायन।
२. पारमेश्वरागम, २२.८
३. नारदभक्तिसूत्र, २।
४. पारमेश्वरागम, १२.२९
५. सिद्धान्तशिखामणि।
६. पारमेश्वरागम, २२.३४
७. सिद्धान्तशिखामणि, ९.१६।
८. पारमेश्वरागम, २२.३५

इष्टलिङ्गधारण व पूजन करना यह भक्त का लक्षण तो है, किन्तु भक्त भक्त का भी पूजन करे। भक्त को सर्वश्रेष्ठ मानना उसका जीवनसूत्र है। महात्मा बसवेश्वर इसी तत्त्व से चलते थे। शिवभक्त से बढ़कर कोई नहीं और मुझसे कनिष्ठ कोई नहीं। भक्ति के सम्बन्ध में अहिंसा की बात कही गई है कि भक्त किसी की मानसिक, वाचिक तथा कायिक हिंसा न करे। भक्त का लौकिक आचार भी शुद्ध होना चाहिए। सृष्टि में सब तरफ शिवभाव को देखना उसका धर्म होता है। उसका शम्भु भगवान् सदाचारप्रिय होने से भक्त सदाचारी रहता है। सदाचार उसका धर्म बन जाता है। समर्पित भाव से भक्ति करने वाला भक्त भोगासक्त कभी नहीं होता।

सर्वामैन्द्रियकीं वृत्तिं मत्सेवायै नियोजयेत्।
सम्प्राप्तमखिलं भोगं मदर्थमपि चार्पयेत्[1] ।।

वह अपनी सारी इन्द्रियवृत्तियों को शिव की सेवा में लगा देता है। विषयसुख का भोक्तृत्व अपने पास नहीं रखता। पाँच ज्ञानेन्द्रियों को विषयों से मिलने वाली तृप्ति लिङ्गों[2] को इस प्रकार अर्पण कर देता है–घ्राणेन्द्रिय से मिलने वाली तृप्ति आचार लिङ्ग को, रसनेन्द्रिय से होनेवाली तृप्ति गुरुलिङ्ग को, नेत्रेन्द्रिय से मिलने वाली तृप्ति शिवलिङ्ग को, त्वगिन्द्रिय से मिलने वाली तृप्ति जङ्गमलिङ्ग को, श्रोत्रेन्द्रिय से मिलने वाली तृप्ति प्रसादलिङ्ग को, मानसेन्द्रिय से मिलने वाली तृप्ति महालिङ्ग को अर्पण की जाती है। भक्त स्वयं को कर्ता भी नहीं मानता और भोक्ता भी नहीं मानता है। इस प्रकार इहामुत्रफलभोगविराग रूप वैराग्य उसके पास स्वाभाविकता से आ जाता है।

नेहामुत्रफलं किञ्चिदिच्छेद् भक्तो मम प्रिये।
अपि कैवल्यमीशानि मया दत्तमपि क्वचित्[3] ।।

उसको ऐहिक पारमार्थिक भोग की तो आकांक्षा ही नहीं है। मैंने अगर मोक्ष भी दिया, तो उस कैवल्य पद को भी स्वीकार नहीं करता है। वह केवल प्रेमरूपा भक्ति ही चाहता है।

भक्ति कैसे उत्पन्न होती है ?

इस प्रकार की श्रेष्ठफलदायिनी भक्ति कैसे उत्पन्न होती है ? जिसके अन्त:करण में शास्त्र और गुरु के विषय में श्रद्धा है, वही भक्ति को पाता है।

---

१. पारमेश्वरागम, २२.३९।
२. परमरहस्य, अ. १४।
३. पारमेश्वरागम, २२.४२।

साध्या तस्मात् सदा श्रद्धा तस्य वश्यो भवाम्यहम् ।
श्रद्धा मम मतस्थस्य मयि भक्तिः प्रजायते[१] ।।

श्रद्धायुक्त मनुष्य के वश में मैं रहता हूँ। मेरे मत के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होने पर उस व्यक्ति के मन में शिव की भक्ति जाग उठती है। ऐसे भक्तिसम्पन्न व्यक्ति की ही मेरे प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है, अन्य की नहीं।

पुराकृतेन पुण्येन निर्विण्णः सुखसङ्गमे ।
गुरुं समाश्रयेद् भक्त्या दुःखोत्तरणहेतवे[२] ।।

पुरातन जन्मों में किये गये पुण्यफल का उपचय होने पर इस तरह के सांसारिक भोगों से विरक्त हो जाता है। दुःखों से छुटकारा पाने के लिए भक्तिपूर्वक गुरु की शरण में जाता है। वस्तुतः परमेश्वर के अनुग्रह से (प्रसाद से) भक्ति उत्पन्न होती है और भक्ति से प्रसाद प्राप्त होता है, ऐसा अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है–**''प्रसादादेव सा भक्तिः प्रसादो भक्तिसम्भवः''**[३]।

भक्ति से मुक्ति किस प्रकार सम्भव है?

जीवन का परम ध्येय मोक्ष है। वह तो केवल ज्ञान से ही प्राप्त होता है– **''ज्ञानादेव तु कैवल्यम्''**, **''ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः''**, **''ज्ञानेन मुक्तिर्न तु मुण्डनेन''** इत्यादि वचनों से मुक्ति केवल ज्ञानोत्तर प्राप्त होती है, फिर भक्ति से मुक्ति किस प्रकार सम्भव है? ऐसा प्रश्न उठ सकता है। इसका समाधान यह है—

भक्त्यभ्यासात् समुत्पन्नं ज्ञानं च सुदृढं भवेत् ।
ज्ञानेन योगमाप्नोति ताभ्यां सिद्धो विमुच्यते[४] ।।

भक्ति के सम्यक् अभ्यास से उत्पन्न ज्ञान सुदृढ़ होता है। इस ज्ञान और योग की सहायता से शिवभक्त सिद्धि को प्राप्त करता है। अन्ततोगत्वा मुक्त हो जाता है। भक्ति का पर्यवसान ज्ञान में होकर ज्ञान से ही वह मुक्त होता है। भक्ति से जीव की हरेक शक्ति का संकुचित रूप धीरे-धीरे विकसित होकर जीव शिव बनता है। जीव के पास जो अल्पज्ञताशक्ति है, वह संकुचित ज्ञानशक्ति है, उसे विद्या कञ्चुक कहते हैं। भक्ति

१. पारमेश्वरागम, १२.८९।
२. तत्रैव, २२.५४।
३. सिद्धान्तशिखामणि, ९.११।
४. पारमेश्वरागम, २२.६१।

से ज्ञानशक्ति के विकसित होने से शिवत्व प्राप्ति होती है। जीव के पास जो अल्पकर्तृत्वशक्ति है, वह संकुचित क्रियाशक्ति है, उसे कला कञ्चुक कहते हैं। भक्ति से क्रियाशक्ति के विकसित होने से शिवत्व की प्राप्ति होती है। जीव के पास जो अपूर्णताशक्ति है, वह संकुचित पूर्णताशक्ति है, उसे राग कञ्चुक कहते हैं। भक्ति से पूर्णताशक्ति के विकसित होने से शिवत्व की प्राप्ति होती है। जीव के पास जो अनित्यताशक्ति है, वह संकुचित नित्यताशक्ति है, उसे काल कञ्चुक कहते हैं। भक्ति से नित्यताशक्ति विकसित होकर शिवत्व प्राप्त होता है। जीव के पास जो अल्प विभुत्वशक्ति (परिच्छिन्न) है, वह संकुचित विभुत्वशक्ति है, उसे नियति कञ्चुक कहते हैं। भक्ति से विभुत्वशक्ति विकसित होकर शिवत्व प्राप्त होता है। इस तरह इन पञ्च कञ्चुकों को पार कर जीव शिव बनता है। यह भक्ति का प्रभाव है। भक्ति से ही भक्त के मन में ज्ञान की उत्पत्ति अनायास होती है। ज्ञानोत्पत्ति से अज्ञानान्धकार दूर होकर निःसन्देह भक्त मुक्त हो जाता है।

सुसुखं ज्ञानमुत्पन्नं भक्तस्य सुदृढं भवेत्।
निरस्ताज्ञानतिमिरस्तेन मुक्तो न संशयः[१] ।।

श्रीगुरु के पास श्रद्धा से विनयान्वित होकर शिष्य शरण में जाता है। गुरुकारुण्य से क्रिया दीक्षा से स्थूलदेहगत कार्मिक मल निवृत्त होकर जीव निरहङ्कार बनता है। मान्त्रीदीक्षा से सूक्ष्मदेहगत मायीय मल निवृत्त होकर अभेद बनता है। वेधा दीक्षा से कारणशरीरगत आणव मल निवृत्त होकर जीव पूर्णत्व को पाता है। "**दीयते च शिवज्ञानं क्षीयते पाशबन्धनम्।**"[२] गुरुदीक्षा से शिवज्ञान दिया जाता है और पाशबन्धन दूर किये जाते हैं। तब "**शिवोऽहमिति सम्भाव्य शिव एव भवेद् ध्रुवम्**"[३]। मैं शिव हूँ, ऐसा भाव बनने से जीव शिवस्वरूप हो जाता है।

ऐसी भक्ति से बने दीक्षित ज्ञानी के लिए विधि-निषेध नहीं रहते। विधि-निषेध गुणाधीनता की सीमा तक रहते हैं। ज्ञानी तो गुणत्रय की सीमा पार कर चुका होता है। उसको न विधि है, न निषेध है। "**निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः**"। यही बात शिवागम में भी है—

न किञ्चिज्ज्ञानिनः कर्म निषेधो विधिरेव वा।
विधिर्यो ज्ञाननिष्ठोऽभूत् सैव निःसङ्गितात्मनः[४] ।।

---

१. पारमेश्वरागम, २२.६७। २. सिद्धान्तशिखामणि, १५.७।
३. पारमेश्वरागम, २२.५८। ४. तत्रैव, २२.६८।

ज्ञाननिष्ठा ही उसके लिए सबसे बड़ी विधि है। उसी से वह अपनी निःसङ्गिता (वैराग्य) प्राप्त करता है। फिर भी "लोकसङ्ग्रहमेवार्थं" ही वह अभ्यस्त विहित कर्मों का आचरण करता है तथा निषिद्ध कर्मों का परित्याग करता है।

अतः भगवान् शिव पार्वती जी से कहते हैं कि अपने मन को विषयों के प्रति न जाने देते हुए मेरे में स्थिर करके ऐसी ज्ञानदायिनी, अर्थात् मोक्षदायिनी भक्ति को ही भक्त स्वीकार करे—

सर्वथा शृणु विश्वेशि परमार्थविनिर्णयम्।
सर्वयत्नेन मनसा स्थिरीकुर्यान्मनो मयि[1]।।

यहाँ भक्ति को योग कहा है। "**एष मे परमो योगः**"[2] अर्थात् शिवयोग है। शिवयोग से शिवभाव की प्राप्ति होती है।

जगन्मिथ्यात्व का अभिप्राय

अब इस प्रकरण का समारोप करते हुए भक्त की जगत् के प्रति जो दृष्टि बनती है, उसका उल्लेख करते हैं—

एतन्निरूपितं देवि गुणत्रयविकारकम्।
जगन्मिथ्यामयं बुद्ध्वा मामाश्रित्य भवेदहम्[3]।।

सत्त्व, रज और तम इन गुणों से निर्मित जगत् मिथ्या है, ऐसा विचार कर मेरा ही आश्रय ग्रहण करे। यहाँ जगन्मिथ्यात्व का उल्लेख आता है। वीरशैव दर्शन में तो जगत् का सत्यत्व प्रतिपादित है। यहाँ जगत् का 'गुणत्रयविकारकम्' विशेषण आता है। यह जगत् क्या है ?

"**गुणत्रयात्मिका शक्तिर्ब्रह्मनिष्ठा सनातनी**"[4] ब्रह्मनिष्ठा सनातनी शक्ति ही विकसित होकर जगत् बनती है और शक्ति के सङ्कोच से प्रलय। उस परमात्मा के अन्दर ही अविभागपरामर्शदशा में सच्चिदानन्दरूपिणी ब्रह्मनिष्ठा सनातनी शक्ति रहती है। वही विभागपरामर्शदशा में जगन्निर्माण कार्य का कारण बनकर जगत् बनती है। "**शक्तिरेव जगत्सर्वं शक्तिमांस्तु महेश्वरः।**"[5] शक्ति और शक्तिमान् में भेद नहीं है। जेगत् हमारी दृष्टि में सत्य है।

---

१. पारमेश्वरागम, २२.१०४। २. तत्रैव, २२.१०५।
३. तत्रैव, २२.१०६। ४. सिद्धान्तशिखामणि, ५.३९।
५. सिद्धान्तशिखामणि।

पत्रशाखादिरूपेण यथा तिष्ठति पादपः ।
तथा भूम्यादिरूपेण शिव एको विराजते[१] ।।

यहाँ सदृष्टान्त बताया गया है कि पत्र-शाखादि रूप में वृक्ष जिस तरह विराजमान है, उसी तरह शिव जगत् के रूप में विकसित होकर विराजमान है। सत्ता की दृष्टि से जो शिव की सत्ता है, वही शक्ति की और उन्हीं का रूप होने से जगत् की भी वही शिवसत्ता है। वह भी शिवस्वरूप होने से सत्य है। फिर यहाँ मिथ्यात्व क्यों लिखा है ?

जगत् गुणत्रय का विकार है। जगत् में सभी विषय होते हैं। विषय मोहक होने से जीव स्वाभाविक रूप में उनमें रमता है। उस मोहमय जगत् के प्रति विरक्ति की भावना प्रकट करते हुए सिद्धान्तशिखामणि में भक्तस्थल के तीसरे स्थल में संसारहेयस्थल आता है। इससे संसार हेय अवश्य है। गुणत्रय का विकार होने से स्वभावतः हेय है। मिथ्यात्व का अर्थ यहाँ हेयत्व लेना, यही इस सिद्धान्त में सङ्गत होगा।

•

---

१. सिद्धान्तशिखामणि, १०.७०।

वीरशैव दीक्षा में स्त्री-शूद्र आदि का अधिकार

डॉ. महादेव शिवाचार्य (बबलेश्वर)

प्रस्तावना

इस संसार में ब्रह्मा द्वारा सृष्ट अनन्त प्राणियों में से मनुष्य-प्राणी सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। कोई भी प्राणी जन्म से परिशुद्ध, परिपक्व या सुसंस्कृत नहीं रहता है। उसके लिए कोई संस्कार खासकर धार्मिक संस्कार प्राप्त करना बड़ा आवश्यक होता है। अत: इस जगत् में भी किसी मानव को किसी एक धर्म में प्रवेश पाने के लिए दीक्षा नामक धार्मिक संस्कार धर्माचार्य द्वारा स्वीकार करना अनिवार्य होता है, जो उसके जीवन में एक बड़ी महत्त्वपूर्ण घटना या मोड़ समझी जाती है। खासकर वीरशैव धर्म में यह दीक्षा अन्य धर्म-दीक्षाओं की अपेक्षा बड़ी विलक्षण होती है। इस धर्म में दीक्षित होनेवाले व्यक्ति को सद्गुरु की कृपा से दीक्षा के द्वारा इष्टलिङ्ग प्रदान किया जाता है।

परन्तु सद्गुरु की कृपा तथा दीक्षा प्राप्त करना उतना आसान काम नहीं है। उसके लिए हर एक दीक्षार्थी व्यक्ति को बड़ी कसरत करनी पड़ती है, यानी कई क्लिष्ट परिस्थितियों में से गुजरना पड़ता है, अर्थात् कई प्रकार के परिवर्तन पाने के लिए कई प्रकार की साधना करनी पड़ती है। इसके अलावा काफी इन्तजार करना पड़ता है। मानव जन्म का अन्तिम लक्ष्य समझे जानेवाले मोक्ष की प्राप्ति हेतु किसी भी मनुष्य को ब्रह्मजिज्ञासा करनी पड़ती है। किन्तु अध्यात्मचिन्तकों की चिन्तनशाला में यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न चर्चा का विषय बना रहा है कि ब्रह्मप्राप्ति, अर्थात् मोक्षप्राप्ति की साधन-भूत ब्रह्मजिज्ञासा कब करनी चाहिए ? ऐसी एक बड़ी विलक्षण दार्शनिक या पारमार्थिक समस्या के समाधान हेतु **''अथातो ब्रह्मजिज्ञासा''** (ब्रह्मसूत्र १.१.१) इस सूत्र का भाष्य लिखते हुए श्रीपति पण्डिताराध्य शिवाचार्य ने—''शरीरत्रयगतमलत्रयध्वंसक-कारुण्यकल्याणकैवल्यविभूतित्रयप्रदायकाष्टावरणपञ्चाचारसद्गुरुकरुणाकटाक्षलब्धशक्ति-पाताद्यवच्छिन्नपरशिवेष्टलिङ्गधारणात्मकपाशुपतदीक्षाऽऽनन्तर्यमित्यथशब्दार्थो निर्णीयते''। यहाँ 'अथ' शब्द का अर्थ करते हुए सद्गुरु की कृपा से दीक्षा के द्वारा इष्टलिङ्ग के धारण के अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए''। इस प्रकार अपना विचार व्यक्त किया है।

जिस प्रकार वेदान्तशास्त्र में विवेक, वैराग्य शमदमादिषट्क सम्पत्ति और मुमुक्षुता आदि साधनचतुष्टय की प्राप्ति के अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा का अधिकार माना जाता है, उसी प्रकार वीरशैव सिद्धान्त में त्रिविध दीक्षा के द्वारा जिसके मलत्रय निवृत्त हो गये हों, जो सदा इष्टलिङ्ग को शास्त्रविहित पद्धति से शरीर पर धारण किये हों, जो अष्टावरणों में निष्ठा रखकर पञ्चाचार में परायण हों, वही ब्रह्मजिज्ञासा का अधिकारी माना जाता है। इसका निष्कर्ष यही हुआ कि सद्‌गुरु के द्वारा दीक्षा में प्राप्त इष्टलिङ्ग को शरीर पर धारण करके जो शिव-जीव का अभेद बोधन करनेवाली विद्या में रमण करता है, ऐसा शिवभक्त ही 'वीरशैव' कहलाता है। वीरशैव मत एक नहीं, वह कई प्रकार के शैवमत-प्रभेदों में से एक माना जाता है। अब उन प्रभेदों को जानना आवश्यक है।

पारमेश्वरागम में वर्णित सप्तविध शैवमत

पारमेश्वरागम के 'मतभेदस्वरूपनिरूपणम्' शीर्षकवाले प्रथम पटल में परमात्मा परमेश्वर जगज्जननी पार्वती के साथ संवाद करते हुए इस प्रकार उपदेश करते हैं–

अथ वक्ष्ये गिरिसुते मतं मम महत्तरम्।
शैवं सप्तविधं पुण्यं वीरशैवादिभेदतः।।
वीरशैवं तथानादिशैवमादिपदं ततः।
अनुशैवं महाशैवं योगशैवं तु षष्ठकम्।।
सप्तमं ज्ञानशैवाख्यं तत्र सर्वोत्तमोत्तमम्।
वीरशैवमितीशानि तदङ्गानीतराणि तु।।

(पा. अ. १.१५-१७)

इसका तात्पर्य है– हे गिरिपुत्रि! अब मैं अपने मत का निरूपण कर रहा हूँ, जो कि इन सभी मतों में श्रेष्ठ है। यह पुण्यदायक शैवमत वीरशैव आदि के भेद से सात प्रकार का है। वीरशैव, अनादिशैव, आदिशैव, अनुशैव, महाशैव और छठाँ मत योग-शैव नाम से प्रसिद्ध है। सातवाँ मत ज्ञानशैव कहलाता है। इन सात मतों में वीरशैव मत ही सर्वश्रेष्ठ है। अन्य सभी मत इसी के अङ्ग माने जाते हैं।

वीरशैव मत की श्रेष्ठता

संसार में शैवमत के अलावा कई प्रकार के मत हैं। वे सभी मत अपने-अपने में महान् हैं, क्योंकि इन सबका प्राप्य फल एकमात्र मुक्ति है। वीरशैव मत की विशेषता को पारमेश्वरागम में स्वयं ईश्वर ने पार्वती से इस प्रकार कहा है—

हे पार्वती ! अन्य मतों में प्रदर्शित यज्ञ-यागादि अनुष्ठानों के आयोजन में बहुत धन खर्च करना पड़ता है और पूरी सावधानी बरतनी पड़ती है। इसके विपरीत शैव मत में प्रदर्शित अनुष्ठान से महान् शुभकर फल अनायास मिल जाता है। इसलिए निःसन्देह वीरशैव मत सर्वश्रेष्ठ है। आगे वे कहते हैं—

वीरशैवमतं सद्यो भोगमोक्षैकसाधनम् ।
सर्वोत्तमं मम मतं यतः सर्वोत्तमोऽस्म्यहम् ।।

(पा. आ. १.४२)

अर्थात् वीरशैव मत तत्काल भोग (अष्टविध ऐश्वर्य) और मोक्ष दोनों को देनेवाला एकमात्र साधन है। यह मेरा मत सर्वोत्तम इसलिये है कि मैं स्वयं भी सर्वोत्तम हूँ। प्रस्तुत आगम में भगवान् ईश्वर इस वीरशैव मत की महत्ता, लिङ्ग-दीक्षा एवं लिङ्गधारण तथा इष्टलिङ्ग की पूजा रूपी वीरव्रत में ही निहित है, इस बात को उजागर करते हुए कहा है—

अत्र वक्ष्ये विशेषं ते लिङ्गधारणवैभवात् ।
भक्तिमात्रेण कल्याणि सुखं दुःखाम्बुधिं तरेत् ।।
प्रवेशमात्रेण मते मम शैवे मतोत्तमे ।
अनायासेन सुसुखं लिङ्गधारणवैभवात् ।।

(पा. आ. १.६९-७०)

इसका तात्पर्य यह है कि– हे कल्याणि ! वीरशैव मत की इस विशेषता को मैं तुम्हें बताऊँगा कि यहाँ इष्टलिङ्ग धारण की महिमा से, भक्तिमात्र से मनुष्य सुखपूर्वक दुःखसागर को पार कर लेता है। इस श्रेष्ठ वीरशैव मत में प्रवेशमात्र से इष्टलिङ्गधारण की महिमा के सहारे मनुष्य अनायास आत्मसुख को प्राप्त कर लेता है, जो सद्योमुक्ति या मोक्ष की अनुभूति मानी जाती है।

इन बातों के साथ-साथ भगवान् परमेश्वर शैवी दीक्षा व लिङ्गनिष्ठा के प्रति चेतावनी देते हैं कि हे देवि ! शिव दीक्षा, अर्थात् वीरशैव दीक्षा के बिना जो इष्टलिङ्ग धारण करता है अथवा भक्ति के अभाव में जो उसका परित्याग कर देता है, वह घोर नरक में जाता है।

वीरशैव दर्शन साधनाप्रधान होने से और दीक्षा के बिना साधना में प्रवेश न होने के कारण इस दर्शन में मुमुक्षु के लिए दीक्षा अनिवार्य है। दीक्षा से जीव के आणवादि मलत्रय की निवृत्ति होती है। परब्रह्म-परशिव या महालिङ्ग के साथ उसकी आत्मा

अभेदरूपी शिवज्ञान को प्राप्त करेगी। सिद्धान्तशिखामणि में भगवत्पाद रेणुकाचार्य की उक्ति है—

दीयते च शिवज्ञानं क्षीयते पाशबन्धनम्।
यस्मादतः समाख्याता दीक्षेतीयं विचक्षणैः।। (सि. शि. ६.११)

इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रक्रिया के द्वारा साधक मुमुक्षु को शिवज्ञान दिया जाता है और जिससे पाश-बन्धन कट जाते हैं, उस प्रक्रिया को विचक्षण लोग दीक्षा कहते हैं। यहाँ पर मल-माया-कर्म रूपी भवबन्धन को पाशबन्धन की संज्ञा दी गयी है।

दीक्षात्रय-वर्णन

इस धर्म में तीन प्रकार की दीक्षाएँ बतायी गयी हैं। योगाङ्ग, भोगाङ्ग और त्यागाङ्ग के पर्यायवाचक कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर में रहनेवाले आणव मल, मायीय मल तथा कार्म मल इन तीनों मलों को हटाने के लिए शैव एवं शाक्त दर्शनों की भाँति वीरशैव दर्शन में तीन प्रकार की दीक्षाएँ स्वीकृत हैं। इसीलिए अगस्त्य मुनि के प्रति रेणुक भगवत्पाद कहते हैं—

सा दीक्षा त्रिविधा प्रोक्ता शिवागमविशारदैः।
वेधारूपा क्रियारूपा मन्त्ररूपा च तापस।। (सि. शि. ६.१२)

अर्थात् शिवागम के ज्ञाता लोग वेधारूप, क्रियारूप तथा मन्त्ररूप तीन प्रकार की दीक्षाएँ बताते हैं।

दीक्षा संस्कार से पहले दीक्षा प्रदान करनेवाले गुरु के सदाचारसम्पन्न, शान्त स्वभाववाले आत्मज्ञान व शिवतत्त्व के ज्ञान से सम्पन्न आदि कई लक्षण होते हैं, जिनका उसमें विद्यमान रहना नितान्त आवश्यक है। उसी प्रकार दीक्षा ग्रहण करनेवाले शिष्य के भी कार्यकुशल, सदा गुरु की सेवा करने में तत्पर, सत्यवादी, आस्तिक, मधुर एवं प्रिय भाषा बोलनेवाला आदि अनेक लक्षण बताये गये हैं, जिनका उसमें रहना जरूरी है। विद्वान् गुरु को चाहिए कि पहले वह तीन वर्ष पर्यन्त उस शिष्य की परीक्षा कर उसे शुद्ध करे। पारमेश्वरागम के प्रथम पटल में उपर्युक्त गुरु-शिष्य-लक्षण विस्तार से वर्णित है। इस सन्दर्भ में भगवान् शङ्कर जी गौरी माता से कहते हैं— जो मुमुक्षु मेरी कृपा का अधिकारी होता है अथवा जिसका यह अन्तिम जन्म है, उसी को इष्टलिङ्ग धारण में भक्ति उत्पन्न होती है (पा. आ. १.६१-६२)। ऐसा विषय-पराङ्मुख, शान्त स्वभाव का मुमुक्षु भक्त शिवस्वरूप गुरु की शरण में जाय। इन सब गुणों से सम्पन्न शिष्य को सद्गुरु अपने पास बुलाकर विधिवत् दीक्षात्रय को प्रदान करे।

प्रस्तुत आगम में 'दीक्षाक्रम' इस शीर्षक के अन्तर्गत दीक्षा प्रदान करने योग्य सही मास, पक्ष, वार, तिथि, नक्षत्र, योग तथा करण आदि सुमुहूर्त और सुसमय के बारे में बड़े विस्तार से बताया गया है। उसी प्रकार दीक्षा लेनेवाले वटुक या व्यक्ति के देहशुद्धि, करणशुद्धि से पहले दीक्षा स्थान का मण्डप निर्माण, कलश स्थापना और उनकी पूजा विधि सज्जिका, शिवसूत्र और इष्टलिङ्ग का शुद्धीकरण व पूजाविधान एवं होम-हवन विधि आदि के बारे में बड़े विस्तार से प्रथम, तृतीय तथा चतुर्थ पटलों में विवेचित किया गया है। आगे इस ग्रन्थ के अन्तिम भाग बीसवें पटल में अनुशैव आदि छः प्रकार के शैवों के लिए एक कलशवाली दीक्षा का विधान बताया गया है। उसी प्रकार पन्द्रहवें पटल में वर्णित सामान्य, विशेष तथा निराभारी नामक तीन प्रकार के वीरशैव मतावलम्बी साधकों की दीक्षा विधान अलग-अलग वर्णित है। जैसा कि इनमें से प्रथम दो सामान्य वीरशैव तथा विशेष वीरशैवों की दीक्षा तीन कलशों से सम्पन्न होती है। इनके लिए पञ्चब्रह्म अनुवाक और पञ्चाक्षर मन्त्र का ही निश्चित रूप से विधान है। ऐसे ही निराभारी या तुर्य वीरशैव के लिए पाँच कलशों की स्थापना कर अर्थात् एक कलश मध्य में अन्य चार कलश चार दिशाओं में स्थापित कर शतरुद्रीय, पञ्चाक्षर मन्त्र पञ्चानुवाक, प्रणव मन्त्र आदि से तथा पूजानुवाक, स्तोत्र आदि से यह चरम वीरशैव दीक्षाविधि सम्पन्न की जाती है। उसके बाद तुर्य या निराभारी वीरशैव के अत्यन्त कठोर व क्लिष्टमय आचरण व लक्षण के बारे में विस्तार से बताया गया है।

इस प्रकार 'वीरशैव दीक्षा' के कई महत्त्वपूर्ण पहलुओं के बारे में बड़े विस्तार से ब्रह्मसूत्र के श्रीकरभाष्य, श्रीसिद्धान्तशिखामणि और शैवागमों में खासकर पारमेश्वरागम में उद्धृत श्लोकों के सहारे अब तक संक्षेप में विवेचना की गयी। अब आगे हम प्रस्तुत महत्त्वपूर्ण विषय, वीरशैव दीक्षा में स्त्री-शूद्र आदि के अधिकार की मान्यता के बारे में विशद रूप से चर्चा करना चाहते हैं।

वीरशैव दीक्षा में स्त्री-शूद्र आदि के अधिकार की मान्यता

वर्णाश्रमादिधर्माणां व्यवस्था हि द्विधा मता।
एका शिवेन निर्दिष्टा ब्रह्मणा कथिताऽपरा॥ (सि. शि.)

इस भगवत्पाद रेणुकाचार्य के अनुसार भारतीय परम्परा में वर्णाश्रम धर्म की अवस्था दो प्रकार की मानी जाती है। एक तो ब्रह्मोक्त है, उसे वैदिक कहते हैं। दूसरी शिवोक्त है, वह आगमिक मानी जाती है। वैदिक धर्म वर्णाश्रम समाज को मानता है। किन्तु आगमिक धर्म अतिवर्णाश्रम समाज को मानता है। हमारे भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास के पन्ने उलटकर अवलोकन करने पर हमें यह बात विदित होती है कि

वर्णाश्रम प्रधान वैदिक धर्म स्त्री के शारीरिक सहज निसर्गदत्त क्रियाओं को एक प्रमुख त्रुटि मानकर **'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति'** इस प्रकार की घोषणा करते हुए समाज में स्त्री को पुरुष के समान कोई भी धार्मिक या विधिविधानात्मक क्रिया-कलापों में भाग लेने से सख्त मना करता आ रहा है।

इसके विपरीत अतिवर्णाश्रम समाज-व्यवस्था को माननेवाले वीरशैव धर्म में ऐसी कोई सामाजिक त्रुटि देखने को नहीं मिलती। लेकिन प्रगतिपरक विचारधारा वाले वीरशैव धर्म की आचार-संहिता में वैदिक धर्म या वर्णाश्रम समाज व्यवस्था की भाँति स्त्री या शूद्रादि को कोई भी धार्मिक दीक्षा आदि क्रियाकलापों में भाग लेने के लिए कोई प्रतिषेध नहीं लगाता है। इस महत्त्वपूर्ण विचार या पहलू को सामने रखकर कुछ विस्तार से निम्न प्रकार चर्चा करेंगे। वीरशैव धर्म दीक्षा एवं धार्मिक आचरण में पहले स्त्री के अधिकार की मान्यता अर्थात् धार्मिक संस्कार व आचरण में स्त्री-पुरुष को समान अधिकार पर चर्चा प्रारम्भ करते हैं—

वीरशैव धर्म में प्रत्येक व्यक्ति को साधना में प्रवृत्त होने से पहले परम्परागत अपने कुलगुरु (वंशगुरु) के द्वारा दीक्षा-संस्कार लेना पड़ता है। इस धर्म में साधना करने के लिए स्त्री और पुरुष इन दोनों को समान अधिकार दिया गया है। अतः पुरुषों का जैसे दीक्षा संस्कार किया जाता है, उसी प्रकार स्त्रियों का भी किया जाता है। इस दीक्षा-संस्कार में पदाभिषिक्त शिवाचार्य अपने गोत्र के शिष्यों को इष्टलिङ्ग प्रदान कर पञ्चाक्षरी महामन्त्र का उपदेश करते हैं। यह दीक्षा जन्म के आठवें वर्ष में की जाती है। इस दीक्षा में प्राप्त इष्टलिङ्ग को स्त्री और पुरुष दोनों को अपने शरीर के कौन-कौन से स्थानों में धारण करना चाहिए और किन-किन स्थानों में नहीं धारण करना चाहिए, इस विधान के लिए सिद्धान्तशिखामणि में रेणुकाचार्य की यह उक्ति है—

मूर्ध्नि वा कण्ठदेशे वा कक्षे वक्षःस्थलेऽपि वा।
कुक्षौ हस्ततले वापि धारयेल्लिङ्गमैश्वरम्॥
नाभेरधस्ताल्लिङ्गस्य धारणं पापकारणम्।
जटाग्रे त्रिकभागे च मलस्थाने न धारयेत्॥

(सि. शि. ६.५२-५३)

इसका तात्पर्य है – दीक्षित स्त्री और पुरुष दोनों अपने शरीर के मस्तक, कण्ठ, पसली, वक्षस्थल, पेट और हथेली (बाँह)–इन छः स्थानों में से किसी एक स्थान पर अपनी इच्छानुसार धारण कर सकते हैं, किन्तु नाभि के नीचे, जटाग्र में, कटि आदि अशुचि स्थानों में धारण करना पाप का कारण बनता है।

इस इष्टलिङ्ग को स्वर्ण, चाँदी, पीतल, ताम्र आदि उत्तम धातुओं से बनी सज्जिका में रखकर, जो कि शिवलिङ्ग, नन्दीश्वर के लिए आम्रफल, बिल्वफल तथा मोदकाकार का एक छोटा सा मन्दिर होता है, शुक्ल, रक्त, कृष्ण, पीत तथा चित्रवर्ण के शिवसूत्रों में से इच्छानुसार किसी एक का परिग्रह करके इष्टलिङ्ग के मन्दिर रूप उस सज्जिका में संलग्न करके धारण करते हैं। दीक्षा के समय धारण किये हुए इष्टलिङ्ग का वीरशैव स्त्री-पुरुष कदापि अपने शरीर से वियोग न करते हुए प्रतिदिन सुबह और शाम उसे अपने वाम हस्तरूपी पीठ पर रखकर पूजा करते हैं और पूजा के बाद पुनः अपने शरीर पर धारण करते हैं। इस प्रकार वीरशैव धर्म में दीक्षा, इष्टलिङ्ग धारण और उसकी पूजा आदि धार्मिक विधियों के अनुष्ठान में स्त्री-पुरुषों में किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं किया जाता, यह इस धर्म की विशेषता है।

इष्टलिङ्ग की पूजा में सूतक का प्रतिषेध

यहाँ पर यह शङ्का होती है कि स्त्रियों को धर्माचरण का समान अधिकार देने पर जननसूतक और रजस्सूतक प्राप्त होने पर दीक्षा सम्पन्न स्त्री अपने इष्टलिङ्ग की पूजा कैसे कर सकती है ? चूँकि धर्मशास्त्र में सूतक के समय में पूजा आदि का निषेध माना गया है। इस शङ्का के परिहारार्थ वीरशैव आचार्यों ने इष्टलिङ्ग पूजामात्र में सूतक की प्राप्ति नहीं मानी है। अत एव कहा गया है—

लिङ्गार्चनरतायाश्च ऋतौ नार्या न सूतकम्।
तथा प्रसूतिकायाश्च सूतकं नैव विद्यते।।
गृहे यस्मिन् प्रसूता स्त्री सूतकं नात्र विद्यते।
शिवपादाम्बुसंस्पर्शात् सर्वपापं प्रणश्यति।।

(सिद्धान्तशिखामणि, ९.४४-४५)

इसका तात्पर्य यह है— "**यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्**" इस प्रमाण वचन के अनुसार अग्निहोत्र को नित्यकर्म मानकर वैदिक धर्म में नित्य प्रति उसका अनुष्ठान करते हैं, उसी प्रकार वीरशैव धर्म में इष्टलिङ्ग का पूजन नित्यकर्म माना गया है। जिसके अनुष्ठान से पुण्य की प्राप्ति होती हो और अनुष्ठान न करने पर प्रत्यवाय की प्राप्ति होती हो, उसे नित्यकर्म कहते हैं। इस प्रकार नित्य कर्म का अनुष्ठान न करने से प्राप्त होनेवाला दुरित (प्रत्यवाय) उसके अनुष्ठान से प्राप्त नहीं होता है, यही नित्य कर्म का फल है, जो निम्न श्लोक में वर्णित है—

लिङ्गस्य धारणं यस्य स्थूलदेहे न विद्यते।
तद्देहं निष्फलं ज्ञेयं जीवत्यक्तशरीरवत्।।
तस्मात्तद्धारणं प्रोक्तं यावज्जीवाग्निहोत्रवत्।।
(सिद्धान्तशिखोपनिषद्, वी. भा., पृ. ४२)

इस प्रमाण वचन से उमचिगी शङ्कर शास्त्री जी ने इष्टलिङ्ग के बिना वीरशैवों के शरीर को निर्जीव माना है। इससे यावज्जीव अग्निहोत्र के समान उसके धारण और पूजन की पुष्टि होती है।

प्राणवद्धारणीयं तत्प्राणलिङ्गमिदं तव।
कदाचित् कुत्रचिद्वापि न वियोजय देहतः।। (सि. शि. ६.२५)

सिद्धान्तशिखामणि के इस वचन में भी यही बात कही गई है। इष्टलिङ्ग धारण और उसका पूजन रूप नित्य-कर्म वीरशैव धर्म में स्त्रियों के लिए भी विहित है। अतः आचार्यों ने उस कर्म के अनुष्ठान में स्त्रियों को सूतक की प्राप्ति नहीं मानी है।

यथा विश्वेशनिकटाद् गङ्गा सूतकवर्जिता।
तथा लिङ्गाङ्किता भक्ताः पञ्चसूतकवर्जिताः।। (लिङ्गसार)

इसका भाव यह है कि धर्मशास्त्र में वर्षाकाल में जब नदियों में बाढ़ आती है, उस समय नदियों में रजस्सूतक की प्राप्ति मानकर नदी-स्नान का निषेध करने पर भी शिवसंयुक्त होने के कारण गङ्गा जी में स्नान की विधि जैसे मानी गयी है, वैसे ही वीरशैव स्त्रियों को भी इष्टलिङ्ग का सम्बन्ध होने के कारण रजस्सूतक नहीं होता।

इस प्रसङ्ग में यह भी स्मरणीय है कि जैसे पौण्डरीक याग आदि दीर्घकालिक सत्रों का सङ्कल्प करके याग करते समय यजमान की पत्नी यदि रजस्वला हो जाती है, तो भी वह स्नान करके पुनः जैसे याग में शामिल हो सकती है, उसी प्रकार वीरशैव धर्म में दीक्षित स्त्री रजस्वला या प्रसूता होने पर भी उसी दिन स्नान एवं गुरु के चरणोदक का प्रोक्षण करके शुद्ध होकर अपने नित्यकर्म इष्टलिङ्ग की पूजा करने के लिए अधिकारी होती है। इष्टलिङ्ग पूजा के अतिरिक्त पाक (रसोई) आदि अन्य कार्यों के लिए वीरशैव धर्म में भी सूतक माना जाता है। जैसे हाथ से छूने के लिए जिह्वा अपवित्र होने पर भी मन्त्रोच्चारण के लिए सदा पवित्र होती है, उसी प्रकार रजस्वला या प्रसूता स्त्री पाक आदि अन्य लौकिक कर्म करने के लिए अयोग्य और अपवित्र होने पर भी इष्टलिङ्ग के धारण एवं उसकी पूजा के लिए वह अग्नि, रवि तथा वायु के समान सदा पवित्र रहती है। इसीलिए सिद्धान्तशिखोपनिषद् भाष्य में कहा गया है–

स्वेष्टलिङ्गैकपूजायां नैवाशौचं विधीयते।
पौण्डरीके रजः स्त्रीणां स्वाग्निहोत्रे यथा तथा।।
अकरस्पर्शयोग्यापि यथा जिह्वा महेश्वरि।
मन्त्रोच्चारणमात्रस्य पूता भवति भूतले।।
तथा सूतकिनः शैवाः पूजामात्रसुनिर्मलाः।
नाऽन्यस्पर्शानुकूलाः स्युरिति वेदानुशासनम्।।

(सिद्धान्तशिखोपनिषद्, वी. भा., पृ. ४३)

पराशर स्मृति के इस वचन को उद्धृत करते हुए भगवान् भाष्यकार श्रीपति पण्डिताराध्य जी ने श्रीकर भाष्य के जिज्ञासाधिकरण में स्त्रियों की इष्टलिङ्ग पूजा में कोई सूतक बाधक नहीं होता, इस बात का समर्थन किया है।

इस प्रकार अनेक प्रमाणों से इष्टलिङ्ग पूजा में सूतक की प्राप्ति न होने से इष्टलिङ्ग दीक्षा में पुरुष और स्त्री इन दोनों को समान अधिकार है। अन्य धर्मों की अपेक्षा इस धर्म में स्त्रियों को भी धार्मिक स्वातन्त्र्य देकर वीरशैव आचार्यों ने इस धर्म की प्रतिष्ठा को बढ़ाया है।

अब हम प्रस्तुत ग्रन्थ पारमेश्वरागम स्त्री के दीक्षा-लिङ्गधारणादि धार्मिक अधिकार के बारे में क्या राय प्रकट करता है, उसका अवलोकन करें। इस ग्रन्थ के प्रथम पटल में भगवान् महेश्वर माता गौरी को सम्बोधित करते हुए लिङ्गधारण की महिमा का इस प्रकार वर्णन करते हैं—

न स्पृष्टिर्न रजोदोषो न स्त्रीबालादिकल्पना।
न जन्ममरणाशौचं न स्नानादिविधिर्यतः।।

(पा. आ., १.५७)

इसका तात्पर्य यह है– इस मत में, अर्थात् वीरशैव मत में स्पर्शदोष, रजोदोष, स्त्री या बालिका आदि की कल्पना, जन्म और मरणजन्य अशौच तथा स्नानविधि आदि की कोई मान्यता नहीं है।

उसी प्रकार अन्य कुछ श्लोकों में अपनी उत्कृष्ट अधिकार वाणी में साक्षात् शम्भु भोले महादेव घोषित करते हैं—

स्त्रियो बालास्तथा वृद्धाः खञ्जाः कुब्जान्धपङ्गवः।
उन्मत्ता बधिराः काणाः शठा धूर्ताश्च वञ्चकाः।।
चोरा जारास्तथा वेश्या आचाण्डालान्तसम्भवाः।
मल्लिङ्गधारणादेव मद्रूपा एव ते शिवे।।

न बालवृद्धभेदोऽस्ति नमस्कारादिपूजने ।
सर्वेऽपि वन्दनीया हि विधवापुष्पिणीमुखाः ।।

(पा. आ., १.५९-६१)

इसका अर्थ यह है– हे शिवे ! स्त्री, बालक, वृद्ध, लूले, कुबड़े, अन्धे, लंगड़े, पागल, बहरे, काने, कपटी, धूर्त, ठग, चोर, व्यभिचारी, वेश्या और चाण्डाल सभी प्राणी इष्टलिङ्ग धारण करने से शिवस्वरूप हो जाते हैं। नमस्कार करने में, पूजा करने में यहाँ बालक अथवा वृद्ध का भेद नहीं किया जाता। उसी प्रकार विधवा, रजस्वला आदि सभी यहाँ वन्दनीय माने जाते हैं।

वीरशैव दीक्षा तथा इष्टलिङ्ग धारण व पूजादि धर्माचरणों में स्त्री के अधिकार की मान्यता के बारे में विशद रूप से यहाँ विवेचना की गयी। इतना हमें पर्याप्त लगता है। अब आगे वीरशैव धर्म दीक्षा या आचरण के विषय में स्त्री की तरह समाज में शूद्रादि निम्न श्रेणी के लोगों के अधिकार की मान्यता के बारे में चर्चा करेंगे।

वीरशैव धर्म दीक्षा एवं धार्मिक आचरणों में शूद्र व अन्त्यजों के अधिकार की मान्यता

भारतीय परम्परा में वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था कितनी मानी गयी है ? इसके बारे में हमने पिछले पृष्ठ में चर्चा की है। उस दृष्टि से दो प्रकार की व्यवस्था बतायी गयी है। एक तो ब्रह्मोक्त, जिसे वैदिक कहते हैं। दूसरी शिवोक्त है, जिसे आगमिक मानते हैं। पहली जो ब्रह्मोक्त वैदिक परम्परा है, उसमें जिस प्रकार धार्मिक संस्कार या क्रियाकलापों में स्त्री को कोई प्रातिनिध्य नहीं दिया गया है, उसी प्रकार शूद्र या अन्त्यजों को भी समाज में धार्मिक क्रियाकलापों से दूर रखा गया था, यह बात भारतवर्ष के विगत इतिहास या पुराने संस्कृत-साहित्य के ग्रन्थों को खोलकर अनुशीलन करने से पता चलता है। त्रेतायुग जैसे पुराने जमाने में हिन्दू समाज में शूद्र, अतिशूद्र या अन्त्यज कहलानेवाले नीच श्रेणी के आम लोगों को कोई भी धार्मिक क्रियाकलाप में, ज्ञान-सत्रादि समारोह में अथवा यज्ञ-यागादि कर्मकाण्डों में हिस्सा लेने के लिए प्रतिबन्ध लगाया गया था। इतना ही नहीं, उन निम्न स्तर के लोगों से वेदाध्ययन करने का अधिकार भी छीना गया था। अगर कोई भी शूद्र या चाण्डाल वेदाध्ययन करने का साहस करता था, तो उसके कान में खौलता हुआ लौह का रस छोड़कर दण्डित करने की अतिक्रूर प्रथा प्रचलित थी। परन्तु शिवोक्त आगमिक परम्परा में अर्थात् अतिवर्णाश्रम समाज व्यवस्था को माननेवाले वीरशैव धर्म पद्धति में उपर्युक्त कोई सामाजिक त्रुटि या कुरीति देखने को नहीं मिलती। वैदिक परम्परा या वर्णाश्रम

समाज-व्यवस्था की भाँति शूद्रादि निम्नश्रेणी के लोगों को कोई भी धार्मिक संस्कार या क्रियाकलापों में भाग लेने में कोई प्रतिषेध नहीं लगाता। उसके बदले में सभी वीरशैव मतावलम्बियों को चाहे ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, वैश्य, शूद्र, अतिशूद्र या चाण्डाल हो, उन सभी को समान अधिकार दिया गया है। इस तत्त्व को उजागर करनेवाली सूक्ष्मागम की उक्ति— **"शिवसंस्कारसम्पन्ने जातिभेदो न विद्यते"** उपर्युक्त विचार की पुष्टि करती है।

वीरशैव धर्म के प्रमुख ग्रन्थ श्रीसिद्धान्तशिखामणि, जिसे शैवागमों का सार माना जाता है और अन्य कई ग्रन्थों में मानवजाति में समानता, सेवाभाव, सामाजिक कुरीतियों का निराकरण, असंग्रह प्रवृत्ति, धार्मिक स्वातन्त्र्य, जाति-भेद, लिङ्ग-भेद एवं वर्ग-वर्णभेद रहित समाज के तत्त्वों का उल्लेख हम देख सकते हैं।

अछूत हो, शैव या ब्राह्मण हो या अन्य कोई भी श्रेणी का व्यक्ति हो, भक्तिमान् व्यक्ति शिव को प्रिय होता है, परन्तु भक्तिहीन व्यक्ति ब्राह्मण होने पर भी वह शिव को प्रिय नहीं होता। उपर्युक्त सभी बातों का तात्पर्य यही है कि समाज में हर एक व्यक्ति को अपने हृदय में शिवभक्ति को जगाना प्रमुख कर्तव्य समझना चाहिए। इस अतिवर्णाश्रम परम्परा को उजागर करनेवाला वीरशैव धर्म पद्धति में शिवभक्त की कोई जाति नहीं होती—

ब्राह्मणो क्षत्रियो वापि वैश्यो वा शूद्र एव वा।
अन्त्यजो वा शिवे भक्तः शिववन्मान्य एव सः।।
शिवभक्तिसमावेशे क्व जातिपरिकल्पना।
इन्धनेष्वग्निदग्धेषु को वा भेदः प्रकीर्त्यते।।

(सि. शि., ११.५४-५५)

यह रेणुक भगवत्पादाचार्य की अधिकार वाणी है। इसका तात्पर्य यह है– ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र कोई भी हो, अगर वह शिवभक्त हो गया, तो उसकी जाति नहीं पूछनी चाहिए, क्योंकि अग्नि में विभिन्न जाति की लकड़ियाँ भस्म होने के बाद लकड़ियों में जाति की पहचान हम नहीं कर सकते, इसी प्रकार दीक्षासम्पन्न वीरशैवों में जातिभेद करना उचित नहीं है। वैसा आचरण करना भी निषिद्ध है। वीरशैव होने के बाद पूर्वाश्रम की पद्धति व सम्प्रदाय को छोड़ देना चाहिए। अगर ऐसा नहीं करते हैं, तो उनकी लिङ्गपूजा निष्फल होती है। वीरशैव दीक्षा के बाद ब्राह्मण से अन्त्यज तक सब समान होते हैं। यह आगमिक अतिवर्णाश्रम समाज पद्धति की जाति-रहित या जात्यतीत (सेक्यूलरिज्म) की परिकल्पना है।

धार्मिक अधिकार

अब हम प्रस्तुत ग्रन्थ पारमेश्वरागम में शूद्र एवं अन्त्यजों की दीक्षा व लिङ्गधारणादि धार्मिक अधिकार के बारे में क्या आदेश दिया जाता है ? और उस अधिकार की क्या मान्यता है ? इसका अनुशीलन करें।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम पटल में लिङ्गधारण के माहात्म्य का वर्णन करते हुए कैलासपति परमेश्वर देवी पार्वती से कहते हैं—

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा ये चान्यजातयः ।
लिङ्गधारणमात्रेण शिवा एव न संशयः ।।

(पा. आ., १.५८)

इसका तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अथवा अन्य किसी भी जाति का व्यक्ति हो, वह इष्टलिङ्ग को धारण करने मात्र से निःसन्देह शिवस्वरूप हो जाता है। आगे उसी प्रकार वे उपदेश करते हैं—

न तस्य जातिभेदोऽस्ति न शुच्यशुचिकल्पना ।
न स्पृष्टिर्नापि वाऽशुद्धिः सर्वं शिवमयं यतः ।।
यस्यास्ति भक्तिरीशानि ! वीरशैवमताश्रये ।
भक्तिमात्रपवित्रा हि सर्व एवाधिकारिणः ।।

(पा. आ., १.५५, ६२)

इसका भावार्थ यह होता है- यहाँ जातिभेद की कल्पना नहीं रह जाती, पवित्रता और अपवित्रता की कल्पना भी समाप्त हो जाती है। स्पर्श दोष और अशुद्धि सब कुछ समाप्त हो जाते हैं, क्योंकि यहाँ तो सब कुछ शिवमय है। हे ईश्वरि ! वीरशैव मत के प्रति जिसकी अर्थात् कोई भी जाति या वर्ण के व्यक्ति की भक्ति है, वे सब उसके अधिकारी माने जाते हैं, क्योंकि भक्तिमात्र से वे पवित्र हो जाते हैं।

प्रस्तुत आगम के सातवें पटल में अतिथिसत्कार नामक शीर्षक के अन्तर्गत भगवान् शङ्कर जी माता गौरी से यह बात कहते हैं—

न जातिभेदस्तत्रास्ति लिङ्गिनां शिवयोगिनाम् ।
न दृष्टिस्पृष्टिदोषो वा सर्व एव शिवाः शिवे ।।

(पा. आ., ७.५३)

इसका तात्पर्य यह है- हे शिवे ! इष्टलिङ्गधारी शिवयोगियों में जातिभेद नहीं

माना जाता। दृष्टिदोष अथवा स्पर्शदोष की भी यहाँ प्रवृत्ति नहीं होती, क्योंकि वीरशैव मत के अनुसार यहाँ सब कुछ शिवमय है, अर्थात् सर्वत्र अद्वैत है, यानी सर्वत्र समान भाव है।

अब हम एक अन्तिम निष्कर्ष के रूप में कह सकते हैं कि इस प्रकार यहाँ वीरशैव संस्कार या धर्माचरण में शूद्रादि के अधिकार की मान्यता को पारमेश्वरागम के कई पटलों के कई श्लोकों के सहारे सिद्ध किया गया। हमारा अन्तिम सुझाव इस प्रकार है।

उपसंहार

आजकल इस ईसा के त्रिसहस्राब्द के प्रारम्भिक काल में, खासकर अन्यान्य वादों के अलावा आतङ्कवाद का विश्व भर मे रौद्र ताण्डव प्रदर्शन नित्य देखने को मिल रहा है। विश्व के किसी भी स्थान या देश में शान्ति-चयन न देखने को या न सुनने को मिल रहा है। ऐसी स्थिति में हमारे देश की एकता व अखण्डता खतरे में पड़ी है। हर जगह घोर सङ्कट का भवितव्य सिर पर मंडरा रहा है। जैसे अखण्ड हिन्दू संस्कृति या हिन्दू धर्म पर क्रिश्चियन या यवन धर्मोपदेशकों या धर्मप्रचारकों द्वारा देश के कई प्रदेश में मर्म कुठाराघात हो रहे हैं। विराट् हिन्दू समाज या राष्ट्र धीरे धीरे खण्डित या छिन्न-विच्छिन्न होने का सिर्फ आभास ही नहीं, प्रत्यक्ष या सही आकलन की सूचना भी मिल रही है। ऐसी स्थिति में ये स्त्री-शूद्र आदि के लोग स्वधर्म से अन्य धर्म में पलायन कर रहे हैं। **'स्वधर्मे निधनं श्रेयः'** को झुठलाया जा रहा है। प्रतिभा-पलायन, धर्मान्तर-पलायन सतत गतिशील है। इस स्थिति में सबको ऊपर उठाकर अन्यों के साथ समान अधिकार प्रदान करनेवाले पारमेश्वरागम का सन्देश समय की आवाज बुलन्द करता है।

●

Secular Outlook in the Pārameśvarāgama

Dr. P. M. Dinesh

In ancient India, every field was associated with Caste-system, as a result of which a Śūdra was excluded from the participation in any religious or spiritual activities. Because that privilege was given to twice-born persons belonging to the first three higher castes, namely, 1. Brāhmaṇa, 2. Kṣatriya, 3. Vaiśya.

In brief, there was hardly any field considered to be secular. Even woman was considered to be equal to a Śūdra in many respects. In this context the following Gīta śloka appears to be very revolutionary–

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।।[१]

Fortunately we can see twinkling stars here and there in dark nights, such as Yoga Philosophy. Yoga could be practised by every person having interest in the attainment of Salvation irrespective of caste, sex and age. This can be evident in the following verse of Svātmārāma–

युवा वृद्धोऽतिवृद्धो वा व्याधितो दुर्बलोऽपि वा ।
अभ्यासात् सिद्धिमाप्नोति सर्वयोगेष्वतन्द्रितः ।।[२]

(He who untiringly practices Yoga in all its aspects attains success even if he is young, old, decrepit, diseased, or weak)

It does not mean that all persons belonging to different age groups and different sexes can attain the same amount of success in yoga practice irrespective of individual efforts. In other words, even

---

1. Bhagavadgītā, IX-32
2. Haṭhapradīpikā, I-64

though success depends upon individual efforts and physical conditions, yet equal privilege is given to all aspirants irrespective of caste etc.

Fortunately enough the Śaivāgamas contain revolutionary ideas and ideals like caste-eradication. Vīraśaiva Philosophy explained in the last portion of the Śaivāgamas beginning with Kāmika and ending with Vātula is very liberal in its outlook as regards discrimination between man and man depending upon caste, creed etc. In other words, this Philosophy aims at the eradication of discrimination between man and man, depending upon caste, sex etc. As such this religion is well known as Ativarṇāśrama dharma, sages like Agastya are considred to be Vīraśaivas as they were Ativarṇāśramī and jīvanmukta.

अगस्त्यो जैमिनिश्चैव विश्वामित्रोऽथ कश्यपः ।
भारद्वाजोऽङ्गिरा अत्रिर्वशिष्ठो रोमहर्षणः ।।
एते सर्वे महाभागा अतिवर्णाश्रमे रताः ।
वीरशैवाः समाख्याता जीवन्मुक्ता न संशयः ।।[१]

The moment a person undergoes Liṅgadīkṣā, he becomes Ativarṇāśramī i.e., his previous caste and stage of life become meaningless with reference to a person who wears Iṣṭaliṅga. The Kāraṇāgama suggests this ideal as follows.

अत्याश्रमं पाशुपतं शाम्भवं तच्छिरोव्रतम् ।
इत्येवं नामभिः पुण्यैर्निगमान्तेषु गीयते ।।[२]

Pārameśvarāgama narrates the same explicitly as follows–

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा ये चान्यजातयः ।
लिङ्गधारणमात्रेण शिवा एव न संशयः ।।[३]

Even with reference to the funeral ceremony caste discrimination is not allowed in Vīraśaivism.

न तत्र जातिभेदोऽस्ति वेदिकाक्षेत्रमण्डले ।
न लिङ्ग्यलिङ्गिसम्भेदः सर्व एवाहमीश्वरि ।।[४]

1. Kriyāsāra, I-15 & 15
2. Kāraṇāgama, I-9
3. Pārameśvarāgama, I-58
4. Ibid XIX-43

The same Āgama advocates the eradication of discrimination between man and man on account of caste, sex, age position in society etc.

न बालवृद्धभेदोऽस्ति नमस्कारादिपूजने ।
सर्वेऽपि वन्दनीया हि विधवापुष्पिणीमुखाः ।।
यस्यास्ति भक्तिरीशानि वीरशैवमताश्रये ।
भक्तिमात्रपवित्रा हि सर्व एवाधिकारिणः ।।[1]

This lofty ideal is explained very beautifully as follows–

शिवसंस्कारयोगेन शिवधर्मानुषङ्गिणाम् ।
प्राकृतानां न धर्मेषु प्रवृत्तिरुपपद्यते ।।[2]

The concept of Sarvodaya is at the root of this ideal. Pūrvāśrama-nirāsana becomes significant in this context. The Siddhānta Śikhāmaṇi explains this ideal as follows-

शिवसंस्कारयुक्तेषु जातिभेदो न विद्यते ।
काष्ठेषु वह्निदग्धेषु यथा रूपं न विद्यते ।।

It is natural; therefore, that caste discrimination is abolished not only with reference to eating but also with reference to blood relation. In other words all persons become equal when they undergo Liṅgadīkṣā, Basaveśvara in the 12th century tried to practise this ideal in his own time.

Woman was neglected in the society after Vedic period. But Vīraśaiva religion recognizes her rights, privileges which are in no way inferior to those of man. Vīraśaivism condemns Pratikūla-dāmpatya. As such a woman not undergoing Liṅgadīkṣā is not authorized to serve her husband who is a Liṅgadhārī.

अदीक्षासंस्कृता नारी यं यं पाकं करोति च ।
स स नैवार्हति किल पाको मह्यं निवेदितुम् ।।[3]

---

1. Pārameśvarāgama, I-61 & 62
2. Siddhāntaśikhāmaṇi, X-33
3. Kārṇāgama, II-67

Iṣtalingadhāraṇa is the differentia of Vīraśaiva religion. Iṣtliṅga is said to avoid all unwanted things (aniṣṭas). The Siddhāntaśikhāmaṇi explains this idea as follows–

इष्टलिङ्गमिदं साक्षादनिष्टपरिहारकम् ।
धारयेदवधानेन शरीरे सर्वदा बुधः ।।[२]

Invariable association of Iṣṭaliṅga gives rise to 'dehadevālaya' culture which Basaveśvara narrates in his vacana poetically–

This ideal is explained by Sūkṣmāgama Kriyāpāda–

देहो देवालयः प्रोक्तो जीवो देवः सदाशिवः ।
इति निश्चितसद्भावः पिण्डजं लिङ्गमीरितम् ।।[३]

This culture is capable of eradicating many social evils like caste discrimination, priesthood, exploitation of weaker section in society by priestly class etc. So, it can be concluded that no religion in the world is equal to Vīraśaiva religion. The following verse of Pārameśvāragama is justified–

वीरशैवमतं सद्यो भोगमोक्षैकसाधनम् ।
सर्वोत्तमं मम मतं यतः सर्वोत्तमोऽस्म्यहम् ।।[४]

•

1. Siddhāntaśikhāmaṇi, VI-50
2. Sūkṣmāgama, VIII-27
3. Pārameśvarāgama, I-41

वीरशैव दीक्षा में स्त्री-शूद्र आदि का अधिकार

श्रीमती प्रमोदिनी पण्डा

अनेकता में एकता के लिए अनोखा यह हमारा भारतवर्ष धर्म के क्षेत्र में भी विविधता को वहन करता है; यद्यपि आत्मा और परमात्मा को मिला देना हर धर्म का लक्ष्य है। सर्वप्राचीन धर्म सनातनधर्म है, जो वैदिक धर्म द्वारा परिपुष्ट हुआ है। आर्य भारत के प्राचीन अधिवासी हैं, या नहीं, यह आज भी विचाराधीन है। मगर निगम-आगम को लेकर परिचित हिन्दूधर्म बहुशः आर्य भावनाओं से प्रेरित है।

आधुनिक समालोचक वेद का आलोड़न-अध्ययन करना उचित समझते हैं। वर्ण या जाति प्रथमतः जन्मानुसार न होकर कर्मानुसार थी, यह उनका विश्वास है। एक ही वृक्ष से एक ही प्रकार का फल प्राप्त हो सकता है, तो एक ही परमेश्वर के विभिन्न अंशों से जात लोग आर्य और अनार्य कैसे हो सकते हैं[1] ?

संहिताओं में कहीं भी आर्य-अनार्य की चर्चा नहीं हुई है। प्रथमतः सभी के लिए वेदाध्ययन सुकर था, परन्तु परवर्ती काल में वैदिक साहित्य का विकास उच्चारण के ऊपर गुरुत्व और सामाजिक भावनाओं में परिवर्तन ने नारियों को वेदाध्ययन से वंचित किया। वेद में सद्योद्वाहा और ब्रह्मवादिनी का उल्लेख है। पुनश्च पिता द्वारा आचरित कर्म कौलिक कर्म के नाम से परिचित हुआ। वह कर्म पुत्र के लिए सहज होने से हस्तकर्म के लिए प्रेरित लोगों ने कष्टसाध्य वेदाध्ययन को अनावश्यक समझा। पुनश्च ज्ञानजीवी कर्मजीवी की अपेक्षा अपने को श्रेष्ठ मानने लगे। जिससे ज्ञानविहीन त्रुटिपूर्ण कर्म में लिप्त लोगों को वे अनार्य/शूद्र कहने लगे। जबकि नारी अकेली यज्ञकर्म करने के लिए समर्थ थी (कौशल्या, सीता, तारा आदि द्वारा यज्ञकर्म सम्पादन) और शूद्र रूप में परिगणित रथकारादि के वैदिकानुष्ठान करने का उल्लेख मैत्रायणी संहिता आदि में है[2]।

'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'[3] मत को स्थापित करके वेद, ३३ या ३३ करोड़ देवता एक ही परमेश्वर के विभिन्न रूप हैं, यह व्यक्त करता है। इस वाद का

---

१. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥ (ऋ. १०.९०.१२)

२. मै. सं. ११.९.५।

३. ऋ. १.१६४.४६।

समर्थन ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, वाराहपुराण, ब्रह्मपुराणादि भी कर रहे हैं[१]। उनमें से अन्यतम देवता रुद्र हैं, जो आशुरोष से आशुतोष के रूप में 'शिव' नाम से परवर्ती काल में प्रसिद्ध हुए। वैदिक धर्म के प्रतिष्ठा से पूर्व भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता 'हरप्पा' और 'मोहनजोदड़ो' में भी रुद्रपूजा का प्रचलन था। तब वे 'पशुपति' के रूप में पूजित होते थे। एक ही देव के ये सब विभिन्न नाम हैं। इनका उल्लेख अथर्ववेद में है[२]।

भारतवर्ष में प्रचलित विभिन्न सम्प्रदायों में प्रमुख हैं– वैष्णव, शैव, शाक्त, गाणपत्य आदि। हर सम्प्रदाय में गुरु की महिमा है। गुरु से दीक्षाग्रहण के बिना मुक्ति सम्भव नहीं। अपर पक्ष में पुस्तक में उल्लिखित मन्त्र का स्वयं उच्चारण करके कोई पापभाक् तो हो सकता है, परन्तु मुक्ति नहीं पा सकता[३]। इसका उल्लेख मत्स्यसूक्त में इस प्रकार है—

१.क. सुपर्णं विप्राः कवयो वचो त्रिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति। (ऋ. १०.११४.५)
ख. नमः शम्भवाय च मयोभवाय च, नमः शङ्कराय च मयस्कराय च, नमः शिवाय च शिवतराय च। (यजु. १६.४१)
ग. ....त्वमग्ने रुद्रः। (ऋ. २.१.३-७)
२.क. स धाता स विधाता स वायुर्नभ उच्छ्रितम्।
सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः॥
सो अग्निः स ३ सूर्यः ३ एव महायमः।
तं वत्सा उपतिष्ठन्ति एकशीर्षाणो युता दश॥ (अथर्व. १३.४)
ख. यो विष्णुः स स्वयं ब्रह्मा यो ब्रह्मा सोऽहमेव च।
वेदत्रयेऽपि यज्ञेऽस्मिन् पण्डितेष्वेव निश्चयः॥
यो भेदं कुरुतेऽस्माकं त्रयाणां द्विजसत्तम।
स पापकारी दुष्टात्मा दुर्गतिं समवाप्नुयात्॥ (वाराहपुराण)
ग. शङ्करः सर्वभूतात्मा करुणावरुणालयः।
सर्वेषां सर्वदार्तानां शिव एव परा गतिः॥
यद्यप्येषां न भेदोऽस्ति देवानां तु परस्परम्।
तथापि सर्वसिद्धिः स्यात् शिवादेव सुखात्मनः॥
(ब्रह्मपुराण, १०९/३७, १३०/१७, २११/७९)
३.क. प्रणवाद्यं न दातव्यं मन्त्रं शूद्राय सर्वथा।
आत्ममन्त्रं गुरोर्मन्त्रं मन्त्रं चाजपसंज्ञकम्॥
स्वाद्यप्रणवसंयुक्तं शूद्रे मन्त्रं ददद्द्विजः।
शूद्रो निरयमाप्नोति ब्राह्मणो यात्यधोगतिम्॥ (श्रुतिः)
ख. सावित्रीं प्रणवं यजुर्लक्ष्मीं स्त्रीशूद्रो यदि जानीयात् स मृतोऽधो गच्छतीति। (वाराहीये)

दीक्षामूलं जपं सर्वं दीक्षामूलं परं तपः ।
दीक्षामाश्रित्य निवसेद् यत्र कुत्राश्रमे वसन् ।।
अदीक्षिता ये कुर्वन्ति जपपूजादिकाः क्रियाः ।
न भवन्ति प्रिये! तेषां शिलायामुप्तबीजवत् ।।
देवि! दीक्षाविहीनस्य न सिद्धिर्न च सद्गतिः ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गुरुणा दीक्षितो भवेत् ।।
अदीक्षितोऽपि मरणे रौरवं नरकं व्रजेत् ।
तस्माद् दीक्षां प्रयत्नेन सदा कुर्य्याच्चि तान्त्रिकात् ।।
ग्रन्थे दृष्ट्वा तु मन्त्रं वै यो गृह्णाति नराधमः ।
मन्वन्तरसहस्रेषु निष्कृतिर्नैव जायते ।।
नादीक्षितस्य कार्यं स्यात्तपोभिर्नियमव्रतैः ।
न तीर्थगमनेनापि न च शारीरयन्त्रणैः ।। (मत्स्यसूक्ते)

परवर्ती वैदिक साहित्य में स्त्री-शूद्रों को दीक्षा देना वर्जित किया गया है[१]। पहली बार तैत्तिरीय ब्राह्मण (३.२.३९) शूद्रों को वैदिक धर्म से वञ्चित करता है। जबकि 'अग्निचयन' धनिक शूद्र के द्वारा भी किया जा सकता है।

इस परिस्थिति में शैवागम वर्णव्यवस्था को नहीं मानता, यद्यपि इसके आद्य प्रवर्तक ब्रह्मण थे[१]। कर्णाटक में वीरशैव धर्म का बहुत प्रचार है। इसके अनुयायियों का नाम लिङ्गायत या जङ्गम है। ये लोग शङ्कर की लिङ्गात्मक मूर्ति को गले में हर समय धारण करते हैं। पाँच महापुरुषों ने इस मत का भिन्न-भिन्न समयों में उपदेश किया है। रेणुकाचार्य, वारुकाचार्य, एकोरामाचार्य, पण्डिताराध्य तथा विश्वाराध्य नामक महापुरुषों ने क्रमशः सोमेश्वर, सिद्धेश्वर, रामनाथ, मल्लिकार्जुन तथा विश्वनाथ नामक प्रसिद्ध शिवलिङ्गों से आविर्भूत होकर शैवधर्म का प्रचार किया और 'वीर' सिंहासन की रम्भापुरी (मैसूर) में, 'सद्धर्म' सिंहासन की उज्जयिनी में, 'वैराग्य' सिंहासन की केदारनाथ के पास 'ऊखी' मठ में, 'सूर्य' सिंहासन की 'श्रीशैल' में तथा 'ज्ञान' सिंहासन की काशी 'जंगमबाड़ी' मठ में स्थापना की। शैव सिद्धान्त के २८ आगम वीरशैव अनुयायियों को भी मान्य हैं। श्रीपति (१०६० ई.) पण्डिताराध्य ने ब्रह्मसूत्र पर 'श्रीकर' भाष्य लिखकर इस मत की उपनिषद्मूलकता को प्रदर्शित किया है। इन आगमों में 'पारमेश्वरागम' अन्यतम है।

१.क. हे मुनियों! ब्राह्मणों! अधिक कहने से क्या लाभ ? शिवलिङ्ग पूजा करने में स्त्रियों तथा अन्य सब लोगों का भी अधिकार है। (वि. सं. २१.३९.४०)

ख. निर्वीर्य्यं च पितुर्मन्त्रं शैवे शाक्ते न दुष्यति। (कौलिक मन्त्रदीक्षा)

पारमेश्वरागम में २३ पटल हैं। इसमें शैवों के भेद, वीरशैवों के प्रमुख तीन भेद बता कर उनके दीक्षा-विधान, आचार-विचार और पूजा-पद्धति के बारे में बहुत ही विस्तृत विवेचन किया गया है। इसके पञ्चम पटल में लिङ्ग धारण दीक्षा का विस्तार से वर्णन है। यहाँ बताया गया है कि वीरशैव दीक्षा के बाद स्त्री-पुरुष, जाति-धर्म, वर्णाश्रमधर्म आदि के भेद सर्वथा वर्जनीय हो जाते हैं। इस बात को स्वयं परमेश्वर देवी पार्वती से इस प्रकार कहते हैं—

ये सन्ति जातिभेदास्तानेकवच्छिवयोगिनः।
पश्येदखिलजातिस्थानेकमातृसहोदरान् ।।
न स्त्रीभेदो न पुंभेदो जातिवर्णाश्रमादिकम्।
सर्वातीतमिदं विद्धि वीरशैवमतं मम।।
यदनायासतो देवि भोगमोक्षौ करस्थितौ।
धारणान्मम लिङ्गस्य पूजनाच्च निरन्तरम्।।

फिर शरीरावस्था के अभेद को बताते हुए कहते हैं—

न बालयुववृद्धादितारतम्यधिया भजेत्।
प्रत्युत्तिष्ठेत् तदान्योन्यं दृष्टमात्रेण लिङ्गिनः।।

अधिक क्या कहना है, 'लिङ्गसार' में नारी को गङ्गाजल के समान हर समय पवित्र बताया गया है—

यथा विश्वेशनिकटाद् गङ्गा सूतकवर्जिता।
तथा लिङ्गाङ्किता भक्ताः पञ्चसूतकवर्जिताः।।
लिङ्गार्चनरता नारी सूतकी वा रजस्वला।
रविरग्निर्यथा वायुस्तथा कोटिगुणोज्ज्वला।।

(ब्र. सू. श्रीकरभाष्य)

भगवान् श्रीकृष्ण ने स्त्री-शूद्र के प्रति सदयभाव दिखाते हुए कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।।

(गीता, ९/३२)

इसी प्रकार दीक्षा ग्रहण में वीरशैव सम्प्रदाय स्त्री-शूद्रों को अधिकार देकर अपनी महत्ता को प्रतिष्ठापित करता है।

●

आगमेषु मन्त्रजपतत्त्वविवेचनम्

डॉ. राजनाथत्रिपाठी

उपक्रमः

मननान्मन्त्रमाख्यातं त्राणकर्म जपः स्मृतः ।
मननत्राणकर्तृत्वाज्जप एव फलाश्रयः ।।
पारमेश्वरागमो वै सर्वानुग्रहकारकः ।
उपादिदेश शैवेभ्यः पञ्चाक्षरजपोत्तमम् ।।

इह जानन्त्येव तत्त्वविदो यल्लोककल्याणाय सर्वजनलौकिकपारलौकिकसुखाय चागम एव युगानुसारिसर्वसाधनक्षमो मार्गः । तदुक्तं कुलार्णवतन्त्रे–

कृते श्रुत्युक्त आचारस्त्रेतायां स्मृतिसम्भवः ।
द्वापरे तु पुराणोक्तः कलौ ह्यागमसम्मतः ।। इति ।

निर्वाणतन्त्रे च– ''विना ह्यागममार्गेण कलौ नास्ति गतिः प्रिये'' इत्याद्युक्तम् ।

अतस्तन्त्रागमपन्था निर्विवादरूपेणास्माकं कृते प्रवर्तनायेष्टसाधनाय चालं वर्तते । तदुक्तं रुद्रयामले—

यत्रास्ति योगो नहि तत्र भोगो
यत्रास्ति भोगो नहि तत्र योगः ।
शिवापदाम्भोजयुगार्चकानां
योगश्च भोगश्च करस्थ एव ।।

अथवा– **श्रीसुन्दरीसाधनतत्पराणां योगश्च भोगश्च करस्थ एव ।।** इति ।

तस्मादत्र शास्त्रे इहलोके सर्वत्र पुत्र-पौत्र-कलत्र-सुख-समृद्धि-स्वास्थ्य-वैभवाद्युपभोग-पूर्वकमन्ते शिवसामरस्येन मोक्षावाप्तिः सिद्धा ।

जपशब्दनिरुक्तिः

'जप उच्चारणे वाचि च' इति भ्वादिगणपठिताद्धातोः 'जपतीति जपः' इति

व्युत्पत्तौ जपशब्दो निष्पद्यते। अतो जपस्य भाव उच्चारणं भवति। व्याकरणशास्त्रस्य सिद्धान्तकौमुद्यां–'जपो नामोपांशुप्रयोग:, यथा जले निमग्नस्य' इत्युक्तम्। तत्रोच्चारणमान्तर-बाह्यभेदेन द्विविधं भवति। तस्मादान्तरो जपो जप: पूर्वं बहिर्भावेनोच्चारणपुरस्सरं दृश्यते। आदौ जप्तारो मन्त्राभ्यासे उच्चारणपूर्वका एव भवन्ति, त एव मन्त्रा अभ्यासे सति मानसोपांशुभेदेन जपक्रियामनुश्रीयन्त इति सर्वत्र दरीदृश्यते उपासनशास्त्रेषु जपविधि:।

किञ्च, 'जप' इति धातोर्वाचीत्यर्थे मन्त्रपुरस्सरध्यानपूर्वकं वाचश्चतुर्धात्वे जपोऽपि उच्चारणोपांशुमानसादिभेदेन अनेकशो विभजत इति जपतत्त्ववेत्तारो विदन्त्येव। तदुक्तं मनुस्मृतौ—

एतदक्षरमेतां तु जपन् व्याहृतिपूर्विकाम्।। इति।

अत्र व्याहृतिर्व्यवहार:, मन्त्रस्य तत्तदर्थे सन्निवेश:। सा च स्वाहा-नम:-फडन्तादिभेदेन षड्विध: सङ्गच्छते। तदुक्तं गोभिलगृह्यसूत्रे–"तत: सप्रणवां सव्याहृतिकां गायत्रीं जपेत्" इति। सप्तशतीपाठारम्भे तद्विषयकं जपं विधाय चण्डीपाठं कुर्यादिति विधिनिबन्धनेऽप्युक्तम्–"जपेत् सप्तशतीं मध्ये" इति। एवं जपशब्दस्त्रिलिङ्गेषूपयुज्यते।

वर्तमानकाले जपस्य ज्यायस्त्वम्

पूर्वमत्र युगानुसारिशास्त्रप्रवृत्तिरुक्ता। तदनुरोधेन विष्वक्सेनसंहितायामुच्यते—

साधनं पुरुषार्थानां सन्ति यागा: सहस्रश:।
विशेषत: कलियुगे जपयाग: प्रशस्यते।। इति।

अतो जगति यावन्त: शैव-शाक्त-वैष्णव-गाणपत्य-सौर-बौद्ध-जैनादयोऽनेके आगमा: सम्प्रदायाश्च दरीदृश्यन्ते, तेषु सर्वेषु जपस्यातितरं महत्त्वमवसीयते।

स च जपो न केवलं पुरुषार्थचतुष्टयस्य साधक:, अपि तु परमात्मनोऽनिर्वचनीयस्य प्रकाशस्य स्वेष्टदेवतायाश्चिराभिलषितस्य साक्षात्कारस्य महन्माध्यमो वरीवर्ति। अतोऽस्मिन् युगे काले च जपस्य महन्महत्त्वं वर्तते। एतदनुरोधेनैव मेरुतन्त्रे उक्तम्—

कामक्रोधादिभिर्व्याप्ते जनैस्त्रिभिर्विनिर्जिते।
क्व शिष्य: क्व गुरुर्मन्त्र: क्व तप: क्व च सिद्धय:।।
जप एव कलौ श्रेयान् शालग्रामार्चनं तथा।। इति।

एतेन वर्तमाने काले आगमतन्त्रोक्तमार्गेण जपानुष्ठानमेव ज्यायानिति निश्चीयते। व्यवहारे एवं दृश्यते यदन्यानुष्ठाने साधनबाहुल्यमपेक्षते। तद्विना अन्योपाय: साफल्यं न

भजते, परं मन्त्रानुष्ठानं जपो वा अत्रागमे साधकस्य यत्र कुत्रापि स्थितौ मार्गे वा सामान्येनानुष्ठातुं शक्यते। अत एव विष्वक्सेनसंहितायां "विशेषत: कलियुगे जपयाग: प्रशस्यते" इत्युक्त्या वैदिकागमिकयागेषु युगानुसारेण जपयाग एवास्माभिरनुष्ठेय इति नात्र काचिद् विचिकित्सा। मेरुतन्त्रे च—

जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्न संशयः।
यथा महागुणैर्वश्यो जायते गुणवान् प्रभुः।।
तथाऽहं त्वं च विष्णुश्च जपादेव फलप्रदः।।

इत्यादिभिर्जपस्याधुना अवश्यं कर्तव्यत्वमस्मभ्यं निर्दिष्टम्। गीतायाञ्च–'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि' इति वचनेन प्रकृष्टयज्ञेषु जपयज्ञस्य महत्त्वं प्रतिपादितं दृश्यते। एतेनैव कारणेन पारमेश्वरागमेऽपि–

नमस्कारादिसंयुक्तं शिवायेत्यक्षरत्रयम्।
जिह्वाग्रे वर्तते यस्य सफलं तस्य जीवितम्[1]।।

इत्युक्तम्।

शिवमहापुराणस्य वायवीयसंहिताया उत्तरभागे उपमन्युश्रीकृष्णसंवादे पाशुपततत्त्व-निरूपणे जपस्य तद्द्वारा भगवत: सपरिकरस्य शिवतत्त्वस्य जपाज्ज्ञानाच्च सर्वसिद्धयो जायन्त इत्युपपादितम्। तदुक्तं पारमेश्वरागमे—

अन्त्यजो वाऽधमो वापि मूर्खो वा पण्डितोऽपि वा।
पञ्चाक्षरजपे निष्ठो मुच्यते पाशबन्धनात्[2]।। इति।

एवं हि जपो नाम शास्त्रविधानेन मन्त्रवर्णोच्चारणमित्येक: पक्ष:, अपरश्च मन्त्ररहस्यार्थानुस्मरणपूर्वकं गुरुदेवतामन्त्रवर्णात्मनामैक्यानुभावनं जप इति। भास्कर-रायदीक्षितदेशिकाश्च सौभाग्यभास्करे मन्त्रजपपरिभाषायाम्–"अवस्थापञ्चकशून्यषट्क-विषुवसप्तकचक्रनवकविभावनादिरूपं चिह्नं जप:" इति जपस्य लक्षणमाहु:। तैरेव वरिवस्यारहस्ये जपस्य लक्षणमुपपादयद्भि:—

एवमवस्थाशून्यविषुवन्ति चक्राणि पञ्च-षट्-सप्त।
नव च मनोरर्थान् स्मरतोऽर्थोच्चारणं तु जपः।।

इत्युक्तम्। अत्रैव प्रकरणे स्वव्याख्याने 'मन्त्रस्यार्थानुसन्धानस्य विधाया अक्षराणा-

१. पारमेश्वरागमे, ११ पटले-२५।
२. तत्रैव, २६।

मष्टपञ्चाशतो मध्ये आद्यकूटद्वितीयबिन्द्वादिनवकद्वयप्रहाणेनावशिष्टानां चत्वारिंशतोऽक्षराणा-मुच्चारणं जपो जपपरवाच्यम्' इत्युक्तम्।

म. म. पं. गोपीनाथकविराजमहोदयाश्च—

संयम्येन्द्रियसंचारं प्रोच्चरेन्नादमान्तरम्।
एष एव जपः प्रोक्तो न तु बाह्यजपो जपः।।

इत्यनेन विधिपूर्वकमनेकविधमन्त्रवर्णोच्चारणं बाह्यस्य, मध्यमाभूमौ नादेन सह मन्त्रस्य स्वभावतो ध्वननम्, परमभावमभिलक्ष्य भूयो भूयो भावनावान्तरस्य लक्षणमुद्घोषयन्ति। पञ्चाक्षरमन्त्रजपमुखेन पारमेश्वरागमेऽपि जपमाहात्म्यमुक्तम्–

जपेत् पञ्चाक्षरं शैवं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम्।
सर्वधर्मान् परित्यज्य शैवं पञ्चाक्षरं जपेत्।।
तिष्ठन् भुञ्जन् स्वपन् गच्छन् जाग्रन्नपि हसन्नपि।
उपविशन् प्रबुध्यन् वा शैवं पञ्चाक्षरं जपेत्।।
व्याजेनाखिलभेदेन शैवं पञ्चाक्षरं जपेत्।। इत्याद्युक्तम्।

एतेनागमशास्त्रे जप उपजीव्यत्वमुपगच्छतीति सुधिय एव प्रमाणम्।

जपप्रकारः

सर्वत्र तन्त्रागमशास्त्रे जपस्यानेके प्रकारा निगदिताः। तेषां रहस्यं तु विशेषतस्त्रिप्रकारे एवावशिष्यते। तद्यथा—

मनः संहृत्य विषयान् मन्त्रार्थगतमानसः।
न द्रुतं न विलम्बं च जपेन्मौक्तिकपङ्क्तिवत्।।
जपः स्यादक्षरावृत्तिर्मानसोपांशुवाचिकैः।
धिया यदक्षरश्रेणीं वर्णस्वरपदात्मिकाम्।
उच्चरेदर्थमुद्दिश्य मानसः स जपः स्मृतः।।
जिह्वादौ चानयेत् किञ्चिद् देवतागतमानसः।
किञ्चिच्छ्रवणयोग्यः स्यादुपांशुः स जपः स्मृतः।।
मन्त्रमुच्चारयेद् वाचा वाचिकः स जपः स्मृतः।
उच्चैर्जपाद्विशिष्टः स्यादुपांशुर्दशभिर्गुणैः।।
जिह्वाजपशतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः।
जिह्वाजपः स विज्ञेयः केवलं जिह्वया बुधैः।।

इत्याद्युक्तम्। ज्ञानार्णवे च—

निगदेनोपांशुना वा मानसेनाथवा जपेत्।
निगदः परमेशानि स्पष्टं वाचा निगद्यते।।

इत्युक्तम्। स्वच्छन्दतन्त्रे हि षड्विधो जप उक्तः। तथैव तन्त्रसारेऽपि—

जपस्तु षड्विधः प्रोक्तस्तत्प्रकारोऽयमुच्यते।
वाचिकं मानसं चैव यौगिकं योगवाचिकम्।।
योगमानसिकं चैव वाङ्मानसिकयौगिकम्।।

इत्युक्तम्। एतेन वाचिक-मानस-यौगिक-योगवाचिक-योगमानसिक-वाङ्मानसिक-योगेत्यादिभेदेन जपः षड्विध उपपादितः। तत्र षण्णां जपानां किं स्वरूपमित्युत्कण्ठायां तत्रैवोक्तम्—

वाचा केवलयोच्चार्य मन्त्रं देवीं विभाव्य च।
जपेद्यत् परमेशानि वाचिकं तत्प्रकीर्तितम्।।
देव्या रूपं च सञ्चिन्त्य सावधानेन चेतसा।
मन्त्रस्याप्यनुसन्धानं मानसं परिकीर्तितम्।।
त्रिस्थानेन त्रिबीजानि क्रमात् सञ्चित्य मार्गतः।
आरोहो यौगिकं प्रोक्तमुच्यते योगवाचिकम्।।
लक्ष्ये मनः समायोज्य वाचा मन्त्रं जपेच्छिवे।
योगवाचिकमेतत् स्याद्योगमानसिकं श्रृणु।।
लक्ष्येण मानसं पूर्वं संयोज्य मनसा जपन्।
योगमानसिकं विद्यादथान्यदपि चोच्यते।।
मनसाऽपि जपेन्मन्त्रं बीजानारोहणक्रमात्।
वाङ्मानसिकयोगाख्यं जपमेतदनुत्तमम्।। इति।

इत्थं प्रपञ्चितं जपकर्म बाह्याभ्यन्तरभेदेन मुख्यतो द्विविधमेव उपांशोर्मानसान्तर्भावित्वमेव। प्रथमकल्पे मन्त्रजपे बाह्य एव जपः प्रारभ्यते, तदनु भावनाबलाच्छनैः शनैर्मन्त्र-मन्त्रार्थ-मन्त्रचैतन्यगुरोर्ध्यानपुरस्सरं मन्त्रमन्तःप्रस्फुटितं सदन्तरेवाभ्यासादुपासनबलाच्च जप्यो भवति। एतदनन्तरं मूलादारभ्य सप्तदलभेदेन प्ररोहक्रमेण मन्त्रश्चिदानन्दमये सहस्रारे शिवशक्त्योः परमधाम्नि प्रतिष्ठते। एतत्सर्वैरेव सफलसाधकैर्गुरूपासनयुतैरनुभूयत एव एतन्निखिलं रहस्यं महासाधकैर्भास्कररायदीक्षितदेशिकैः स्ववरिवस्यारहस्ये उद्घाटितमिति तत एवावधेयम्।

शक्तिविशिष्टाद्वैते इह वीरशैवसिद्धान्ते जपरहस्यं सबहुमानं सर्वत्र स्वीकृतम्। इदमत्रावधेयम्–मन्त्रावयवभूतानामक्षराणामर्थो मन्त्राणां मन्त्रेश्वररूपतया शिव एवादिः गुरुर्विद्यते, स एवादिरुपदेष्टा तस्यैव ख्यापनं भगवता पाणिनिना "उपदेशेऽजनुनासिक इत्" इति सूत्रे उपदेशपदेनोक्तम्, व्याख्याकाराश्चोपदेश आद्योच्चारणमित्युक्तवन्तः। आद्योचारयिता महेश्वर एव। स एवादिगुरुः। एवमाद्योच्चारणभूतानि माहेश्वरसूत्राणि 'अइउण्' इत्यादीनि प्रथमोच्चारणभूतानि आचार्यैरुपदिश्यन्ते। नागेशभट्टाश्च श्रुतिमूलकमेतदुच्चारणं मत्वा तत्प्रमाणत्वेन लघुशब्देन्दुशेखरग्रन्थे–"इदमक्षरशः समनुक्रान्तो ब्रह्मराशिः। अत्र ब्रह्मराशिरित्यस्य वर्णराशिरित्यर्थः, न भुक्त्वा न नक्तं प्रब्रूयात्" इत्युक्तम्। एतदर्थमेव नन्दिकेश्वरकाशिकायामुक्तम्—

नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद् विमर्शे शिवसूत्रजालम्॥ इति।

व्याकरणशास्त्रे 'हलन्त्यम्' इति सूत्रोपपादनान्ते 'इति माहेश्वराणि सूत्राणि' इत्युक्तम्। व्याकरणे अणादिः संज्ञार्थानि, अन्यत्र सनकादिसिद्धानामिष्टसाधकान्येतानि सूत्राण्युपदिष्टानि। एतेनैवाशयेन शिवसूत्रे शिवं गुरुं मत्वा 'गुरुरुपायः' इत्युपपादितम्। वस्तुतस्तु सृष्टेरादौ इच्छाशक्तिसंवलितः शिवो ज्ञान-क्रियाशक्तीनां सिद्धये सर्वेभ्यो ज्ञानाय वर्णसमाम्नायस्योपदेशः कृत इति। ततश्च स्वच्छन्दतन्त्रोक्तम्–"आगमो ज्ञानमित्युक्तं ह्यनन्ताः शास्त्रकोटयः" इति रीत्या माहेश्वरचतुर्दशसूत्रेषु आदिवर्णोऽकारः, अन्त्यश्च हकार इति। उभयोः सम्मेलनेन अकारहकारयोर्योगे 'अहम्' इति निष्पद्यते। अद्वैतवेदान्ते महावाक्येषु 'अहं ब्रह्माऽस्मि' इति महावाक्यार्थ उपपन्न एव। एवमेव शैवाद्यागमेषु 'शिवोऽहं', 'भैरवोऽहम्' इत्यादयः शिवभावा अपि सङ्गच्छन्ते। अत्रेदमप्यवधेयं यदागमेषू-पदिष्टोऽहन्तेदन्ताभावोऽप्यत्रैव सङ्गच्छते, इदं जगदहं शिवशक्त्योश्च सामरस्यम्। एवमेव जपे जप्यस्याहं परं परमेश्वरस्येदन्ता अर्थरूपेण जगदात्मना इदं सम्पद्यते। अतोऽर्थरूपस्य जगतः शब्दरूपस्य शिवशक्त्योः सामरस्यस्य च रहस्यं शास्त्रान्तरेष्वपि कालिदासादयः कवय ऊरीकुर्वन्ति–"वागर्थाविव सम्पृक्तौ......., पार्वतीपरमेश्वरौ" इत्यादिवचोभिः। आगमेषु शब्दार्थयोः शक्तिशिवरूपता च स्वीकृतैव। तथा हि वायवीयसंहितायामुक्तम्—

शब्दस्वरूपमखिलं धत्ते शङ्करवल्लभा।
अर्थस्वरूपमखिलं धत्ते मुग्धेन्दुशेखरः॥ इति।

एवमखिलं विश्वप्रपञ्चं नामरूपात्मकं सत् 'नामरूपे व्याकरवाणि' इत्युपनिषदन्तर्गर्भित-मन्त्र-मन्त्रार्थ-मन्त्रचैतन्य-चक्र-देवता-विद्या-निष्कल-निरवयव-परमेश्वराभिन्नगुरूणामात्म-

नैक्यानुसन्धानं तत्तन्मन्त्रेषु षडक्षरपञ्चाक्षरमन्त्रेषु वा समुल्लसति। इयमेव भावनार्घ-लिङ्गयोः स्थापने पूजने च शिवशक्तिशब्दार्थनामरूपादिरूपेण सर्वत्र समुपपद्यते।

किञ्च, मूलाधारे लसन्ती विसतन्तुतनीयसी परा सहस्रसूर्यप्रकाशा विद्यैव ममात्माऽस्तीति साधकस्य निरन्तरभावनैव शक्तिः, येन निष्कलेनाणुनाऽणुतरेण महता महत्तरेण निर्लक्ष्येण भावातीतेन व्योमातीतेन परमेश्वरतत्त्वेन सह विश्वातीतनिष्कलनिर्लक्ष्यस्य स्वगुरुप्रबोधितस्य निर्मलस्वभावस्य स्वात्मनः साधकद्वारैक्यानुप्रवेशो महातत्त्वप्राप्तिरिति। एतदखिलमर्थभावनया शिवस्याह्लादिन्या शक्त्या परापराम्बयैव ज्ञातुं शक्यते। इदमेव रहस्यं वीरशैवनये शक्तिमुखेन ज्ञातुं शक्यत इति सर्वं परिभाव्य शिवतोपपादने आचार्यैरुपदिष्टमिति सुधीधना एवात्र प्रमाणम्।

पारमेश्वरागमे एकादशपटले षडक्षरी-पञ्चाक्षरी-मन्त्रयोरनुष्ठानं तद्विधिः, फलं च निगदितम्। तत्र वेदे वैदिकानुष्ठाने, उपनिषत्सु च सर्वत्र षडक्षरस्यैवानुष्ठानं कर्तव्यतयोपदिष्टम्, लोकेऽधुना देशकालाद्यनुरोधेन पञ्चाक्षरस्यैवानुष्ठानमुपदेशश्च युक्त इति चोपपादितम्। तद्यथा—

वेदे च वेदशीर्षे चाप्युभयत्र षडक्षरः।
मन्त्रः स्थितः सदा मुख्यो लोके पञ्चाक्षरः स्मृतः[१]।। इति।

अत्रेदं ध्येयम्—सर्वमन्त्राणि देवतारूपाणि साकाराणि भवन्ति। तत्र सर्वमन्त्राणां जपे प्रणवः श्रोतृरूपः, रेफो मुखम्, स्वराः चक्षुषी, तदभिन्नाश्च वर्णा हृदयम्, प्राणाश्च सर्वागमेषु गुप्ता गुरुकृपातोऽवगन्तव्याः। तदुक्तं भूतडामरबीजकोशे—

मन्त्राणां प्रणवः श्रोत्रं मुखं रेफः प्रकीर्तितः।
स्वराश्च चक्षुषी ज्ञेया मन्त्रविद्भिरनारतम्।।
अतिरिक्ताश्च ये वर्णा हृदयं परिकीर्तितम्।
असवोऽस्य परिज्ञेयाः सर्वतन्त्रेषु गोपिताः।। इति।

एवं मेरुतन्त्रेऽपि—मन्त्रचैतन्यसूतकमृतकदोषशमनसेतुमहासेतुनिर्वाणज्ञानानि मन्त्र-जपानुष्ठानातिरिक्तानि भवन्ति। तदवश्यतया कर्तव्यानीति सर्वागमेषूक्तानि। पारमेश्वरागमेऽ-प्येतत्सर्वं विहितम्। तत्रैकैकमादाय विविच्यते किञ्चिद्—

मन्त्रचैतन्यं नाम मन्त्र-गुरु-देव-साधकात्मनामैक्यभावनम्, मन्त्राणामुच्चारणम्, जातकसूतक-मृतकसूतकञ्च विसर्जनम्। तद्दोषद्वयनिवृत्तये जप्यमन्त्रस्याद्यन्ते प्रणवं कृत्वा दशवारं पञ्चविंशवारं पञ्चाशद्वारं वा जपेन मृतकसूतकनिवृत्तिर्भवति। ब्राह्मण-

१. पारमेश्वरागमे - ११.४।

क्षत्रिय-वैश्यसाधकानां कृते प्रणवोपदेशः, अन्येषाञ्च कृते चन्द्रानुस्वारसंयुक्ताश्चतुर्दशस्वराः सेतुरिति मेरुतन्त्रस्य भावो सङ्गच्छते।

रुद्रयामले च ब्राह्मणक्षत्रिययोः प्रणवः, वैश्यस्य फडिति, शूद्रस्य च ह्रीमिति सेतुरित्युक्तः। महासेतुश्च सुन्दर्याः कालिकायाश्च स्वं स्वं बीजमेव। एवं हि निर्वाणं नाम प्रणवं मातृकाद्यञ्च समुच्चार्य, मूलमन्त्रं, वाग्भवबीजं च समुच्चार्य समस्तां मातृकां पुनः प्रणवमित्येवं पुटितमूलं मणिपूरके प्रजपेदिति। कुल्लुकामन्त्रस्तु तत्तद्देवतानां भिन्नभिन्नपद्धत्या जपनीयः। मन्त्रस्य कुल्लुकायाश्च ज्ञानं गुरूपदेशादेवावगन्तव्यमित्येतत्सर्वं रुद्रयामलोक्तं सङ्गच्छते।

एवं हि पारमेश्वरागमे प्रणवघटकः षडक्षरमन्त्रः सर्वसिद्धिदो भवति। प्रणवः सर्वमन्त्राणां प्राणः, साक्षाच्छिवरूप एवेति तत्रोक्तम्—

अहं गुणत्रयातीतः सर्वज्ञः सर्वकृत् प्रभुः।
ओमित्यक्षरे मन्त्रे स्थितः सर्वगतोऽस्म्यहम्।। इति।

एवमेव ब्रह्माण्डे यावन्ति ज्ञानानि, तानि सर्वाण्येव षडक्षरमन्त्रस्य भाष्यभूतान्येव[१]।

एवमत्र प्रकरणे पञ्चाक्षरशिवमन्त्रमाहात्म्यम्, पञ्चाक्षरी विद्या, तस्य ऋषि-च्छन्दो-देवता-वर्णानामधीशाः, षडङ्गानि, मन्त्रवर्णन्यासः, जपश्च सर्वं सातिशयेन विवृतं विद्यते। अत एतत्सर्वं गुरुकृपयैव सिद्ध्यतीति पारमेश्वरागमस्य सिद्धान्तमागमानुरोधेनैवोपपन्नमिति सुधीभिरूह्यम्। एवं हि—

जपतत्त्वं विमृश्येदं ग्रथितं हि त्रिपाठिना।
मोदाय विदुषां नित्यं तोषाय परमात्मने।।

।। इति शिवम्।।

●

---

१. पारमेश्वरागमे, ११.१।

भस्म, रुद्राक्ष एवं लिङ्गधारण-दीक्षा

डॉ. गोविन्द सप्तर्षि

वन्दे गिरीन्द्रतनयाद्विरदाननाग्नि-
भूनन्दिभृङ्गिरिटिसेवितपादपद्मम् ।
पञ्चाननं फणिशशीभतरक्षुचर्म-
भूषं महेशमनिशं शिरसा गिरीशम् ।।
पाशाङ्कुशेष्टदविषाणकराग्रबीज-
पूरोज्ज्वलं तरुणदिव्यजटाप्रकाशम् ।
कोटीरकोटिशशिरेखमुमातनूजं
वन्दे गणेन्द्रमनिशं वरदानदक्षम् ।।

उपक्रम

प्रस्तुत निबन्ध का प्रमुख विषय पारमेश्वरागम में भस्म, रुद्राक्ष एवं लिङ्गधारण दीक्षा है, तथापि शैव और वीरशैव मत की प्राचीनता के सम्बन्ध में कुछ विचार करना आवश्यक लग रहा है। भारतीय सनातन धर्म-दर्शनों में शैव और वीरशैव का एक प्रमुख स्थान है। वीरशैव धर्म शैव धर्म का ही एक प्रमुख भेद है। भगवान् शिव के सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान नामक पाँच मुखों से आविर्भूत पाँच शिवगणों के द्वारा इस मत, अर्थात् वीरशैव सम्प्रदाय की स्थापना हुई है। रेणुक, दारुक, घण्टाकर्ण, धेनुकर्ण और विश्वकर्ण ये पाँच शिवगण हैं। शिव के आदेश के अनुसार ये पाँचों शिवगण भूलोक में प्रत्येक युग के आरम्भ में अवतरित होकर वीरशैव धर्म की स्थापना करते आये हैं। इन पाँचों शिवगणों का कलियुग में क्रमशः अवतार का स्थान–कोल्लीपाक के सोमेश्वर लिङ्ग, उज्जैन के सिद्धेश्वरलिङ्ग, द्राक्षराम क्षेत्र के भीमनाथ लिङ्ग, श्रीशैल क्षेत्र के मल्लिकार्जुन लिङ्ग और काशी क्षेत्र के प्रसिद्ध विश्वेश्वर ज्योतिर्लिङ्ग माने गये हैं। इन्होंने अपनी महिमा की सिद्धि से ऊपर प्रदर्शित लिङ्गों से आविर्भूत होकर दिव्य देह धारण करके पाँच प्रमुख पीठों को स्थापित की। वे पाँच पीठ क्रमशः कर्णाटक के रम्भापुरी में वीरसिंहासन, कर्णाटक की उज्जयिनी में सद्धर्म

सिंहासन, उत्तराञ्चल के ऊखीमठ में वैराग्य सिंहासन, आन्ध्र प्रदेश के श्रीशैल क्षेत्र में सूर्य सिंहासन और उत्तर प्रदेश के काशी क्षेत्र में ज्ञान सिंहासन के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्हीं पाँच पीठों के द्वारा सम्पूर्ण भारतवर्ष में वीरशैव धर्म और तत्त्वज्ञान का प्रचार-प्रसार होता चला आया है।

एक विशेष बात यह है कि इन पाँच आचार्यों के अतिरिक्त कर्णाटक, महाराष्ट्र और आन्ध्र प्रदेश में इस धर्म के अनुयायी अनेक सन्त समय-समय पर हुए हैं, जिनका वीरशैव धर्म के प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। उनमें कर्णाटक के महात्मा बसवेश्वर, महाराष्ट्र के श्री मन्मथ स्वामी आदि प्रमुख हैं।

वैसे तो वीरशैव धर्म पूरे भारत में व्याप्त है, लेकिन लोकसंख्या की दृष्टि से कर्णाटक, महाराष्ट्र और आन्ध्र प्रदेश में इनकी संख्या अधिक है। वीरशैव धर्म का एक पर्याय नाम 'लिङ्गायत' है। लिङ्गायत शब्द वास्तविक दृष्टि से इस धर्म के उतना अनुरूप नहीं है, अतः वीरशैव शब्द ही अधिक शास्त्रीय माना जाता है। वीरशैव धर्म का मूल स्त्रोत आगमशास्त्र है, जिसे 'सिद्धान्तागम' अथवा 'शैवागम' कहते हैं। इनकी संख्या अट्ठाइस है–(१) कामिक, (२) योगज, (३) चिन्त्य, (४) कारण, (५) अजित, (६) दीप्त, (७) सूक्ष्म, (८) सहस्र, (९) अंशुमान्, (१०) सुप्रभेद, (११) विजय, (१२) निःश्वास, (१३) स्वायम्भुव, (१४) अनल, (१५) वीर, (१६) रौरव, (१७) मुकुट, (१८) विमल, (१९) चन्द्रज्ञान, (२०) बिम्ब, (२१) प्रोद्गीत, (२२) ललित, (२३) सिद्ध, (२४) सन्तान, (२५) शर्वोक्त, (२६) पारमेश्वर (जो प्रस्तुत निबन्ध का उपजीव्य है), (२७) किरण और (२८) वातुल।

प्रत्येक आगम में चार पाद हैं–(१) क्रियापाद, (२) चर्यापाद, (३) योगपाद और (४) ज्ञानपाद। इनके उत्तर भाग में वीरशैव सिद्धान्त का प्रतिपादन मिलता है। जैसा कि 'सिद्धान्तशिखामणि' में प्रतिपादित है—

सिद्धान्ताख्ये महातन्त्रे कामिकाद्ये शिवोदिते।
निर्दिष्टमुत्तरे भागे वीरशैवमतं परम्[१]॥

प्रस्तुत निबन्ध के शीर्षक में भस्म, रुद्राक्ष, लिङ्गधारण तथा दीक्षा ये चार पद हैं। इनके सम्बन्ध में वेदागमोपनिषत्पुराणादि में विस्तारपूर्वक विवेचन प्राप्त होता है। अतः यह विषय इतना व्यापक है कि इन पर अलग-अलग एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना हो सकती है, परन्तु यहाँ हमें 'पारमेश्वरागम' के सन्दर्भ में ही उक्त विषयों पर विचार करना है।

१. सि. शि., ५.१४।

भस्मधारण

भस्मधारण के सम्बन्ध में हमारे सूत्रग्रन्थों, उपनिषदों, निबन्ध-ग्रन्थों, पुराणों आदि में बहुत सारा वर्णन प्राप्त होता है, परन्तु शैवागमों में जैसा वर्णन प्राप्त होता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। सिद्धान्तशिखोपनिषद् में भस्मधारण के सम्बन्ध में ऐसा प्रमाण मिलता है कि पहले वीरशैव व्रतधारी को शिवतीर्थ के मङ्गल जल में स्नान करना चाहिए, पश्चात् अपने समस्त शरीर को, उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग को भस्म का लेप लगाकर उसे पवित्र करते हुए त्रिपुण्ड्र धारण करना चाहिए। यथा—

स्नानं कृत्वा शिवतीर्थेऽथ देहं सर्वं भस्मोद्धूलनात् पावयित्वा त्रिपुण्ड्रं धार्यम्[१] ।

भस्मोद्धूलन का वर्णन इस प्रकार मिलता है—

अग्निरित्यादिभिर्मन्त्रैः सद्योजातादिमन्त्रतः ।
सर्वाङ्गोद्धूलनं कुर्यादापादतलमस्तकम्[२] ।।

'सद्योजातं प्रपद्यामि'[३] मन्त्र से प्रारम्भ कर 'अग्निः'[४] इत्यादि मन्त्रों द्वारा पैरों से लेकर मस्तक पर्यन्त शरीर के सभी अङ्ग-प्रत्यङ्गों में भस्म लेपन करना चाहिए। इसके अतिरिक्त भी सिद्धान्तशिखोपनिषद् में भस्म धारण के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक वर्णन प्राप्त होता है।

भस्म परिपक्वता एवं पूर्णता का द्योतक है। प्राचीन काल में जिस बर्तन में भोजन बनाया जाता था, उस बर्तन को भस्म लगाने की परम्परा थी, क्योंकि यह पूर्ण ब्रह्म है। अतः पूर्ण ब्रह्म को पात्र में रखने के पूर्व भस्म लगाकर उसे पवित्र कर लिया जाता था। यह चिह्न जिस प्रकार उस परम्परा से मिलता था, उसी तरह उस पात्र की, पवित्रता का मन पर असर होता था। उसी तरह भस्माङ्कित ललाट को देखकर मन में बड़ा आनन्द होता है और यह ज्ञात होता है कि यह अवश्य कोई शिवभक्त होगा।

---

१. सिद्धान्तशिखोपनिषत्, १६ (पृ. सं. ८५)।
२. सिद्धान्तशिखोपनिषत्, भाष्य में (पृ. सं. ८६)।
३. सद्योजातं प्रपद्यामि सद्योजाताय वै नमः।
भवे भवे नातिभवे भवस्यामं भवोद्भवाय नमः ।। (माना. उ. अउ. १५)
४. अग्निरिति भस्म। वायुरिति भस्म। जलमिति भस्म। स्थलमिति भस्म। व्योमेति भस्म। सर्वं हवा इदं भस्म। मन एतानि चक्षूंषि भस्मानि ।। (भस्मजाबालोपनिषत्, १.३)

भस्म, चन्दन, रुद्राक्ष ये सब धार्मिक आभूषण हैं। इसके अतिरिक्त अन्य आभूषण राजसिक होते हैं। सात्त्विक आभूषणों को धारण करने से सत्त्वगुण का प्रकर्ष होता है। सात्त्विक वृत्ति मन की शान्ति के लिए कारण है, उत्तम विचारों की पोषक होती है। सादगी से रहकर मन में उच्च विचारों का उत्कर्ष होना, इससे बढ़कर दूसरा कर्म नहीं है। पारमेश्वरागम में यह वर्णन है कि भस्म एक सात्त्विक आभूषण ही है। सात्त्विक आहार, सात्त्विक वेष और भस्मधारण ही शिवभक्तों का वैशिष्ट्य है।

भस्मस्नानोपरान्त भस्मोद्धूलन करके त्रिपुण्ड्र धारण करना चाहिए। भस्मधारण करते समय शुद्ध और नरम भस्म की जितनी मात्रा अपेक्षित है, उतनी ही एक पात्र में रखकर दूसरे पात्र से ढँक देना चाहिए, बाँये हाथ में उसमें से निकाल कर भस्म रखे और उसे दाहिने हाथ से ढँक दे। तब शैव पञ्चाक्षर मन्त्र का १०८ बार जप करे। तदनन्तर शुद्ध जल हाथ में लेकर उसे भी पूर्ववत् ढँक कर पञ्चाक्षर मन्त्र का जप करे। तब प्रणव सहित मूल मन्त्र का जप करते हुए उस भस्ममिश्रित जल का अपने सारे शरीर पर प्रोक्षण करे। इसे ही भस्मस्नान कहा जाता है। इसी तरह भवरूपी, रुद्र-रूपी, शर्वरूपी, उग्ररूपी, शम्भु को प्रणाम करता हूँ, विभूतिस्वरूप सिद्धरूप शिव को मैं बार-बार प्रणाम करता हूँ। इन मन्त्रों से जितनी अपेक्षा है, उतनी भस्म लेकर प्रत्येक अङ्ग में शिर से लेकर पैर तक उस भस्म को लगावे।

सबसे पहले प्रणव मन्त्र से शिर पर, पञ्चाक्षर मन्त्र से ललाट पर, सद्योजात मन्त्र से दोनों आँखों पर और वामदेव मन्त्र से दोनों कानों पर भस्म को लगाना चाहिए। अघोर मन्त्र से कण्ठ पर, तत्पुरुष मन्त्र से दोनों कन्धों पर, ईशान मन्त्र से वक्षस्थल पर और सभी पञ्चब्रह्म मन्त्रों का एक साथ उच्चारण करते हुए उदर और नाभि पर भस्म धारण करे। **'नमः शिवाय रुद्राय च'** मन्त्र से और **'नमो भवाय'** इस मन्त्र से जङ्घाओं पर तथा **'नम उग्राय'**, **'नमः कालाय'** इन दो मन्त्रों से पैर की पिण्डलियों पर भस्म लगाना चाहिए। **'नमः शिवाय, नमः शान्ताय'** इन दो मन्त्रों से पैरों के ऊपर भस्म लगावे और फिर इन्हीं सब मन्त्रों से पैरों के दसों अंगुलियों पर भस्म लेपन करना चाहिए। अग्नि इत्यादि दो मन्त्रों से दोनों एड़ियों के ऊपर की हड्डी की गाँठ पर भस्म लगावे। इसके पश्चात् दक्षिण बाहु, भुजा, कोहनी और मणिबन्ध पर इसी तरह बाम बाहु, भुजा, कोहनी पर और मणिबन्ध पर क्रमशः आगे पढ़े गये मन्त्रों से भस्म धारण करे, **ज्वालाय नमः, ज्वालालिङ्गाय नमः, आत्मने नमः, आत्मलिङ्गाय नमः, परमलिङ्गाय नमः, शिवाय नमः** इन मन्त्रों से ग्रीवा की रेखाओं पर, **'त्रिशूलिने नमः'** से पीठ पर और **'महादेवाय नमः'** से दोनों पसलियों पर भस्म

धारण करे। भ्रमर के समान नेत्रवाले शम्भु को मैं प्रणाम करता हूँ, इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए दोनों काँखों में भस्म लगावे और प्रणव के साथ मूल मन्त्र का उच्चारण करते हुए पूरे शरीर पर भस्म लेपन करे[१]।

जो इस विधि से भस्म धारण करता है, वह शिव के समान सभी का पूज्य होता है। इस तरह भस्म धारण करने वाले की जो निन्दा करता है, वह प्रत्यक्ष शिव की निन्दा के समान ही है। प्रतिदिन नित्य नियम से वीरशैवों को भस्म धारण करना चाहिए। भस्मधारण-माहात्म्य के सम्बन्ध में मराठी के 'गुरुचरित्र'[२], शिवलीलामृत[३] इत्यादि ग्रन्थों में भी बड़े विस्तारपूर्वक वर्णन प्राप्त होता है, जिसका पूर्णरूप से यहाँ वर्णन करना अप्रासङ्गिक तो नहीं, परन्तु निबन्ध विस्तृत होता जायेगा। अत: उसका सन्दर्भ ही पर्याप्त है।

रुद्राक्षधारण

रुद्राक्ष भगवान् शिव का आभूषण है। रुद्राक्ष की उत्पत्ति के बारे में बृहज्जाबालोपनिषत्, रुद्राक्षोपनिषत्, मराठी के गुरुचरित्र, शिवलीलामृत इत्यादि ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक वर्णन प्राप्त होता है। रुद्राक्ष भगवान् शिव को अत्यन्त प्रिय है। जो रुद्राक्ष धारण करता है, वह प्रत्यक्ष शिवस्वरूप ही हो जाता है।

भस्मोद्धूलितसर्वाङ्गा धृतरुद्राक्षमालिकाः।
ये भवन्ति महात्मानस्ते रुद्रा नात्र संशयः[४]।।

जिसने सर्वाङ्ग पर भस्म लेपन किया है एवं गले में रुद्राक्ष की माला धारण की है, ऐसा महात्मा प्रत्यक्ष रुद्र ही है, इसमें सन्देह नहीं करना चाहिए। रुद्राक्ष आभूषण है। फिर भी स्वर्णाभूषणों की तरह केवल शरीर की सजावट के लिए उसे धारण नहीं किया जाता। उसमें प्रदर्शन नहीं होता। रुद्राक्ष धारण करने से मैं पैसे वाला हूँ, श्रेष्ठ हूँ, ऐसा अहङ्कार नहीं पनपता। उसके धारण से 'सब कुछ शिवमय है' ऐसा समभाव निर्मित होता है। इसलिए सभी आभूषणों में रुद्राक्ष सर्वश्रेष्ठ आभूषण है। इसका निर्माण भगवान् शिव के नेत्रों से हुआ है, ऐसा प्रमाण मिलता है। विशिष्ट वृक्ष के बीज को रुद्राक्ष कहते हैं। रुद्राक्ष उत्पत्ति के भेद से अड़तीस प्रकार के होते हैं। रुद्राक्ष एक मुख

१. पारमेश्वरागम, २५.४२।
२. गुरुचरित्र, मराठी, अं. २८-२९।
३. शिवलीलामृत, मराठी, अं. ११-१२।
४. सिद्धान्तशिखामणि, ७.६५।

से लेकर चौदह मुख तक होते हैं। जिनका मुख-भेद से शरीर के अवयवों पर धारण का अलग-अलग वीरशैव धर्म में प्रमाण मिलता है। इसके अतिरिक्त जो हर समय रुद्राक्ष धारण करता है, उसे पाप का स्पर्श नहीं होता और रुद्राक्षधारण करने से एक कोटि गोदान का फल मिलता है, ऐसा 'सिद्धान्तशिखामणि' में प्रमाण मिलता है—

गवां कोटिप्रदानस्य यत्फलं भुवि लभ्यते।
तत्फलं लभते मर्त्यो नित्यं रुद्राक्षधारणात्[१]।।

अर्थात् एक करोड़ गोदान से जो पुण्य प्राप्त होता है, उतना रुद्राक्ष धारण करने से मनुष्य को प्राप्त होता है। इसलिए रुद्राक्षधारण से उत्कृष्ट फल की प्राप्ति होती है। अत: शिवभक्त को कम से कम एक रुद्राक्ष अवश्य धारण करना चाहिए।

'चन्द्रज्ञानागम' में रुद्राक्षधारण के फल को बड़े विस्तृत ढंग से निरूपित किया गया है। जैसे– एकमुखी रुद्राक्ष धारण करने से साधक जितेन्द्रिय होता है, द्विमुखी धारण करने से अर्धनारीश्वर की कृपा का पात्र होता है, त्रिमुखी धारण करने से उस पर अग्निदेवता प्रसन्न होते हैं, चतुर्मुखी धारण करने से ब्रह्मदेव की, पञ्चमुखी धारण करने से भगवान् शिव की, षण्मुख को धारण करने से भगवान् कार्तिकेय की, सप्तमुखी रुद्राक्ष धारण करने से सप्तमातृकाओं की, अष्टमुखी धारण करने से अष्ट वसुओं की, नवमुखी धारण करने से दुर्गा जी की और दशमुख रुद्राक्ष धारण करने से यमराज की कृपा होती है। एकादशमुखी रुद्राक्ष धारण करने से इन्द्र आदि देवता सन्तुष्ट होकर सौभाग्य वृद्धि करते हैं। द्वादशमुखी रुद्राक्ष धारण करने से सूर्य की कृपा होती है, चतुर्दशमुखी रुद्राक्ष धारण करने से सारे रोग नष्ट होकर आरोग्य प्राप्ति होती है।

पारमेश्वरागम में भी रुद्राक्ष धारण के सम्बन्ध में यह प्रमाण मिलता है कि जिसने अपने शरीर पर भक्तिभावपूर्वक एक भी रुद्राक्ष धारण कर रखा है, उसको देखकर नाना प्रकार के पाप बहुत दूर चले जाते हैं। हे ईशानि ! जिस शिवभक्त के शरीर पर विभूति, रुद्राक्ष और इष्टलिङ्ग–ये तीनों विराजमान हैं, वह साक्षात् रुद्र ही है, नि:सन्देह वह मुझसे अभिन्न है। शिव जी कहते हैं कि मेरे इष्टलिङ्ग का पूजन, भस्म एवं रुद्राक्ष धारण तथा शिवपञ्चाक्षरी मन्त्र का जप–इनमें से प्रत्येक में शिव पद प्राप्ति का सामर्थ्य है। जिस भक्त में ये सभी साधन विद्यमान हों, उसके फल का वर्णन करना असम्भव है, उसे तो सब कुछ प्राप्त हो जाता है। साथ ही हे देवि ! जिसके ललाट पर भस्म का

---

१. सिद्धान्तशिखामणि, ७.६३।

त्रिपुण्ड्र है, शरीर पर रुद्राक्ष धारण किया है, जो शिवपञ्चाक्षरी मन्त्र का जप करता है और कण्ठ में जिसने इष्टलिङ्ग का आभूषण धारण कर रखा है, वह नि:सन्देह मेरा ही स्वरूप है[१]।

रुद्राक्ष की माला धारण करना आरोग्यदायक होने के कारण केवल वीरशैव ही नहीं, बल्कि सबको धारण करना चाहिए।

रुद्राक्ष धारण से रक्तचाप, हृदय विकार इत्यादि रोगों पर प्रतिबन्ध होता है, ऐसा आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी खोज की है। इसलिए अब संसार में अधिक से अधिक संख्या में लोग रुद्राक्ष धारण कर रहे हैं। जाने-अनजाने में भी रुद्राक्ष धारण का फल प्राप्त होता है। रुद्राक्ष धारण करने से पाप का क्षय होकर पुण्य की प्राप्ति होती है, मस्तक पर रुद्राक्ष रखकर स्नान करने से गङ्गा स्नान का पुण्य मिलता है और रुद्राक्ष प्रक्षालित जल पीने से अकाल मृत्यु का भय दूर हो जाता है।

लिङ्गधारण

पवित्र वीरशैव मत का मुख्य चिह्न लिङ्गधारण है। यह लिङ्गधारण का विषय ऋगादि वेदों में, ईशादि उपनिषदों में, कामिकादि आगमों में तथा व्यासोक्त पुराणों में बड़े ही विस्तृत रूप से प्राप्त होता है, यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इसी विषय को सिद्धान्तशिखामणि में लिङ्गधारण प्रकरण में वीरशैवमतस्थापक श्रीजगद्गुरु रेणुकाचार्य ने अगस्त्य ऋषि को शिवसिद्धान्त का उपदेश करते समय निम्न प्रकार से कहा है—

वेदशास्त्रपुराणेषु कामिकाद्यागमेषु च।
लिङ्गधारणमाख्यातं वीरशैवस्य निश्चयात्[२]॥

उसी तरह ऋग्वेद में—

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि
पर्येषि विश्वतः। अतप्ततनुर्न तदामो अश्नुते[३]॥

ऋग्वेद का यह मन्त्र लिङ्गधारण के सम्बन्ध में ही है। लिङ्गधारणचन्द्रिका में इसकी विस्तृत टीका प्राप्त होती है। यथा—

---

१. पारमेश्वरागम, ९३-९६।
२. सिद्धान्तशिखामणि, ६.५८।
३. ऋग्वेद, ९.८३.१।

"हे ब्रह्मणस्पते–लिङ्गरूपशरीरावच्छेदेन शरीरिभावेनाधिष्ठितपरमशिव, ते–तव, तद् ब्रह्मपदवाच्यलिङ्गरूपं शरीरं पवित्रमुक्तरीत्या शुच्यशुचिकालेऽपि धर्तुं योग्यम्, विततमिष्टादिभेदेन भक्तशरीरादिभेदेन वा बहुविधम्, प्रभुः निग्रहानुग्रहसमर्थस्त्वं, विश्वतः समस्तानि गात्राणि भक्तशरीराणि, पर्येषि-व्याप्नोषि, धार्यमाणस्सन् लिङ्गरूपशरीरद्वारा भक्ताङ्गसंयुक्तोऽसीत्यर्थः । अतप्ततनूस्तप्ता वेधा-मनु-क्रियादीक्षात्रयेण निर्दग्धपापपञ्जरा तनूर्यस्य सा न भवतीत्यतप्ततनूः, दीक्षात्रयरहितः, आमः अपरिपक्वान्तः सन्, तत् परशिवस्वरूपं नाश्नुते"[१] ॥ इति ।

इसी मन्त्र के अभिप्राय को महर्षि वेदव्यास ने लिङ्गपुराण में स्पष्ट एवं विस्तृत रूप से कहा है[२] । इस तरह से यह विषय क्रमशः यजुर्वेद, तैत्तिरीयारण्यक, वेदान्त-सारोपनिषद्, भक्तियोगोपनिषत्, निर्लेपोपनिषत्, चिदम्बरोपनिषत्, सिद्धान्तशिखोपनिषत्, लिङ्गधारणोपनिषत्, प्रसादजाबालोपनिषत्, वीरलैङ्गोपनिषत्, सूक्ष्मागम, वातुलागम, पारमेश्वरागम, वीरागम, शिवपुराण वायवीयसंहिता, शिवपुराण विद्येश्वरसंहिता, सनत्कुमारसंहिता, स्कन्दपुराण केदारखण्ड, स्कन्दपुराण अरुणाचलमाहात्म्यखण्ड, पद्मपुराण पातालखण्ड, शिवगीता, सौरपुराण, महाभारत अनुशासन पर्व इत्यादि में लिङ्गधारण का वर्णन प्राप्त होता है ।

'पारमेश्वरागम' में भगवान् शिव ने स्वयं पार्वती को यह बतलाया है कि देवि ! इष्टलिङ्ग धारण की महिमा से मनुष्य सुखपूर्वक दुःखसागर से पार हो जाता है । वहीं आगे यह भी मिलता है कि बिना दीक्षा के इष्टलिङ्ग को धारण नहीं करना चाहिए । अगर कोई अपने मन से धारण करता भी है, तो वह जीवित अवस्था में चाण्डाल बनकर मरणोपरान्त नरकगामी होता है । इसलिए जिसे इष्टलिङ्ग धारण करने की निष्ठा हो, वह शिवयोगी के पास जाकर उस गुरुरूप शिव की पूजा करे[३] ।

वहीं यह भी प्रमाण मिलता है कि बिना दीक्षा के लिङ्गधारण में दोष होता है, क्योंकि बिना विधि के कोई भी कार्य सफल नहीं होता । इसलिए इष्टलिङ्गधारण करने में दीक्षा ही मुख्य विधान है, जिसके अभाव में नाना प्रकार के दोषों का प्रादुर्भाव होता है[४] ।

'पारमेश्वरागम' के द्वितीय पटल में अन्यान्य विषयों के साथ लिङ्ग का लक्षण

१. लिङ्गधारणचन्द्रिका ।
२. लिङ्गपुराण, उत्तर भाग, अ. २१ ।
३. पारमेश्वरागम, ६९-७५ ।
४. पारमेश्वरागम, ७६-७७ ।

और भेद दिखलाया गया है, साथ ही उसके धारण का फल भी, जो अन्यत्र दुर्लभ है। जैसे–इस संसार की सभी चराचर वस्तुएँ शिवस्वरूप ही हैं। पाषाण, धातु आदि से जो बना है, उसे भी शिवलिङ्गस्वरूप ही जानना चाहिए।

नर्मदा आदि नदियों से उत्पन्न पुण्य क्षेत्र में प्रकट हुए गङ्गा और सागर में उत्पन्न ये सारे शिवस्वरूप ही हैं। इन सबमें मन्दिर में स्थापित शिवलिङ्ग ही सर्वश्रेष्ठ है तथा दीक्षाविधानपूर्वक गुरु के द्वारा प्रदत्त इष्टलिङ्ग की सर्वश्रेष्ठता स्थापित की है, वहीं साधकों को फल देने वाले काम्य लिङ्गों का वर्णन भी प्राप्त होता है। इनमें सुवर्ण, पारद इत्यादि से बने हुए लिङ्ग आकार में जितने बड़े होते हैं, तदनुसार ही वे बढ़कर फल देते हैं। उनमें पारद लिङ्ग सभी कामनाओं को पूरा करने वाला, सुवर्णनिर्मित लिङ्ग धन देने वाला, रजतलिङ्ग सन्तति देने वाला और ताम्र का बना लिङ्ग शत्रु का नाश करने वाला कहा गया है। उसी तरह जस्ते का बना लिङ्ग रोग का नाशक, सीसे का बना पापों का नाशक, स्फटिकलिङ्ग ज्ञान एवं पुण्यप्रद होता है तथा रुद्राक्ष का लिङ्ग मोक्षप्रद कहा गया है। काष्ठ निर्मित लिङ्ग सर्वनाश कर देता है। कांसे का लिङ्ग रोग और पीड़ा पहुँचाता है। श्रीशैल के पाषाण से निर्मित लिङ्ग ऐहिक और आमुष्मिक सभी सुखों को देता है। इसी तरह लिङ्ग के प्रमाणों के बारे में वर्णन प्राप्त होता है एवं सर्वत्र दीक्षा लिङ्ग की ही श्रेष्ठता बतलायी गयी है[१]।

दीक्षा

सनातन काल से गुरुदीक्षा की रीति इस पवित्र भूमि में प्रचलित है। शास्त्रों में ऐसा प्रमाण मिलता है कि जैसे पाषाण पर बीज बोने से बीज अंकुरित नहीं होता, वैसे ही बिना गुरुदीक्षा के साधना करने से कभी भी आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो सकती। थोड़ा सा विचार करने से शास्त्रोक्त इस महावाक्य का रहस्य ज्ञात हो सकता है। जब से शिशु में ज्ञान अंकुरित होता है, उसके अनन्तर जैसे-जैसे उसके ज्ञान की वृद्धि होती जाती है, वह वृद्धि औरों के उपदेश से ही होती है। अर्थात् जैसे-जैसे उस शिशु को उसके माता-पिता, प्रतिपालक और विद्या-गुरु-गण, उपदेश द्वारा जैसी-जैसी शिक्षा देते जाते हैं, वैसे ही उस बालक में ज्ञान की स्फूर्ति होती जाती है। अतः वे उपदेशकगण उस शिशु के शिक्षा-गुरु हैं; क्योंकि उन उपदेशों की सहायता के बिना उस बालक को किसी प्रकार से ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती थी। मन, बुद्धि और इन्द्रिय आदि जब तक किसी प्रबल शक्ति से उत्तेजित, आकृष्ट और चालित न किये जाँय, तब तक ये

१. पारमेश्वरागम, २.४-१६।

कोई काम नहीं कर सकते। अब जिस शक्ति के द्वारा हम लोग उन्नति की ओर घुमाए जाते हैं, वही शक्ति हमारे गुरु हैं। चन्द्र, सूर्य, ग्रह-नक्षत्रादि जिस महाशक्ति के इङ्गित मात्र से अपने कार्य पर लगे रहते हैं, वही जगत् की महाशक्ति जगद्गुरु है। जगद्गुरु के जानने के लिए जब जीव का मन व्याकुल होता है, उस व्याकुलता को दूर करके इस घोर मायामय अन्धकारपूर्ण संसार-पथ को जो तत्त्वज्ञानी महापुरुष उपदेशरूप दीपक द्वारा सुगम कर देते हैं, वे ही दीक्षा-गुरु हैं। अब विचार द्वारा यह प्रतिपन्न हुआ कि बिना दूसरे के उपदेश के जीव कुछ भी ज्ञान-लाभ नहीं कर सकता। चाहे वह सांसारिक ज्ञान हो, चाहे आध्यात्मिक ज्ञान, बिना गुरु-उपदेश के किसी प्रकार का ज्ञान-लाभ नहीं हो सकता।

शिक्षा के भेद से शास्त्र में दो प्रकार के गुरु लिखे गये हैं— शिक्षा-गुरु और दीक्षा-गुरु। माता-पिता आचार्यादि जो कोई सांसारिक ज्ञान की वृद्धि करने में सहायता करें, वे शिक्षा-गुरु हैं। अर्थात् एक कीट से लेकर समस्त ब्रह्माण्ड ही शिक्षा-गुरु हो सकता है। परन्तु दीक्षा-गुरु वे ही हो सकते हैं, जिन्होंने जीव की व्याकुलता देख कृपा कर आत्मोन्नति का मार्ग उसे दिखाया हो।

गुरुदीक्षा का वर्णन करते समय सनातन शास्त्रों ने आज्ञा दी है कि दीक्षा से पहले भी गुरुदेव शिष्य की कम से कम छः महीने अथवा एक साल तक परीक्षा कर लें एवं परस्पर में प्रीति तथा भक्ति होने पर यदि गुरुदेव शिष्य को उपयुक्त समझें, तो दीक्षा दान करें। यह भी प्राप्त होता है कि शास्त्रविधि से यदि शिष्य की दीक्षा होगी, तो अवश्य ही उस जिज्ञासु का कल्याण होगा, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु शास्त्रों ने यह भी आज्ञा दी है कि श्री गुरुदेव की शक्ति का पार नहीं है। वे यदि इच्छा करें, तो अधिकारी चाहे जैसा हो, चाहे जैसा देश-काल पात्र हो, चाहे शिष्य की परीक्षा करें या न करें, वे सब समय में सब देश में दीक्षा द्वारा शिष्य का कल्याण कर सकते हैं। थोड़े अथवा बहुत परिमाण में प्रायः विश्व के सभी धर्मों में दीक्षा की परम्परा है।

गुरुगीता, मुण्डकोपनिषत्, श्वेताश्वतरोपनिषत्, श्रीमद्भगवद्गीता, पातञ्जल-योगदर्शन, श्रीमद्भागवत, रुद्रयामलतन्त्र, मनुसंहिता, तैत्तिरीयोपनिषद्, महाभारत, सिद्धान्तशिखामणि, पारमेश्वरागमादि अनेक स्थलों पर दीक्षा, गुरु-शिष्य-लक्षण इत्यादि के बारे में बड़े विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। विश्वाराध्य जगद्गुरु १००८ श्रीश्री डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य जी महाराज ने अपने 'जन्म हा अखेरचा' नामक मराठी ग्रन्थ में इसको इतने सरल ढंग से बतलाया है कि वह अवर्णनीय है। यह ग्रन्थ लौकिक भाषा का आध्यात्मिक कोष है, जिसमें सारे अध्यात्म-विषयों का समावेश है।

जिसे एक बार हाथ में उठाने पर बार-बार उसके पारायण का मन करता है। यही इस ग्रन्थ का वैशिष्ट्य है।

पारमेश्वरागम तृतीय पटल में दीक्षा-विधि का निरूपण प्राप्त होता है, जिसमें क्रमशः दीक्षाविधि में मण्डपनिर्माण, यजमान-कर्तव्य, कलशार्चन, दीक्षाक्रम, लिङ्गार्चन, पूजनोपयोगी पुष्प, सज्जिकागुण संस्कार एवं अन्त में लिङ्ग, विभूति, रुद्राक्ष धारण महिमा का वर्णन प्राप्त होता है। यहाँ स्वयं ईश्वर ने यह कहा है कि जो व्यक्ति इष्टलिङ्ग को धारण कर सदा विभूति धारण करता है एवं सदा रुद्राक्ष धारण करता है, वह शिवस्वरूप ही हो जाता है[१]। वहाँ स्त्री-शूद्र, जाति-पाँति का कोई भी भेद-भाव नहीं रह जाता है। उसी तरह सप्तदश पटल में भस्मनिर्माण विधि का विस्तारपूर्वक वर्णन प्राप्त होता है। तदनन्तर भस्मधारण-विधि दी हुई है, जो सर्वत्र एक ही समानं वर्णित है, साथ ही भस्म की महिमा का वर्णन है[२]।

बाईसवें पटल में भगवान् शिव ने पार्वती की समस्त शङ्काओं का निराकरण करते हुए यह समाधान प्रस्तुत किया है–हे देवि ! तुमने जो कुछ कहा है, वह ठीक ही है। इस विषय में जो महत्त्व की बात है, तुम उसे सुनो। इस संसार में अनेक मतभेद होते हुए भी सबकी यह विशेषता है कि सर्वत्र इष्टलिङ्ग धारण समान है। यज्ञादि कर्मों का आश्रयण करने वाले भले ही किसी इच्छा से इनका अनुष्ठान करें, उनको कर्म-बन्धन से मुक्ति दिलानेवाला इष्टलिङ्ग धारण ही मुख्य उपाय है। इष्टलिङ्ग धारण करना एक सशक्त तरणि का सहारा लेने के समान है, जिसके माध्यम से मनुष्य संसार-सागर को पार कर जायेगा। अन्य कर्मों की गति तो अति विचित्र है, जिसका पार पाना बड़ा ही दुर्गम है[३]।

पारमेश्वरागम के तेईसवें पटल में भी येन-केन प्रकारेण इष्टलिङ्ग के धारण की महिमा के साथ ही ग्रन्थ की समाप्ति होती है। यहाँ देवी ने ईश्वर से यह कहा है कि हे प्रभु ! बिना आपके इस संसार का निर्माण ही नहीं हो सकता, अतः यह सिद्ध ही है कि बिना ईश्वर के इस संसार का निर्माण असम्भव है। इससे अन्य नास्तिक दर्शन चार्वाक आदि का खण्डन स्वतः हो जाता है।

उपसंहार

अन्त में निबन्ध का उपसंहार करते हुए यह कहा जा सकता है कि

१. पारमेश्वरागम, तृतीय पटल।

२. सप्तदश पटल।

३. द्वाविंश पटल।

"पारमेश्वरागम में भस्म, रुद्राक्ष एवं लिङ्गधारण दीक्षा" के सम्बन्ध में जो कुछ भी वर्णन प्राप्त है, ऐसा वर्णन अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलता। हमने यथामति इसमें वीर-शैव इतिहास से लेकर सारा वर्णन यहाँ संक्षेप, सार रूप में, किया है। भस्म, लिङ्ग-रुद्राक्ष धारण, दीक्षा के विषय को देखने से ऐसा लगता है कि सम्पूर्ण विश्व को एक सूत्र में बाँधने के लिए शैवधर्म के अतिरिक्त कोई धर्म ही नहीं है, क्योंकि इस धर्म में शिवयोगी की दृष्टि समान रहती है। यहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अथवा अन्य किसी भी जाति का व्यक्ति हो, इष्टलिङ्ग को धारण करने मात्र से निःसन्देह शिवस्वरूप हो जाता है। स्त्री, बालक, वृद्ध, लूले, कुबड़े, अन्धे, लंगड़े, पागल, बहरे, काने, कपटी, धूर्त, ठग, चोर, व्यभिचारी, वेश्या और चाण्डाल पर्यन्त सभी प्राणी इष्टलिङ्ग धारण करने से शिवस्वरूप हो जाते हैं। नमस्कार करने में, पूजा करने में इस धर्म में बालक अथवा वृद्ध का भेद नहीं किया जाता, विधवा, रजस्वला आदि सभी यहाँ वन्दनीय हैं। वीरशैव धर्म के प्रति जिसकी भक्ति है, वे सभी उसके अधिकारी हैं, यह एक अलौकिक बात यहाँ प्राप्त होती है, जो सबसे बड़ी मानव धर्म को एक सूत्र में पिरोने का काम करती है। रही बात भस्म और रुद्राक्ष धारण की, तो वह भी धार्मिक चिह्न के साथ-साथ वैज्ञानिक महत्त्व की चीजें हैं, जिनकी ओर सामान्यतया लोगों का ध्यान जाता ही नहीं है। जैसे–रुद्राक्ष से पड़नेवाला पवित्र स्पन्दन आस-पास के वातावरण को शुद्ध करता है, रुद्राक्ष के जल का रोज प्राशन करने से हृदयरोग नहीं होता। उसी तरह भस्म के धारण से शरीर का सन्धिस्थल, मस्तक, वक्षस्थल के दोनों भाग, पीठ इत्यादि पर नित्य भस्म का लेप करने से सन्धि में वातादि रोगों का प्रादुर्भाव नहीं होता तथा शरीर के तेज एवं ओज की रक्षा होती है। उसी तरह लिङ्गधारण से स्वयं शिव का सान्निध्य रहने के कारण प्राणी सभी प्रकार के भय से रहित होकर अन्त में मुक्त हो जाता है। महाराष्ट्र के किसी भक्त ने अपनी स्तुति में ठीक ही कहा है–

शास्त्राभ्यास नको श्रुति पढु नको तीर्थासि जाऊँ नको
योगाभ्यास नको व्रते मख नको तीव्रे तपेंती नको।
काकोंचे भय मानसी धरु नको दुष्टासी शंका नको
ज्याचिया स्मरणे पतित तरति तो शंभु-सोडुं नको।।

अर्थात् वेद-शास्त्र, तीर्थयात्रा, योगाभ्यास इत्यादि की कोई आवश्यकता नहीं है, दुष्टों से भयभीत भी नहीं होना चाहिए, काल का भी भय मन में नहीं होना चाहिए। केवल जिनके स्मरण मात्र से पतित तर जाते हैं, ऐसे शिव का स्मरण निरन्तर करना चाहिए।

●

पारमेश्वरागमसारसर्वस्वम्

डॉ. कमलेशझा:

अथ पारमेश्वरागममधिकृय श्रीगुरुकृपया किमपि तत्सारसर्वस्वमावेदितुं प्रयत्यते।

अत्र मङ्गलाचरणे प्रकृतेः, चन्द्रादेः, गजचर्मादिः, नन्द्यादेः, कुमारगणेशयोः, जगदम्बायाश्च परमेश्वरसेवनतत्परत्वमाविष्कुर्वता एकस्याद्वयस्य विश्वरूपत्वं तदुत्तीर्णत्वं परमोपादेयत्वं च प्रतिपादयता तस्य माहेश्वर्यं प्रति प्रह्वीभावो व्यज्यते। तद्यथा—

वन्दे गिरीन्द्रतनयाद्विरदाननाग्नि-
भूनन्दिभृङ्गिरिटिसेवितपादपद्मम्
पञ्चाननं फणिशशीभतरक्षुचर्म-
भूषं महेशमनिशं शिरसा गिरीशम्।।

भगवान् शिवो गुरुमूर्त्तिः सन् जगदुपकारायानुग्रहं कुर्वन् मन्त्रमूर्तेः रहस्यात्मकतामभिलषन् सर्वोपकारिकामपि पञ्चार्णां मन्त्रतनुं सद्गुरूपदेशबोध्यामभिध्यायति—

जविपूर्वं मरुत्पूर्वं स्मरपूर्वं समन्वितः।
पार्श्वमक्षिसमायुक्तं वरुणस्थं धनुः प्रिये।।
वह्निपूर्वं ततो देवि मन्त्रः साक्षान्मदात्मकः।
सर्वेषामपि शैवानां सर्वसाधारणो मनुः।। (१.३५-३६)

श्रीगुरुलब्धमन्त्रदीक्षाप्रयतः शिवयोगी यत्रोल्लसति, तत्र कैलासं काशी शिवश्च प्रतिवसतीति स्वयमाह भगवान् शिवः—

निमिषं निमिषार्धं वा यत्र स्युः शिवयोगिनः।
तत्कैलासं परं विद्धि तत्र काशी शिवोऽप्यहम्।। (१.५३)

क्षेत्रेषु काशीव, तीर्थेषु मणिकर्णिकेव, सर्वमन्त्रेषु पञ्चाक्षरी मन्त्र इव शैवमतं सर्वोत्तमोत्तममाभाति—

यथैव काशी क्षेत्राणां तीर्थेषु मणिकर्णिका।
मम पञ्चाक्षरीमन्त्रः सर्वमन्त्रेषु वै यथा।। (१.८३)

यथैव सर्वलोकेषु कैलासस्थानमावयोः ।
तथा शैवमतं देवि विद्धि सर्वोत्तमोत्तमम् ।। (१.८४)

न वै शिवयोगी शिवादतिरिच्यते—

ललाटे भस्मना पुण्ड्रं करे रुद्राक्षजापनम् ।
कण्ठे च लिङ्गाभरणं सोऽहं देवि न संशयः ।। (३.९६)

"नमस्ते सप्तजिह्वाय नमस्ते रुद्रमूर्त्तये" इत्यादिना श्लोकपञ्चकेनाग्निप्रार्थनं विधेयमिति प्रतिपादयता शिवेन शिवाशिवतनयत्वमाविष्कृतमग्नौ । तद्यथा—

इति सम्प्रार्थ्य कुण्डस्थमावयोस्तनयं शिवे ।
आवयोरेकरूपेण ध्यायेदग्निमतन्द्रितः ।। (४.६०)

अथ पञ्चमे पटले लिङ्गस्तुतिमधिकृत्य नानाकल्याणगुणशालिनां शिवनाम्नां काचन पङ्क्तिः श्लोकनवकादारभ्य पञ्चदशश्लोकपर्यन्तं श्रीशिवेनोपदिष्टा । फलस्तुतौ तु शिवसायुज्यं पार्यन्तिकं फलमुपदिष्टम् ।

सर्वज्ञता, तृप्तिः, अनादिबोधः, स्वातन्त्र्यम्, नित्यमलुप्तशक्तिः, अनन्तशक्तिश्चेति महेश्वरस्य षडङ्गानि विलसन्तीति प्रसङ्गान्निगदितम्—

सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः ।
अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य ।।
(६.३३)

भक्तेर्वैशिष्ट्यं निगदता शिवेन तस्या मातेव रक्षकत्वम्, पितेव हितकारित्वम्, कामधेनुरिव कल्पवृक्ष इव च कामसवितृता, करस्थोऽमृतग्रास इव चानन्दप्रयोजकताऽऽविष्कृता—

भक्तिर्माता पिता देवि कामधेनुः सुरद्रुमः ।
करस्थममृतग्रासं विद्धि भक्तिं कुलेश्वरि ।। (६.४४)

किं बहुना, भ्रमरकीटन्यायेन शिवभजनवान् शिव एव भवति—

यस्यास्ति निर्मला बुद्धिरधीशे मयि शङ्करे ।
स मामुपैति भ्रमरकीटन्यायेन सुन्दरि ।। (६.५०)

"ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्" इति हि किल तदा प्रतिफलति यदा, सम्यग्ज्ञानी शिवस्यैव परं वपुश्चराचरात्मकमिदं विश्वमिति भावयति—

चराचरात्मकं सर्वं भावयन् परमात्मनः ।
मम रूपं महेशानि सम्यग्ज्ञानी स उच्यते ।। (६.५९)

याः किल षड् ऊर्मयः, तत्र क्षुत्पिपासे प्राणस्य धर्मौ, शोकमोहौ मनसो धर्मौ। जननं मरणं चेति देहस्य धर्मौ। कथमिवात्मा ताभिरूर्मिभिर्बाध्येत नाम, यो हि अरिषड्वर्गेण कामक्रोधादिना नो चेद् वञ्चितः सुज्ञातस्थलषट्कः।

क्षुत्पिपासे महेशानि शोकमोहौ जनिर्मृतिः ।
संसाराब्ध्यूर्मयश्चैता यथाब्धावूर्मयस्तथा ।। (६.६७)
कामः क्रोधश्च लोभश्च मोहश्च मद एव हि ।
मात्सर्यञ्च क्रमेणैतद् वर्गषट्कमुदाहृतम् ।। (६.६८)

अथ षष्ठे पटले ७७तमश्लोकादारभ्य १०३तमश्लोकपर्यन्तं साधनक्रमोल्लास-निरूपणपरा शिवस्तुतिः शिवमयीभावमापादयति शिवयोगिनः—

वरदमृगकुठाराभीतिहस्ताम्बुजाय
स्फुटमुकुटविराजच्चन्द्रमःशेखराय ।
मृदुलविमलदूर्वाश्लिष्टभूभृत्सुताय
प्रणवमय नमः श्रीशङ्करायों नमस्ते ।।
(६.१०३)

महाशैवः किल शयनासनादिकं शिवायार्पयन् शिवार्चनमयजीवनो विजयते—

स स्वपेच्छयनादीनि पूजायै शङ्करेऽर्पयेत् ।
सर्वेन्द्रियनिवृत्तोऽपि शिवमेवार्चयेच्छिवे ।। (६.२०)

शिवस्तुतिमयोऽयं शिवयोगी यदेतन्मैथुनमष्टाङ्गम्—

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृतिरेव च ।। (८.१५)

तद्विदूरे स्थितो भक्तिमयो विभूतिभूषितः शिवोपासकः पञ्चाक्षरं जपन् स्वात्मानं शिवमेव स्तौति। यथोक्तमष्टमपटले ४६ तमश्लोकादारभ्य ५६ तमश्लोकपर्यन्तं "नमः शिवाय गुरवे गुरवे शिवरूपिणे" इत्येवं विशिष्टगुणक्रियानानात्वमाधृत्य विलक्षण-स्वातन्त्र्यमाधारीकृत्य च गुरुमूर्तिं शिवानुग्रहवपुषं निर्धारयता शिवेन शिवां प्रति।

परं सर्वमेतत्तदा भवति, यथा परशिवे आस्थावती निष्ठा तत्कृपयैव विजृम्भते—

नैव रक्षन्ति विषया न भोगा न च बान्धवाः ।
नैव सम्पत्तिदारिद्र्ये निष्ठैका सति शङ्करे ।। (९.६४)

एष शिवयोगी तु जगदम्बया उमया सहितं शिवं चन्द्रशेखरं मन्दस्मितं प्रसन्नवदनाम्भोजं ध्यायतितमाम्—

मन्दस्मितं त्रिनयनमीशानं कृत्तिवाससम् ।
प्रसन्नवदनाम्भोजं सर्वालङ्कारशोभितम् ।। (१०.३६)

शिवयोगध्यानमयः 'शिवोऽहम्' इत्येवं भावनाभरितो विषयवासनानिःस्पृहो भक्तिमान् धीरः 'वीरशैवः' इत्याख्यायते—

योगध्यानद्वये भक्त्या योऽतीतः सर्वनिःस्पृहः ।
शिवोऽहं भावनाधीरो वीरशैव उदाहृतः ।। (१०.५९)

एतस्य मुख्यं कर्म दया भवति । असौ पञ्चाक्षरीसाहाय्येन महेशं ध्यायन् रक्षापेक्षं जनमनुगृह्णाति—

न पुष्पाहरणायासो न तद्द्वारान्यपीडनम् ।
भावेनैव परं कर्म दयैका वीरशैविनः ।। (१० ७५)

ध्यायेन्नित्यं महेशं रजतगिरिनिभं चारुचन्द्रावतंसं
रत्नाकल्पोज्ज्वलाङ्गं परशुमृगवराभीतिहस्तं प्रसन्नम् ।
पद्मासीनं समन्तात् स्तुतममरगणैर्व्याघ्रकृत्तिं वसानं
विश्वाद्यं विश्ववन्द्यं निखिलभयहरं पञ्चवक्त्रं त्रिनेत्रम् ।। (११.६५)

अन्तर्मुखं शिवं केन वा स्तोत्रेण केन वा कर्मणा असौ प्रसादयेत्, अथापि भक्तेषु वात्सल्यं पूजानुमोदनं तत्कथाश्रवणादिषु भक्तिश्चेति शिवयोगिनि अहमहमिकया विलसन्ति—

शिवभक्तेषु वात्सल्यं पूजायां चानुमोदनम् ।
स्वयमभ्यर्चनं चैव तदर्थं चाङ्गचेष्टनम् ।। (१२.२६)

एतस्य शिवयोगिनश्चतुष्पथः शिवधर्मो विभ्राजते—ज्ञानम्, क्रिया, चर्या, योगश्चेति । नासौ जातुचिदपि शिवाद् विमुखो भवति—

अर्चयेदम्बिकानाथं सर्वाङ्गं सर्वहेतुना ।
मम धर्मरतो देवि श्रेयसे चेत्कृतोद्यमः ।। (१२.५५)

अद्भुतं किल यदतेच्छिवनामस्मरणं नाम । नामस्मरणेनैव शिवयोगिनो दिवसा आयान्ति यान्ति च—

शिवः शम्भुः शिवः शम्भुः शिवः शम्भुः शिवः शिवः।
इति व्याहरतो नित्यं दिनान्यायान्तु यान्तु मे।।
(१२.८४-८५)

अथाहुः श्रीगुरवो महामहोपाध्याया आचार्यरामेश्वरझामहानुभावाः सम्पत्तिर्नाम श्रद्धा, या मातेव अनुपालयति, विद्वत्तादिकं को नाम गणयेत् शिवतामपि सहजतया प्रयच्छति—

विहिता शास्त्रगुर्वादौ श्रद्धा मातेव पालिका।
यया विना न कस्यापि कोऽप्यर्थः सिध्यति क्वचित्।।
(पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, २९८)

विद्वत्ता बहुविज्ञता सुकविता व्याख्यातृताऽऽचार्यता
सर्वैश्वर्यमनीहताऽपि शिवता ये सन्ति चान्ये गुणाः।
तान् मन्ये मनुते तृणाय च तृणं त्वत्पादरक्तोत्पला-
मोदास्वादनगाढमत्तहृदयो धन्योऽहमन्योऽपि यः।।
(श्रीक्रमाभिज्ञापना, ३१)

सैषा श्रद्धैव शिवेनापि स्तूयते—

यस्य श्रद्धास्ति देवेशि येन केनापि हेतुना।
तस्य वश्यो ह्यहं देवि योगिनां वीरशैविनाम्।।
(१२.८७-८८)

एवंविधस्य शिवयोगिनो दशविशेषाः क्षमाप्रभृतयः स्वत एव समुल्लसन्ति—

क्षमा शान्तिश्च सन्तोषः सत्यमस्तेयमेव च।
ब्रह्मचर्यं मम ज्ञानं वैराग्यं भस्मसेवनम्।।
सर्वसङ्गनिवृत्तिश्च दशैतानि विशेषतः।। (१२.१०३, २९८)

शिवयोगिन उपास्यः शिवः सर्वदेवतीर्थमयजलधारया प्रीणितः सन् आराधकमहमर्थ-कतान्त्रयति—

सर्वदेवात्मकं तोयं सर्वतीर्थमयं शुभम्।
तेनाभिषिच्य मां भक्त्या को वाहं न भवेच्छिवे।। (१३.५२)
सर्वभावमयभावमण्डलं विश्वशक्तिमयशक्तिबर्हिषि।
जुह्वतोऽस्ति मम कः समः परो विश्वमेधमययज्ञयाजिनः।।

श्रीगुरोः कृपयैकाधिगम्ये करपङ्कजपीठे सर्वदेवमये सर्वक्षेत्रमये च मध्यधाम्नि काश्यां शिवपूजनस्य किमपि विलक्षणं माहात्म्यं वरीवर्त्ति।

सर्वदेवमयं पीठं सर्वक्षेत्रमयं परम्।
करपङ्कजपीठस्य मध्ये काशी सदान्विता।। (१३. ७३-७४)

शिवार्चने लिङ्गस्य सखण्डाखण्डभेदनिर्वचनम्, शिवपात्रे तीर्थावाहनम्, पात्राधार-वर्णनम्, दिङ्निर्देशः, गुरुदेवतयोरैक्यभावनं चात्रैव प्रतिपादितम्।

सर्वदशासु सर्वदोषविनाशकरं सर्वाभ्युदयसाधकं श्रीगुरोः स्मरणं तन्नामस्मरणञ्च स्मृतम्—

मन्त्रमूलं गुरोर्वाक्यं पूजामूलं गुरोः पदम्।
ध्यानमूलं गुरोर्मूत्तिर्मोक्षमूलं गुरोः कृपा।। (१४. ८७)

श्रीरुद्रस्तुतिरियं श्रीदेव्या विहितां किलावधार्यताम्—

सृष्ट्वा तमेकमात्मानमनेकं कुरुते पुनः।
एकीकृत्य ग्रसति यस्तस्मै रुद्र नमोऽस्तु ते।। (१५. १)

सामान्यवीरशैवम्, विशेषवीरशैवम्, निराभारवीरशैवं चेति वीरशैवमतं त्रिधा भिद्यते—

सामान्यं वीरशैवं च विशेषं च ततः परम्।
निराभारं वीरशैवं न ततोऽधिकमीश्वरि।। (१५. ३२)

अनन्तरं षड्विधं लिङ्गं भगवता श्रीशिवेन जगदम्बां प्रति प्रोक्तम्—स्थिरम्, चरम्, स्थिरचरम्, चरस्थिरम्, स्थिरस्थिरम्, चरचरं चेति—

स्थिरं चरं स्थिरचरं चरस्थिरमथाम्बिके।
स्थिरस्थिरं चरचरं षड्विधं लिङ्गलक्षणम्।। (१६. ९)

शैवप्रभेदाः पञ्च—शुद्धशैवम्, मिश्रशैवम्, मार्गशैवम्, वीरशैवम्, अवान्तरशैवञ्चेति-

शुद्धशैवं मिश्रशैवं मार्गशैवं तृतीयकम्।
चतुर्थं वीरशैवं च पञ्चमोऽवान्तरस्तथा।। (१७. ४)

तत्र विरक्तशैवानां दश गुणाः स्मर्यन्ते—क्षमा, शान्तिः, सन्तोषः, सत्यम्, अस्तेयः, ब्रह्मचर्यम्, शिवज्ञानम्, वैराग्यम्, भस्मसेवनम्, सर्वसङ्गनिवृत्तिश्चेति—

क्षमा शान्तिश्च सन्तोषः सत्यमस्तेय एव च।
ब्रह्मचर्यं शिवज्ञानं वैराग्यं भस्मसेवनम्।
सर्वसङ्गनिवृत्तिश्च दशैतानि विशेषतः।। (१७. ३२-३३)

भस्मधारणस्य रुद्राक्षधारणस्य च परमं महत्त्वमत्र वर्णितमस्ति। भक्तेर्मुख्यसाधनता शिवस्वरूपकैवल्यावाप्तये भगवता प्रतिपादिता—

सर्वत्र भक्तिरेकैव भक्तानां मुख्यसाधनम्।
गुरौ मते च शास्त्रे च मत्कैवल्याप्तये शिवे।। (१९. ६१)

एका सूक्तिरतीव निर्मला आभाति, यत्र सुकृतं वा भवेत्, दुष्कृतं वा भवेत्, चतुर्णां समभागिता भवति–कर्तुः, कारयितुः, प्रेरकस्य, अनुमोदकस्य च—

सुकृते दुष्कृते चैव चत्वारः समभागिनः।
कर्त्ता कारयिता चैव प्रेरकश्चानुमोदकः।। (१९. ६७)

अथ प्रलये वटपत्रशायिना कृष्णेन शिवं स्तुवता यो ज्ञानयोगस्वरूपविषयकः प्रश्नः पृष्ट आसीत् तस्यैवाधुना जगन्मङ्गलहेतवे जगदम्बया भगवता शिवेन चोत्तरं विहितम्—

एवमेव पुरा देवि प्रलये दिनसंक्षये।
वटपत्रशयी कृष्णो वेधसा मामपृच्छत।। (२१. १४)

तत्र शिवस्वरूपवर्णनप्रसङ्गे एकविंशे पटले एकोनविंशश्लोकादारभ्य त्रयश्चत्वारिंशत् श्लोकपर्यन्तं प्रतिश्लोकं चिच्छिक्तिभेदः समाश्रितः। तत्रत्य एकैकोऽपि श्लोको भगवतः शिवस्य विलक्षणं स्वरूपं पूर्णतया प्रतिपादितुं शक्तः। यथा—

आदिमध्यान्तरहितादित्यवर्णं तमःपरम्।
सर्वं सन्निधिसंस्थानं सर्वसाक्षिणमीश्वरम्।। (२१. १९)

योऽयं निर्विकल्पः, यश्च जगत्कारणभूतः, यो वा शिवः, या वा शक्तिः, सर्वमेतद् अहमर्थस्वरूपमेव विजृम्भते—

अहमेव वरारोहे निर्विकल्पादिलक्षणः।
भवत्या मम शक्त्यैवं विक्रीडामि यथासुखम्।। (२१. ४९)
शिवोऽहं त्वमुमे शक्तिस्त्वमेवाहमहं त्वमु।
स्त्र्यात्मा त्वं वै पुमात्माहं शिवशक्त्यात्मकं जगत्।। (२१. ५०)

रविचन्द्रवह्निनेत्रैस्त्रितयनेत्रां जगदम्बिकां बिम्बप्रतिबिम्बन्यायेनाध्यासप्रवृत्तिं सम्यक् प्रतिपादयति—

आभासरूपिणो भोक्तुर्न मे साक्षाच्चिदात्मनः।
परिच्छिन्नत्वमायातमायातस्य विकारिता।। (१९. ७८)

सांख्यापेक्षया योगापेक्षया च भक्तेर्गरीयस्त्वं विद्यते। यतो हि सुजनवद्दुर्जनोऽपि ईशभक्त्या भवबन्धनाद् विमुक्तः शिवतत्त्वं साक्षात्कुरुते—

अनाचारोऽपि साचारो वृत्तिः शुद्धापि वा न वा।
सुजनो दुर्जनो वापि मद्भक्त्या पदमुत्तरेत्॥ (२२.५)

अत एव भक्तिमान् जनो गजाननादपि, अम्बिकयाश्चापि प्रियतमो भवति भगवतः शिवस्य—

मत्तस्त्वत्तोऽपि कैलासान्नन्दीशाच्च गजाननात्।
स्कन्दादिकात् ततश्चापि भक्त एव प्रियो मम॥ (२२.१४)

यो भक्त्या जलमपि प्रयच्छति भगवन्तं तद् अक्षय्यं किल भवति—

सुगन्धिशीतलं स्वच्छं वस्त्रपूतं पयो बहु।
चुलुकं वा यथाशक्ति तदक्षय्यं मदर्पितम्॥ (२२.१७)

किं बहुना, यो दृढया भक्त्या भगवन्तमाशुतोषं भजते, स भगवन्तं साक्षात्कृत्य शिवोऽहमिति दृढं भावयन् स्वस्मिन् शिवतामनुभवति—

भक्त्या च दृढया मां च ज्ञात्वा सम्यक् समः शिवे।
शिवोऽहमिति सम्भाव्य शिव एव भवेद् ध्रुवम्॥ (२२.५८)

अतस्तपस्विभ्यो ज्ञानिभ्यः सत्कर्मिभ्यश्च शिवभक्तः श्रेष्ठः सुखी चास्ते—

तपस्विभ्योऽधिको ज्ञानी ज्ञानिभ्यश्च मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्च गिरिजे तन्मद्भक्तः सुखी भवेत्॥ (२२.७४)

अन्ते च जगदम्बा शक्तिः स्वात्मनि निर्दम्भतां प्रकटयति, शिवस्यैवाधीनं सर्वमिति च विनिवेदयति—

प्रकृतेः परतन्त्राया यद्वा स्वातन्त्र्यवर्त्मनः।
जात्याधृतिरियं नेष्टा भवतोऽस्ति प्रयोजनम्॥

तथा च एकस्य साधकस्य सर्वा अपि विडम्बनाः खण्डयितुं सकलकल्याण- भावनां भावयितुं निर्बन्धतां सम्पादयितुं शिवतां चानुभवितुमनुग्रहमूर्त्तेः शिवगुरोर्वचनदीक्षा तदङ्गभूता भस्मरुद्राक्षलिङ्गोपासनापञ्चार्णमनुजपनिष्ठा कस्यापि जनस्य कृतकृत्यतां सम्पादयितुं कल्पत इति शिवाशिवचरणयोः प्रणतिमर्पयन् शिवे गुरौ स्वात्मनि चाभेदमाकलयन् विरमामि—

अभिन्नं वेत्ति यो विद्वान् स्वात्मानं च गुरुं शिवम्।
तं नौमि मुक्तमात्मानं विद्याविद्योभयात्मकम्॥

॥ इति शिवम्॥

उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र : पारमेश्वरागम के सन्दर्भ में

जगन्नाथशास्त्री तैलङ्ग

मानव की जीवनयात्रा का चरम लक्ष्य है दु:खों से मुक्ति, शाश्वत आनन्द तथा अमृतपद-प्राप्ति। उसके लिए उपाय की आवश्यकता होती है। श्रीमद्भगवत्पाद जगदगुरु आदि-शङ्कराचार्य ने एतदर्थ जो चिन्तन-मनन और अनुसन्धान किया, जो उन्होंने पाया कि उपनिषत्साहित्य, श्रीमद्भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्र वे उपाय हैं, जिनका आश्रय लेकर प्रस्थान करने पर चरम लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है। अत: इन तीन ग्रन्थरत्नों को आचार्यचरण ने 'प्रस्थानत्रयी' के नाम से सम्बोधित किया। वे कहते हैं– "आत्मसमाधानाय आत्मसाक्षात्काराय वा प्रस्थीयतेऽनेनेति प्रस्थानमुपदेशोपायो गीतोपनिषद्भाष्यरूप:"। अन्त:करण के आत्यन्तिक समाधान अथवा आत्मसाक्षात्कार करने के लिए जिन उपयों का अवलम्बन किया जाता है, उन्हें 'प्रस्थान' कहते हैं। वे हैं–१. श्रुतिप्रस्थान उपनिषत्साहित्य, २. स्मृतिप्रस्थान श्रीमद्भगवद्गीता और ३. न्यायप्रस्थान ब्रह्मसूत्र।

इनमें प्रथम उपनिषत्-साहित्य 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इस परिभाषा के अनुसार वेदवाङ्मय के अन्तर्गत आता है। अन्तिम दोनों भगवान् वेदव्यास की उक्तियाँ हैं, जिसमें श्रीमद्भगवद्गीता श्रीमहाभारत के भीष्मपर्व का भाग है और ब्रह्मसूत्र स्वतन्त्र रचना है। साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि समष्टि रूप में अवस्थित अखण्ड वैदिक-वाङ्मय को चार वेदों—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद नामों से व्यष्टि रूप से प्रस्तुत करने के कारण ही श्रीकृष्ण द्वैपायन 'वेदव्यास' कहलाये। ऐसी मान्यता है कि आचार्य शङ्कर वेदव्यास के ही अवतार थे, जिन्होंने उक्त 'प्रस्थानत्रयी' पर भाष्यों का प्रणयन कर तथा अनेक कल्याणकारी कार्य कर विश्व का उत्थान किया।

आत्मसाक्षात्कार की यह 'प्रस्थानत्रयी' इतनी लोकप्रिय हुई कि आचार्य शङ्कर के अतिरिक्त वीरशैवदर्शन, रामानुज, रामानन्द, माध्व, वल्लभ, निम्बार्क और गौड आदि विभिन्न वेदान्तदर्शन के अनुयायियों ने अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुसार इस प्रस्थानत्रयी पर भाष्य रचना की। वीरशैव-दर्शन की दृष्टि से भी प्रस्थानत्रयी पर भाष्य रचना की गयी।

इन भाष्यकारों में उभचिगि शङ्करशास्त्री का अग्र-स्थान है। आप शक्तिविशिष्टाद्वैत अथवा वीरशैवदर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् थे। साथ ही साहित्य, व्याकरण, न्याय, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा आदि शास्त्रों पर आपका समान रूप से प्रभुत्व था। माता चन्नाम्बा की कुक्षि से आर्य अय्यप्पा के पुत्ररत्न के रूप में ई. उन्नीसवें शतक के अन्त में अवतीर्ण आप उज्जयिनी सद्धर्म सिंहासन के पीठाधीश्वर जगद्गुरु चरपट्टाध्यक्ष श्रीसिद्धलिङ्गराज देशिकेन्द्र महास्वामी जी के आस्थानपण्डित थे। आप मैसूर नरेश श्रीकृष्ण चामराज के द्वारा 'धर्मरत्न' पदवी से अलंकृत किये गये थे। सन् १९७६ ई. में मैसूर से प्रकाशित वीरशैवभाष्यसहित 'ईशावास्योपनिषद्' के देवनागरी संस्करण में आपके द्वारा प्रणीत ग्रन्थों की विस्तृत तालिका उपलब्ध है।

श्री काशीविश्वाराध्य ज्ञानसिंहासनाधीश्वर जगद्गुरु डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामी जी के आदेश से शैवभारती शोध प्रकाशन संस्थान, जंगमबाड़ी मठ, वाराणसी द्वारा इनके द्वारा **ईशावास्योपनिषद्, केनोपनिषद्, सिद्धान्तशिखोपनिषद्** और **ब्रह्मसूत्र** का वीरशैवभाष्यसहित पुनः प्रकाशन किया जा चुका है और **मुण्डकोपनिषद्** शीघ्र प्रकाश्य है। ब्रह्मश्री शङ्कर शास्त्री जी ने इन ग्रन्थरत्नों की व्याख्या आगमग्रन्थों के सन्दर्भ में की है और यह व्यञ्जित किया है कि वीरशैवदर्शन निगमागमसम्मत दर्शन है। वह वेद-बाह्य न होकर वेदसम्मत है।

पारमेश्वरागम में पार्वती की जिज्ञासाओं का समाधान परमेश्वर तेईस पटलों में करते हैं। कामिक से वातुल तक अट्ठाईस सिद्धान्तागम अथवा शैवागमों में इस आगम का छब्बीसवाँ स्थान है। वीरशैव, अनादिशैव, आदिशैव, अनुशैव, महाशैव, योगशैव और ज्ञानशैव ये सात शैवमत हैं, वीरशैवमत में निराभारी वीरशैव शिवावस्था में सोपान का कार्य करते हैं। शैव और पाशुपात मत में कोई अन्तर नहीं है। संक्षेप में पारमेश्वरागम में सभी आगमिक मतों का उल्लेख हुआ है। ब्रह्मश्री शङ्कर शास्त्री जी ने उपनिषदों की वीरशैवदर्शनसम्मत व्याख्या करते समय श्रुति-स्मृति-पुराण-आगमादि के साथ यत्र-तत्र 'पारमेश्वरागम' के प्रमाणवचन भी उद्धृत किये हैं। इस निबन्ध का उपजीव्य 'पारमेश्वरागम' का वही सन्दर्भ है।

ईशावास्योपनिषद्–इस उपनिषद् का सन्देश है–'ईशावास्यमिदं सर्वम्', यह जगत् ईश (परमेश्वर) से व्याप्त है, शिव और चराचरस्वरूप विश्व का परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है। इसका तृतीय मन्त्र है—

असुर्या नाम ये लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
तांस्ते प्रेत्याऽभिगच्छन्ति ये के चाऽऽत्महनो जनाः ।।

'असुर्यलोक' वे होते हैं, जो गाढ अन्धकार से घिरे होते हैं। मृत्यु के उपरान्त वे इन असुर्यलोकों को प्राप्त करते हैं, जो आत्मघाती होते हैं, यह इस मन्त्र का सामान्य अर्थ है। इस मन्त्र का द्वितीय चरण है–**'अन्धेन तमसाऽऽवृताः'**। इसकी विशिष्ट व्याख्या ब्रह्मश्री शङ्कर शास्त्री इस प्रकार करते हैं–

अन्धेन अदर्शनात्मकेन तमसा 'अज्ञानं बन्धः' इति शिवसूत्रोक्तेन अज्ञानात्मकेन अन्धकारेण, आवृतास्तिरोहितस्वस्वरूपसर्वज्ञत्वादिषडङ्गाः सन्तः। उक्तं च वीरागमे–

सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः।
अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य।।

(पारमेश्वरागम, ६.३३)

सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादिबोध, स्वतन्त्रता, कभी क्षीण न होनेवाली शक्ति और अनन्त असीमित शक्ति ये परमशिव परमात्मा के छः धर्म हैं। जीव और परमेश्वर में कोई भेद नहीं होता। शिवसूत्र कहता है–'अज्ञानं बन्धः', अज्ञान ही बन्धन है। इस पाशबन्धन से बँधा हुआ जीव 'पशु' होता है। वही गाढ़ अन्धकार है। जिसके कारण सर्वज्ञता आदि छः माहेश्वर धर्मों को चितिशक्ति के सङ्कोच से जीव पहचान नहीं पाता। यतः वीरशैव लिङ्गाङ्गसामरस्यप्रक्रिया से शिवस्वरूप का साक्षात्कार करते हैं, अतः वे 'सुर' होते हैं। उनसे भिन्न अज्ञानी 'असुर' होते हैं। अतः अज्ञानरूपी गाढान्धकार से आवृत होकर वे 'असुर्यलोक' प्राप्त करते हैं, वे वस्तुतः 'आत्मघाती' होते हैं। यही इस मन्त्र का तात्पर्य है। माहेश्वर के षड्विध धर्मों का निरूपण करने के लिए शास्त्री जी ने पारमेश्वरागम का पूर्वोक्त प्रमाण-वचन उद्धृत किया है।

केनोपनिषत् का श्रीगणेश इस शान्तिमन्त्र से होता है–

''आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च।
सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्याम्।
मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु।
तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु।।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।''

दीक्षित शिष्य कामना करता है कि 'मेरे त्रिविध शरीर, कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय और प्राणवायु उस चिच्छक्ति को प्राप्त करें, जो निरावरण चिद्रूपा कारणशक्ति है। जिस प्रकार मैं हेय संसार की अवहेलना करता हूँ, उस प्रकार मैं उस लिङ्गस्वरूप ब्रह्म की

अवहेलना नहीं करूँगा, उसे हृदयकमल में धारण करूँगा। वह लिङ्ग-ब्रह्म मुझे अपने पद से पृथक् न करे।' यह इस मन्त्र का सामान्य अर्थ है।

"**तदात्मनि निरते ये उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु**" इस मन्त्रभाग की व्याख्या शास्त्री जी इस प्रकार करते हैं-"तदात्मनि तस्मिन् परब्रह्मणि महेश्वरे ये धर्मा भक्तमाहेश्वररूपसर्वज्ञात्वादिधर्माः कथिताः सन्ति उपनिषत्सु शिवोपनिषत्सु च, तत्र निरते निरन्तरमासक्ते मयि ते धर्माः पूर्वोक्ताः सन्तु।"

अर्थात् उस परब्रह्मस्वरूप महेश्वर शिव में जो भक्त माहेश्वर स्वरूप सर्वज्ञत्व आदि धर्म उपनिषदों और शिवागमों में वर्णित हैं, उस परब्रह्म महेश्वर में नित्य आसक्त मुझमें वे धर्म संक्रान्त हों।

इस व्याख्यान में वे 'सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः' इत्यादि 'पारमेश्वरागम' का प्रमाण वचन उद्धृत करते हुए आगे लिखते हैं-"एषामङ्गानां भक्तादिस्थलरूपत्वं तु—

यद्भक्तस्थलमित्याहुस्तत् सर्वज्ञत्वमुच्यते।
यन्माहेश्वरकं नाम तत्तृप्तिरभिधीयते।।

इत्यादिनोक्तं पारमेश्वरतन्त्रे"।

जङ्गमबाड़ी मठ से प्रकाशित 'पारमेश्वरागम' में इसका उत्तरार्ध भिन्न है, जो इस प्रकार है-"यन्महेश्वरकं नाम सा तृप्तिर्मम शाङ्करि।" (पारमे. ६.३४)

(भक्तस्थल और माहेश्वरस्थल के अनन्तर प्रसादिस्थल, प्राणलिङ्गिस्थल, शरणस्थल और ऐक्यस्थल का विवरण पारमेश्वरागम में इस प्रकार उपलब्ध है—

यत् प्रसादाभिधं स्थानं तद् बोधो मे निरङ्कुशः।
यत् प्राणलिङ्गकं नाम तत्स्वातन्त्र्यमुदाहृतम्।।
यदस्ति शरणज्ञानमलुप्ता शक्तिरुच्यते।
यदैक्यस्थानमूर्ध्वस्थं शक्त्यनन्तेशिता मम।।

(पारमे. ६.३५-३६)

इसका अभिप्राय यह है-"परब्रह्मस्वरूप महेश्वर के छः लिङ्गस्थल हैं- (१) भक्तस्थल, (२) माहेश्वरस्थल, (३) प्रसादिस्थल, (४) प्राणलिङ्गिस्थल, (५) शरणस्थल और (६) ऐक्यस्थल।

सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादिबोध, स्वतन्त्रता, सदा अलुप्तशक्ति और अनन्तशक्ति ये छः माहेश्वर धर्म हैं। जब जीव महेश्वर के षड्विध लिङ्गस्थलों की साधना करता है, तब

वह स्वयं में सर्वज्ञता आदि षड्विध माहेश्वर धर्मों का साक्षात्कार करता है और तद्रूप होकर षड्विध अङ्गस्थलों के रूप में परिणत होता है।

संक्षेप में इसको हम इस प्रकार समझ सकते हैं-(१) भक्तस्थल-सर्वज्ञता, (२) माहेश्वरस्थल-तृप्ति, (३) प्रसादिस्थल-अनादिबोध, (४) प्राणलिङ्गिस्थल-स्वतन्त्रता, (५) शरणस्थल-अतृप्त शक्ति और (६) ऐक्यस्थल-अनन्तशक्ति।

इस शान्तिमन्त्र में महेश्वर शिव का साधक जीव उससे यह कामना करता है कि "मैं साधना करते हुए शिव से अभिन्न बनूँ, मैं क्रमशः महेश्वर के भक्तस्थल आदि लिङ्गस्थलों का साक्षात्कार करूँ और परमशिव में विद्यमान सर्वज्ञता आदि षड्विध धर्मों को आत्मसात् करूँ, षड्विध अङ्गस्थलों में मेरा रूपान्तरण हो और अन्त में नदी-समुद्र न्याय से मैं परमशिव में विलय प्राप्त करूँ।

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा।
वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम्।। (केनो. ४.८)

इस मन्त्र का आशय यह है-"उस ब्रह्मविद्या-प्राप्ति के लिए तपस्या, दम और कर्म आवश्यक हैं। वही प्रतिष्ठा हेतु है। वेद, वेदाङ्ग और सत्यवचन उसके प्रयोजक हैं।" इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए ब्रह्मश्री शङ्कर शास्त्री लिखते हैं-"तस्यै या तवाग्रे विद्यारूपा उपनिषदुक्ता, तस्यै कर्म च—

शिवार्थे देहसंशोषस्तपः कृच्छ्रादिकर्म च।
शिवार्चा कर्म विज्ञेयं बाह्यं यागादि नोच्यते।।

(पारमे. १७.८०-८१)

इत्यादिनोक्तं वीरशैवैरादरणीयमिति ज्ञेयम्, न तु परैरप्युपगतं बहुवित्तव्ययायास-साध्यज्योतिष्टोमयागादिकर्म।

पारमेश्वरागम का उक्त वचन 'सिद्धान्तशिखामणि' (९.२२) में भी उपलब्ध है, उसकी व्याख्या करते हुए, 'तत्त्वप्रदीपिका'कार श्रीमरितोण्टदार्य लिखते हैं-" शिवपूजार्थे सामग्रीसम्पादने शरीरसंशोष एव तपः, कृच्छ्रादिकृच्छ्रचान्द्रायणादिना देहशोषो न तप इति सम्मतम्। शिवार्चा शिवलिङ्गपूजैव कर्मेति विज्ञेयम्। तत्फलस्य शाश्वतत्वात्। बाह्यं यागादि तद्भिन्नबहुवित्तव्ययायाससाध्यज्योतिष्टोमयागादि कर्मेति नोच्यते, तत्फलस्य नश्वरत्वात्" इति।

इसका समग्र आशय यह है कि शास्त्री जी शाङ्करादिसम्मत व्याख्यान से भिन्न मत रखते हैं। जैसा कि इस मन्त्र का शाङ्करभाष्य है-"तपः कायेन्द्रियमनसां

समाधानम्..., कर्म अग्निहोत्रादि।'' इसका 'वाक्यभाष्य' इस प्रकार है-''तपो ब्रह्मचर्यादि, ...कर्म अग्निहोत्रादि''।

''केनोपनिषद् में जिस ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन किया गया है, उसके लिए वीर माहेश्वरों तप, कर्म, जप (रुद्रादि का अभ्यास) और शिवध्यान ये पाँच यज्ञ प्रतिपादित हैं, जिनमें 'तप' प्रधान है। यहाँ 'तप' का अर्थ है परब्रह्मस्वरूप शिव को प्राप्त करने के लिए अपने शरीर को दुर्बल करना। कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि व्रतानुष्ठान द्वारा शरीर शोषण 'तप' नहीं है। शिवपूजन ही 'कर्म' नाम से पाँच यज्ञों में द्वितीय परिभाषित और परिगणित है, क्योंकि उसी का फल शाश्वत है। उससे भिन्न अत्यन्त खर्चीला और परिश्रमसाध्य ज्योतिष्टोम याग अथवा शाङ्करसम्मत अग्निहोत्र आदि 'कर्म' में परिगणित नहीं है, क्योंकि उनका फल नश्वर है''। ब्रह्मश्री शङ्करशास्त्री जी का आशय यही है और इस सन्दर्भ में वे 'पारमेश्वरागम' का उक्त वचन उद्धृत करते हैं। मुण्डकोपनिषद् के प्रारम्भ में—

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाऽक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः।।

यह शान्ति मन्त्र जिसका सामान्य अर्थ इस प्रकार है-''देवताओं! हम कानों से मङ्गल सुनें, आँखों से मङ्गल देखें, क्योंकि हमलोग यज्ञ-यागादि अनुष्ठान करते हैं। दृढ हस्तपाद आदि अवयवों द्वारा और मनुष्य योनि में प्राप्त शरीर द्वारा देवताओं द्वारा उनके हित में निर्धारित आयुर्मर्यादा का उपभोग करें''। किन्तु इस अर्थ से ब्रह्मश्री शङ्कर शास्त्री सहमत नहीं हैं। ''वे उसका अर्थ इस प्रकार करते हैं-'हे इन्द्रियाभिमानी देवों! हम अपने कानों से 'सर्वमङ्गलास्पद शिव, अर्थात् उससे अभिन्न 'नमः शिवाय' यह पञ्चाक्षर मन्त्र सुनें। शिव के इष्टलिङ्ग का दर्शन करें''। आगे वे व्याख्या करते हैं- ''स्थिरैः नित्यैः, अङ्गैः सर्वज्ञत्वादिषडङ्गैः सह वर्तमानम्; 'सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः' (पारमे. ६.३३) इत्याद्यागमोक्तैः। उक्तञ्च तेषां नित्यत्वम् ऋग्वेदे-''स्थिरेभिरङ्गैः पुरुरूप उग्रः'' (ऋ. २.२.१७) इति। तस्मान्नात्र स्थिरत्वविशिष्टाङ्गशब्दस्योपासककरचरणाद्यवयवपरत्वं पराभिमतं वक्तव्यम्। भद्रम् इष्टलिङ्गरूपं शिवम्, यजत्राः धारयकाः, 'यज् देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु' इति यज् धातोः सङ्गतिकरणरूपधारणार्थकत्वात्।'' इति।

इसका तात्पर्य यह है कि इष्टलिङ्ग के रूप में अवस्थित परमशिव को अपने वक्षःस्थल पर धारण करते हुए, जो (इष्टलिङ्ग) नित्य सर्वज्ञत्व आदि महेश्वर के छः अङ्गस्थलों से अभिन्न हैं, अपना निर्धारित जीवन-यापन करें। इसमें वे 'सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः' इत्यादि पारमेश्वरागम के वचन को उद्धृत करते हैं।

इस वचन का शास्त्री जी को पुनः स्मरण, 'यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः' (१.१.९) इस मन्त्र की व्याख्या के अवसर पर होता है। 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इसका शाङ्करभाष्य इस प्रकार है–"य उक्तलक्षणोऽक्षराख्यः सर्वज्ञः सामान्येन सर्वं जानातीति सर्वज्ञः, विशेषेण सर्वं वेत्तीति सर्ववित्" इति।

इसका आशय यह है कि "जो अक्षर ब्रह्म सामान्य रूप से सब जानता है, वह 'सर्वज्ञ' है। जो विशेष रूप से सब जानता है, वह 'सर्ववित्' है"। आनन्दगिरि इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं–"समष्टिरूपेण मायारूपेणोपाधिना सर्वज्ञः, व्यष्टिरूपेण अविद्याख्येनोपाधिना अनन्तजीवभावमापन्नः सर्ववित्"। अक्षरब्रह्म सृष्टि के पूर्व निरुपाधिक (उपाधियुक्त) हो जाता है। सृष्टि के प्रथम क्षण में वह समष्टि रूप से माया नामक उपाधि से युक्त होता है, उस समय उसे 'सर्वज्ञ' कहते हैं। उसके अनन्तरवर्ती क्षणों में माया का व्यष्टिरूप प्रकट होता है, जिसे 'अविद्या' कहते हैं। 'अविद्या' के कारण अक्षर ब्रह्म अनन्त जीवों के रूप में व्यक्त होता है, जिसे 'सर्ववित्' कहते हैं।

'यस्य ज्ञानमयं तपः'–इसका शाङ्करभाष्य इस प्रकार है–"यस्य ज्ञानमयं ज्ञानविदारमेव सार्वज्ञलक्षणं तपो नाऽऽयासलक्षणम्"। जिस अक्षरब्रह्म की सर्वज्ञता ही उसका 'तप' ही, कठिन श्रमजन्य 'तप' तप की कोटि में नहीं है, यही इसका आशय है।

ब्रह्मश्री शङ्करशास्त्री जी की व्याख्या इससे भिन्न है, जो इस प्रकार है–"यः सर्वज्ञः परशिवः, 'कृशानुरेताः सर्वज्ञो धूर्जटिर्नीललोहित इति कोशावगतरूढ्या सर्वज्ञशब्दस्य शिव एव प्रसिद्धत्वात्। सर्ववित् सर्वं विश्वं वेत्तीति सर्ववित्। सर्वस्व-सामानाधिकरण्येन सर्वस्वावच्छेदेन सर्वज्ञानाद्यङ्गः। न हि निरतिशयसर्वज्ञत्वं शिवातिरिक्त-विष्ण्वादिदेवेषु सम्भवति। ...सर्वविद् इत्येतद्विशेषणम्, सर्वज्ञपदस्य विशेष्यमन्त्रपरत्वात्, विशिष्टबाधकसर्वज्ञपदस्य पृथग् विशेषणसमवधानात्। ...सर्ववित्पदं च तृप्त्याद्यङ्गपञ्चको-पलक्षणम्। उक्तं च पारमेश्वरागमे–"सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः' (६.३३) इत्यादि। ...यस्य सर्वज्ञत्वाद्यङ्गस्य ज्ञानमयं सृज्यमानसर्वज्ञानरूपप्रथमाङ्गमेव तपः"।

ब्रह्मश्री शङ्करशास्त्री 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इसमें सर्वज्ञ पद को विशेष्य और 'सर्ववित्' पद को विशेषण मानते हैं। वे कहते हैं कि 'सर्वज्ञ' पद का परमशिव अर्थ रूढ, कोशप्रसिद्ध है। 'सर्ववित्' उसका विशेषण है, जिसका अर्थ है 'तृप्ति; अनादिबोध, स्वतन्त्रता, नित्य अलुप्तशक्ति और नित्य अनन्तशक्ति इन पाँच अङ्गों से सम्पन्न समस्त विश्व का ज्ञाता।' जो सर्वज्ञता आदि षड्विध माहेश्वर धर्मसम्पन्न है, उसका सर्वज्ञतारूप प्रथम अङ्ग ही उसका तप है। ये षड्विध धर्म परमशिव के ही हो सकते हैं, विष्णु आदि अन्य देवताओं के नहीं।"

महर्षि शौनक द्वारा ब्रह्मजिज्ञासा करने पर महर्षि अङ्गिरा ने ब्रह्मविद्या का द्विविध निरूपण किया–परा और अपरा। इनमें अपरा विद्या वेद-वेदाङ्ग-विद्या है। परा का निरूपण इस प्रकार है–'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते'' (मुण्डक. १.१.५)

इसकी व्याख्या शास्त्री जी इस प्रकार करते हैं–''अथ अनन्तरं यया विद्यया महामनुरूपया, तद् अक्षरम्, अत्र तच्छब्द: 'यद्ब्रह्मविद:' (१.१.४) इत्यत्र पूर्वोक्त-यच्छाब्दार्थबोधक:। अक्षरं परशिवलिङ्गम्...अधिगम्यते प्राप्यते मा परा विद्येत्यर्थ:''।

इसका तात्पर्य यह है कि ''जिस अक्षर ब्रह्म का निरूपण ब्रह्मवेत्ता करते हैं, वह अक्षर ब्रह्म जिस विद्या से जाना जाता है, वह प्रणवसहित पञ्चाक्षरी मन्त्रमहाविद्या परा विद्या है। वह पराविद्या कारणस्वरूपा है और अपरा वेदविद्या कार्यस्वरूपा है''। ब्रह्मश्री शङ्कर शास्त्री स्पष्ट घोषणा करते हैं–''प्रणवसाहित्यपञ्चाक्षरविद्यैव कारणरूपा परा विद्येति निश्चीयेत'' इसमें वे अनेक श्रुति-स्मृति-आगमों के प्रमाण वचन उद्धृत करते हैं—

तद् बीजं सर्वविद्यानां मन्त्रमाद्यं षडक्षरम्।
अतिसूक्ष्मं महार्थं च ज्ञेयं तद् वटबीजवत्।। (पारमे. ११.१०)

अर्थात् 'ॐ नम: शिवाय' यह छ: अक्षरों का महामन्त्र सभी विद्याओं का बीजस्वरूप है। अर्थात् सभी विद्याएँ इस षडक्षरी मन्त्र से ही जन्म लेती हैं। इस मन्त्र को उस वट-बीज के समान समझना चाहिये, जो अतिसूक्ष्म होते हुए भी महाफल देनेवाला होता है।

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात् तपसो वाऽप्यलिङ्गात्।
(मु. उ. ३.२.४)

इस मन्त्रभाग में 'नायमात्मा अलिङ्गाद् वा लभ्य:' इस अंश की व्याख्या शास्त्री जी इस प्रकार करते हैं–''अयमात्मा प्रकृत: परमात्मा शिव:....अलिङ्गाद् वा–अविद्यमानं लिङ्गं यस्य सोऽलिङ्गस्तस्मादलिङ्गिनोऽवीरशैवात् न लभ्य:, किन्तु लिङ्गिनो वीरशैवाल्लभ्य इत्यर्थ:, धृतेष्टलिङ्गस्य वीरशैवासाधारणलक्षणत्वात्। 'अन्यत्र नास्ति मल्लिङ्गधारणं मतवर्तिषु' इत्याद्यागमोक्ते:।''

यहाँ आगम का तात्पर्य 'पारमेश्वरागम' से है। वे सम्पूर्ण प्रमाणवचन वहाँ इस प्रकार हैं—

अन्यत्र नास्ति मल्लिङ्गधारणं मतवर्त्तिषु।
शैवस्थ एव कुर्वीत लिङ्गधारणमीश्वरि!।।

मतान्तरस्थो यो मूढः कुर्यान्मल्लिङ्गधारणम् ।
स जीवन्नेव चाण्डालो मृतो नरकमश्नुते ।।
यो विना गुरुकारुण्यमिच्छया लिङ्गधारणम् ।
स जीवन्नेव चाण्डालो मृतो नरकमश्नुते ।।

(पारमे. १.७१-७३)

सम्पूर्ण सन्दर्भ का वीरशैवदर्शनसम्मत आशय यह है –"परमेश्वर शिव की प्राप्ति वीरशैव से भिन्न व्यक्ति नहीं कर सकता, क्योंकि वह लिङ्गधारण नहीं करता। जो लिङ्गधारण करता है, वह वीरशैव ही लिङ्गाङ्गसामरस्यप्रक्रिया से परमशिव का साक्षात्कार कर शिवस्वरूप हो जाता है। अन्य मतावलम्बियों के लिए लिङ्गधारण का विधान नहीं है। जो अन्य मतानुयायी बिना गुरुकृपा के स्वेच्छा से लिङ्गधारण करता है, वह जीवितावस्था में चाण्डालतुल्य होता है और देहान्त के बाद नरक में जाता है। 'अन्यत्र नास्ति' से लेकर 'मृतो नरकमश्नुते' तक 'पारमेश्वरागम' के प्रमाण वचन इसका समर्थन करते हैं।

लिङ्गधारण करना वीरशैवी का महाव्रत है और उसका अङ्ग है भस्मधारण, जैसा कि 'सिद्धान्तशिखोपनिषद्' का प्रमाणवचन है—

स्नानं कृत्वा शिवतीर्थेऽथ देहं
सर्वं भस्मोद्धूलनात् पावयित्वा । त्रिपुण्ड्रं धार्यम्।।१६।।

अर्थात् गङ्गा आदि शिवतीर्थ में प्रथम स्नान करना चाहिए, फिर समस्त शरीर को भस्मोद्धूलन से पवित्र करना चाहिए और भस्म का त्रिपुण्ड्रधारण करना चाहिए। 'पारमेश्वरागम' में भस्मधारणविधि इस प्रकार वर्णित है—

सकलीकृत्य तद् भस्म शिवपञ्चाक्षरं जपेत् ।
अग्निरित्यादिकैर्मन्त्रैः षड्भिराथर्वणोदितैः ।।
क्रमात् प्रमृज्य चाङ्गानि मूर्धादिचरणावधि ।
ततः पूर्वक्रमेणैव समुद्धृत्य च भस्मना ।।
सर्वाङ्गोद्धूलनं कुर्यात् प्रणवेन शिवेन वा ।
ततस्त्रिपुण्ड्रं देवेशि रचयेन्मूलमन्त्रतः ।।

(पारमे. १७.५२-५४)

इस वचन का अर्थ इस प्रकार है–सर्वप्रथम हाथ में भस्म लेकर शिवपञ्चाक्षर मन्त्र का जप करना चाहिए। (अर्थात् उससे उसे अभिमन्त्रित करना चाहिये) अनन्तर

भस्मधारण करना चाहिए। उसकी तीन विधियाँ हैं–भस्मस्नान या भस्मलेपन, भस्मोद्धूलन और त्रिपुण्ड्रधारण। प्रथम–''अग्निरिति भस्म, वायुरिति भस्म, जलमिति भस्म, स्थलमिति भस्म, व्योम इति भस्म, सर्व वा इदं भस्म'' आथर्वणशाखीय 'भस्मजाबालोपनिषद्' के इन छः मन्त्रों से मस्तक से चरण तक भस्मस्नान अथवा भस्मलेपन करना चाहिए। इसी क्रम से चुटकी के सहारे मस्तक से चरण तक सर्वाङ्ग में प्रणवोच्चारणपूर्वक अथवा शिवमन्त्र से भस्मोद्धूलन करना चाहिए। अनन्तर मूल मन्त्र से त्रिपुण्ड्रधारण करना चाहिए। 'त्रिपुण्ड्र' का अर्थ है तीन पुण्ड्र–तीन रेखाएँ, जिन्हें यथाक्रम ऊर्ध्वपुण्ड्र, मध्यपुण्ड्र और अधःपुण्ड्र कहते हैं। 'भस्म त्रिपुण्ड्र' को 'त्रियायुष' भी कहते हैं। इनमें ऊर्ध्वपुण्ड्र सामवेद का, मध्यपुण्ड्र यजुर्वेद का, और अधःपुण्ड्र ऋग्वेद का प्रतीक है। इसका प्रमाण वचन इस प्रकार है—

ऊर्ध्वपुण्ड्रं भवेत् साम मध्यपुण्ड्रं यजूंषि च।
अधःपुण्ड्रं ऋचः साक्षात् तस्मात् पुण्ड्रं त्रियायुषम्।।

(चन्द्रज्ञाना. ६.५८)

भस्मधारण के स्थान 'सिद्धान्तशिखोपनिषद्' में इस प्रकार वर्णित हैं—

स्थानं त्रिपुण्ड्रस्य शिरोललाट-
वक्षःस्थल-मणिबन्धेषु कूर्परे।
नाभिप्रदेशे पार्श्वयोर्गण्डप्रदेशो-
रुप्रदेशे गुल्फयोश्च क्रमात् स्यात्।।१८।।

त्रिपुण्ड्रधारण के स्थान हैं–मस्तक, ललाट, वक्षस्थल, स्कन्धयुगल, दोनों कलाइयाँ, कूर्पर, नाभि, दोनों बगल, दोनों कपोल, दोनों जङ्घायें और दोनों गुल्फ।

'भस्म' शब्द का निर्वचन 'सिद्धान्तशिखोपनिषद्' इस प्रकार करती है—

भर्त्सनात् पातकौघगिरेर्भस्मेत्याहुः। सत्यमेतत्।।१७।।

समस्त पातकसमूहस्वरूप पर्वत की भर्त्सना करने के कारण पञ्चविध भस्म को 'भस्म' कहा जाता है। इस सम्बन्ध में 'पारमेश्वरागम' कहता है—

भसनाद् भसितं प्रोक्तं भस्म कल्मषभक्षणात्।
भूतिर्भूतिकरी यस्माद् रक्षा रक्षाकरी यतः।। (१७.६०-६१)

अतः यह भक्त व्यक्ति को तेजस्वी बनाती है, पापभक्षण करती है, ऐश्वर्य प्रदान करती है और रक्षा करती है, अतः इसके यथाक्रम भसित, भस्म, भूति और रक्षा नाम

सार्थक हैं। इसको 'क्षार' भी कहते हैं, जिसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है–"क्षारणात् क्षारमापदाम्' (पि. शि. ७.४-६)। आपत्तियों की क्षारण (नाश) क्षमता होने के कारण इसे 'क्षार' भी कहते हैं।

सटरायपतन हालु स्वामिमणध्यक्ष श्रीसदाशिव शिवाचार्य द्वारा विरचित 'कैवल्योपनिषद्' भाष्य में 'अणोरणीयानहमेव तद्वत् महान्' (१.२.२०) इस मन्त्रभाग का वीरशैवदर्शनसम्मत व्याख्यान इस प्रकार किया गया है–'अहमेव शिवयोगात्परः शिवोपासकोऽहमेव किञ्चिज्ज्ञत्वादिधर्मत्वाद् जीवसाक्षितया भासमानसर्वज्ञत्वाद्यसाधारणः शिव एव गुरूपदिष्टलिङ्गरूपपरमात्मेत्यर्थः। 'सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः' (पारमे. ५.३३) इत्यादिशिवागमोक्तेः अणोः सूक्ष्मात्, अणीयान् सूक्ष्मतरः, तद्वत्, तथैव, महान् महतो महीयानित्यर्थः। महद्वस्तुनोऽप्यतिमहानिति यावत्"।

इस वेदमन्त्र में उपास्य शिव और उपासक वीरशैव दोनों की एकता का प्रदर्शन है। सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादिबोध, स्वतन्त्रता, नित्य अलुप्तशक्ति और अनन्त शक्ति ये षड्विध परमेश्वर शिव के धर्म हैं। जबकि किञ्चित्कर्तृत्व (कला), किञ्चिज्ज्ञत्व (अविद्या), अपूर्णत्व (राग), अनित्यत्व (काल) और अव्यापकत्व (नियति)–संसारी जीव के ये पाँच 'पाश' या पाँच 'कञ्चुक' हैं। परशिव की इच्छाशक्ति के संकोच से जीव विभुत्व का विस्मरण कर अपूर्णता का अनुभव करता है। स्वयं को 'अणु' समझता है, यही जीव का **'आणव मल'** है।

परशिव की ज्ञानशक्ति के संकोच से जीव अपनी सर्वज्ञता का विस्मरण करता है और किञ्चिज्ज्ञता का अनुभव करता है। इस आवरण से वह स्वयं को परशिव से भिन्न समझकर शरीर-इन्द्रिय-बुद्धि आदि में 'अहं' की भावना करता है और घर, पत्नी, पति, पुत्र आदि में उसकी 'ममता' जगती है। यह उसका **'मायीय मल'** है। परशिव की क्रियाशक्ति संकोच से जीव सर्वकार्यकर्ता को भूल जाता है और किञ्चित्कार्यता का अनुभव करता है। यह उसका **'कार्म मल'** है, जो जीव में शुभ-अशुभ वासनाओं के रूप में रहता है। ये अज्ञानस्वरूप त्रिविध मल जीव के तीन 'पाश' हैं, जिसके बन्धन में पड़कर वह 'पशु' कहलाता है, जिसका एकमात्र पति 'पशुपति' परमशिव होता है।

जब वेधा-दीक्षा, क्रिया-दीक्षा एवं मन्त्र-दीक्षा द्वारा अधिकारी गुरु वीरशैव शिष्य को दीक्षित करता है, तब वह लिङ्गधारणपूर्वक शिवोपासना में तत्पर होता है। शिवार्चन में तत्पर वह जीव शिव से इस प्रकार तादात्म्य स्थापित करता है, जिससे वह किञ्चिज्ज्ञत्व आदि जीव के सामान्य धर्मों को भूल जाता है और परमशिव में विद्यमान सर्वज्ञता आदि षड्विध धर्मों का स्वयं में साक्षात्कार करता है। उसकी चिन्त्यशक्ति

विस्तार पाती है और वह फिर परमशिवस्वरूप हो जाता है। तब वह यह अनुभव करता है—

अणोरणीयानहमेव तद्वद् महानहं विश्वमहं विचित्रम्।
पुरातनोऽहं पुरुषोऽहमीशो हिरण्मयोऽहं शिवरूपमस्मि।।

(१.२.२०)

बादरायण के ब्रह्मसूत्र में भी इस विषय की पुष्टि होती है। ब्रह्मश्री शङ्कर शास्त्री जी 'संस्कारपरामर्श' इत्यादि सूत्र की व्याख्या के सन्दर्भ में 'पारमेश्वरागम' के वचन प्रमाणस्वरूप उद्धृत कर इस विषय को उठाते हैं। उनकी व्याख्या का आवश्यक अंश इस प्रकार है—

"ननु शूद्रस्य 'तत्त्वमस्या'दिमहावाक्यजन्यब्रह्मविद्यावामनाधिकारे तस्य मोक्षः कथं स्यादित्यत्राह—

संस्कारपरामर्शात् तदभिलापाच्च। (ब्र. सू. १.३. ३५)

(संस्कारस्य)–'पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते' इत्यादिषु शिवदीक्षासंस्कारस्य परामर्शात्। परामर्शो नाम शिवदीक्षेति वायवीये कृष्णोपमन्युसंवादपरिशीलनेन ज्ञायते।......मोक्षमार्गभूतब्रह्मविद्यायां मनुष्यमात्राधिकारित्वज्ञापने। ....शिवसंस्कारस्य भक्तमात्राधिकारित्वमुक्तम्।...

"भक्तिमात्रपवित्रा हि सर्व एवाऽधिकारिणः" इत्यन्यत्रोक्तत्वाच्च। (पारमे. १.६२)

न च स्त्रीशूद्रादीनां शिवसंस्कारानर्हत्वेऽपि 'स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्' इत्यादिना वेदाध्ययनस्यैव निषिद्धत्वे वेदार्थविचारानर्हत्वात् कथं ब्रह्मविद्यायामधिकार इति वाच्यम्, **'तदभिलापाच्च'**–तेषां शूद्रादीनां धर्माणामभावस्याभिलापात् कथनाद् इत्यर्थः। अभिलप्यते च लिङ्गोपनिषदि शिवसंस्कारसंस्कृतानां शूद्रत्वाद्यभावः। तथा–

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा ये चान्त्यजातयः।
लिङ्गधारणमात्रेण शिवा एव न संशयः।। (पारमे. १.५८)

"न तत्र जातिभेदोऽस्ति" (१९.४३) इति पारमेश्वरागमप्रामाण्यात्।

इसका आशय इस प्रकार है–अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों के अधिकारी शूद्र नहीं हैं, अतः उन्हें मोक्ष-प्राप्ति कैसे होगी ? इस प्रश्न का समाधान महर्षि बादरायण ने इस ब्रह्मसूत्र में किया है–'संस्कारस्य परामर्शात्

तदभावाभिलापाच्च' (ब्र. सू. १.३.३५)। इस सूत्र में 'संस्कार' शब्द का अर्थ है शिवदीक्षा-संस्कार। 'पवित्रं' ते वितत 'ब्रह्मणस्पते' इत्यादि वैदिक मन्त्रों में उसका विचार किया गया है। वायवीयसंहिता के श्रीकृष्ण-उपमन्यु-संवाद का परिशीलन करने पर यह ज्ञात होता है कि 'संस्कार' शब्द का अर्थ शिवदीक्षा-संस्कार है। जो ब्रह्मविद्या मोक्षमार्ग की ओर ले जाती हैं, उसमें मनुष्यमात्र का अधिकार होता है, शिवदीक्षा-संस्कार के अधिकारी मानवमात्र हैं, जैसा कि 'पारमेश्वरागम' का वचन है– **''भक्तिमात्रपवित्रा हि सर्व एवाधिकारिणः''** (पारमे. १.६२) सभी अधिकारी भक्तिमात्र से पवित्र होते हैं। वेदाध्ययन का अधिकार न होने पर भी, स्त्री-शूद्र भी उसके अधिकारी होते हैं, इसको 'तदभिलषणाच्च' यह सूत्रांश स्पष्ट करता है। इसका अर्थ है–उपनिषदों में यह प्रतिपादन किया गया है कि जो शिवदीक्षासंस्कार से संस्कृत होते हैं, वे शिवस्वरूप होते हैं, उनमें शूद्रत्व आदि जातिधर्म नहीं रहते। लिङ्गोपनिषद्, बृहज्जाबालोपनिषद् इत्यादि के वचन इसमें प्रमाण हैं। 'पारमेश्वरागम' की घोषणा है–

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा ये चान्त्यजातयः।
लिङ्गधारणमात्रेण शिवा एव न संशयः।।

(पारमे. १.५८)

अर्थात् वीरशैवधर्म के जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अन्त्यज लिङ्गधारण करते हैं, वे शिवदीक्षासंस्कारदीक्षित होने के कारण शिवस्वरूप हो जाते हैं, इसमें कोई संशय नहीं। **''न तत्र जातिभेदोऽस्ति''** (१९.४३) उनमें किसी प्रकार का जातिभेद नहीं रहता।

उपसंहार

इस प्रकार ब्रह्मश्री शङ्कर शास्त्री जी ने उपनिषदों एवं ब्रह्मसूत्र का वीरशैव-भाष्य इसलिए किया है, जिससे यह सिद्ध हो कि वीरशैवधर्म निगम (वेद) सम्मत भी हैं और तन्त्रागम-सम्मत भी। वे वेदबाह्य कदापि नही हैं। इस दृष्टि से श्वेताश्वरतर उपनिषद्, महानारायण उपनिषद् आदि के वीरशैवभाष्य भी मननीय है।



शिवतत्त्वविमर्शः

प्रो. रामकिशोरत्रिपाठी

यमाश्रिता शक्तिरमुं प्रपञ्चं
तनोति सर्गस्थितिनाशहेतुः ।
ध्यायन्ति यं योगरता मुनीन्द्रा-
स्तं नौमि तत्त्वं शिवमप्रमेयम् ।।

गच्छतीति जगत् । सततं गतिमापन्ने प्रवाहनित्यतया ध्रुवे सत्यानन्तमिथुनीकृतलोकव्यवहारे दर्शनानि हि कर्तव्याकर्तव्यविवेकज्ञानेन तत्त्वनिश्चयेन चोपकुर्वन्ति मानवान् । तदर्थमेव तेषामुद्भवः । दर्शनानि खलु तथ्यातथ्यविवेचनपुरःसरं तत्त्वबोधं प्रति नयन्ति पुरुषान् । तेषु कानिचिद् वेदप्रमाणभूतानि परलोकसत्ताप्रतिपादकत्वाच्च 'आस्तिकानि' इत्युच्यन्ते । परलोकोऽस्तीति मतिर्यस्येति विग्रहे अस्ति इत्यव्ययात् "अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः"[१] इति सूत्रेण ठक्प्रत्यये सति आस्तिकशब्दनिष्पत्तेः । एवमेव परलोको नास्तीति मतिरिति विग्रहे 'नास्तिक'शब्दो निष्पद्यते, आस्तिकानि तावत् न्याय- वैशेषिक-पूर्वमीमांसोत्तरमीमांसा-सांख्य-योगादीनि । नास्तिकानि च चार्वाक-जैन-बौद्धप्रभृतीनि । एतानि सर्वाण्यपि स्वस्वसिद्धान्तदिशा जगदुद्भवव्ययादिविकारं प्रतिपादयन्ति मूलतत्त्वं प्रतिबोधयन्ति ।

एतेभ्यः पृथक् प्रवृत्तानि शम्भुगिरिजासंवादभूतानि शैवदर्शनानि । शिवशक्त्योरनादितया तयोः संवादस्यानादित्वम्, संवादस्यानादित्वे तन्मूलकदर्शनशास्त्राणामनादित्वं स्वतःसिद्धम् । श्रुतिपरम्परातो लब्धानि स्वसजातीयोच्चारणसापेक्षोच्चारणविषयत्वेना पौरुषेयवाक्यानि पार्थक्येन वेदरूपाणि, अतश्चागमपदवाच्यानि । शिवस्य पञ्चमुखेभ्यो निर्गतानि पाशः पशुः पतिरित्यादिपदार्थत्रयप्रतिपादकान्यष्टाविंशत्यागमशास्त्राणि संस्कृत-वाङ्मये प्रसिद्धानि । जीवानां जन्ममृत्युरूपबन्धप्रवर्तकत्वादज्ञानमेव पाशः । तेन बद्धा आब्रह्मस्थावरान्ताः समेऽपि प्राणिनः । विहिताविहितकर्मफलमेव बन्धभूतत्वात् पाशः, तेनानुबद्धा जीवा महादेवस्य पशवः । तथा चोक्तम्—

---

१. पा. सू. ४.४.६ ।

ब्रह्माद्याः स्थावरान्ताश्च देवदेवस्य शूलिनः।
पशवः परिकीर्त्यन्ते संसारपरिवर्त्तिनः[१] ।। इति।

अज्ञानजन्यपाशरूपसंसारबन्धच्छेदकोऽपि शिव एव।

तस्मात् पशुपतिं मां तु ज्ञात्वा लिङ्गार्चकः शिवे।
छित्वा पाशानविद्योत्थान् परं निर्वाणमृच्छति[२] ।।

पतिस्तु सर्वतन्त्रस्वतन्त्रः सर्वनियन्ता शिवः। तदधीनैव शक्तिः सूयते सचराचरम्।

सच्चिदानन्दरूपोऽसौ सर्वशक्तिसमन्वितः।
शिवः पतिस्त्रिलोकस्य जीवः कर्मवशः सदा।।
कर्मफलान्वितः पाशो जन्तूनां बन्धकारणम्।
मुच्यन्ते शिवसङ्कल्पात्तस्मात्पतीति कथ्यते।।

शिवांशभूतत्वाज्जीवः सर्वतन्त्रस्वतन्त्रोऽपि कर्मफलवशीभूतो जनिजरामृत्यादिकं भजते। स च पाशरूपः संसारबन्धः शिवकृपया नाशमुपगच्छति। तथा चोक्तम्—

न दृश्यमातिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
मनीषिणो ये मनसाभिक्लृप्त-
मेनं विदुस्ते ह्यमृता भवन्ति[३] ।।

स च शिवेऽवेद्यत्वे सत्यपरोक्षविषयत्वात् स्वतः स्वप्रकाशोऽपि। न क्षीयते क्षरति, वाऽक्षरमक्षराणामकारोऽस्मीति गीताप्रतिपाद्याऽकारपदवाच्यः शिव एव। तदुक्तम्—

"अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमः शिवः"[४] । इति।

विश्वस्य भरणाद् वमनात् सृष्टिस्थितिसंहारकारी भैरवः परमः शिवः। भैरवो भयङ्करः सर्वनियन्तोच्यते।

विश्वतो भरितत्वेन विकल्पानां विभेदिनाम्।
अलं कवलनेनापीत्यन्वथादिव भैरवः[५] ।।

---

१. पारमेश्वरागमे, १२.६०। २. तत्रैव, १२. ६१।
३. तत्रैव, २१.२८। ४. सङ्केतपद्धतौ।
५. योगिनीहृदयस्य दीपिकायाम्।

त्रयस्त्रिंशत्कोटिदेवेषु परमश्रेष्ठभूतत्वाद् देवाधिदेवमहादेवपदवाच्यः शिव एव। तत्र देवानां क्रमशः श्रेष्ठत्वमुक्तम्, तत्र प्रथमश्रेष्ठोऽग्निदेवः, तस्माच्च ब्रह्मा, ततः श्रेष्ठो विष्णुः, तस्यापि कारणभूतत्वादनादित्वाच्च सर्वश्रेष्ठतमः शिवः। तदुक्तम्—

यथा सर्वेषु देवेषु ह्यधिको मेघवाहनः।
तस्यासीदधिको ब्रह्मा स तस्मादधिको हरिः॥
विष्ण्वादीनां च सर्वेषामधिकोऽहं परः शिवे।
मत्तः परतरो नास्ति मन्मतं तु तथैव हि[१]॥

एवं जगदुद्भवेऽपि निमित्तं शिव एवास्ति। शिवमाश्रिता हि शक्तिश्चराचरात्मकं जगत् सृजति। स एव जगदुत्पत्तिनिमित्तम्–यथा सर्वेषु देवेषु ह्यधिको मेघवाहनः।

यस्माज्जातानि भूतानि खं वाय्वग्निभूमयः।
यस्मिंश्च लयतां यान्ति सततं जयताच्छिवः॥
विकारहीनोऽपि सिसृक्षयाऽसौ
रजोमयीं शक्तिमुपाश्रितश्च।
शिवासमाराधितचित्तवृत्ति-
स्तनोति विश्वं स्वविलासहेतोः॥

अग्नेः स्फुलिङ्गा इवानादिनिधनस्वरूपाच्छिवतत्त्वादेवापृथग्रूपेणाविर्भवति जगत्। शिवतत्त्वस्य व्यापकत्वात्तस्यैव शरीरभूतमेतत् प्रपञ्चजातम्। "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः"[२] इति श्रुतिस्थतत्पदवाच्यः सर्वत्र व्यापकत्वाच्चात्मपदवाच्यः शिव एवास्ति। शिवतत्त्वादेवाकाशादिमहाभूतानि जायन्ते, तत्रैवान्ते लीयन्ते। तथा च श्रुतिः— "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति"[३] इति शिवाश्रिता तदभिन्ना च शिवशक्तिः शिवतत्त्वाभिन्नतयैवैतज्जगद् रचयति। अतः शिवशरीरमेवोच्यते जगत्।

तिष्ठन्ती या मम तनौ मच्छरीरमिदं जगत्।
जगदित्यहमित्यन्य इति भेदो न कश्चन॥
उत्पत्त्यादिस्वरूपेण मदन्यस्यावलोकनम्।
तिष्ठति स्थितये ज्ञत्वं व्यवहारः स देहिनः[४]॥

---

१. पारमेश्वरागमे, १२.७५-७६।
२. तै. उप. २.१।
३. तै. उप. ३.१।
४. पारमेश्वरागमे, २१.९०-९१।

सृष्टिकालेऽपि शिव उदासीनः साक्षिभूत एवास्ते। न किञ्चिदपि विचेष्टते। तस्य शक्तिरेव सर्वं साधयति—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च[1]।।

शिवस्य प्राधान्येन शक्तीनां समवायिनीरूपेण परिग्रहरूपेण च भेदद्वयं प्रसिद्धम्। निर्विकारा चिद्रूपा समवायिनी शक्तिर्नित्यं परमशिवे समवेता। परिग्रहशक्तिस्त्वचिद्रूपाऽपि परिणामशालिनी। सैव बिन्दुरित्युच्यते। शिवसामर्थ्यमेव शक्तिः। तच्च शिवस्वरूपम्। यथा वस्तुस्वरूपं वस्तुनोऽभिन्नम्, तथैव शिवस्वरूपं शिवाभिन्नमेव। कथञ्चिदपि वस्तुतत्स्वरूपयोर्भेदमाकलयितुं न शक्यते। शुद्धाशुद्धात्मना बिन्दुरूपायाः परिग्रहशक्ते रूपद्वयं प्रसिद्धम्। तत्र शुद्धबिन्दुरूपिणी महामाया, अशुद्धबिन्दुरूपिणी माया, अनयोश्चेयान् भेदः–सात्त्विकजगदुपादानं महामाया, प्राकृतजगदुपादानं मायेति व्यवहारः।

अचिदात्मकपरिणामशालिबिन्दोश्चिदात्मके शिवे समवायसम्बन्धो नैवाभिमतः, अन्यथा शिवस्याप्यचिदात्मकतापत्तिः स्यात्।

जायतेऽध्वा यतः शुद्धो वर्तते यत्र लीयते।
स बिन्दुः परनादाख्यो नादबिन्द्वर्णकारणम्[2]।।

तत्र बिन्दोः शिवेन सह तादात्म्यसम्बन्धे सत्यपि न शिवे बिन्दुगतजडत्वमारोप्यते, न च तस्य चैतन्यं व्याहन्यते, शिवस्याविकारित्वात्।

स हि तादात्म्यसम्बन्धी जडेन जडिमावहः।
शिवस्यानुपमाखण्डचिद्घनैकस्वरूपिणः[3]।।

परमशिवस्य बिन्दुस्वरूपनिरूपणम्

सर्वविकारशून्यत्वादव्ययो बिन्दुरुच्यते।
मात्रा ततो भवेच्छक्तेः क्रियावृत्त्यवधारणात्।।
सोपाधिकः शिवो बिन्दुः शुद्धश्च परमः शिवः।
बिन्दुस्वरूपमासाद्य जगदेतत् प्रवर्तते।।

---

१. श्वेता. उप. ६.८।
२. रत्नत्रये, २२।
३. तत्रैव, २३।

सृष्टिप्रक्रियाप्रतिपादने पूर्वप्रवर्तनारूपत्वात्प्रलयोऽप्यनुसन्धेयः । तत्र प्रलयो नामानन्तशक्तिकस्य ब्रह्मणः स्वरूपमात्रे किञ्चित्कालमवस्थानम् । तद्यथा–सुषुप्तिकाले जीवा अज्ञानान्धकारे निमग्ना न किञ्चिदपि विदुः, पुनश्चोत्थिता यथापूर्वं संसारमनुभवन्ति, तद्विषये च प्रवर्तन्ते । सुषुप्तिश्चाल्पो लय इत्युच्यते, तत्र जाग्रत्स्वप्नोभयविधप्रपञ्चस्य सुषुप्तिकाले लयात् । ब्रह्मणः सुषुप्तिकाले हि समेषां जीवानां प्रपञ्चोपशमनाद् महालय उच्यते । तत्रेयान् भेदः—तत्तज्जीवानां सुषुप्तिकाले तत्तत्प्रपञ्चोपशमः । ब्रह्मणः सुषुप्तिकाले तु सर्वप्राणिनां प्रपञ्चो लीयते, पूर्वसृष्टिदशायां ज्ञानविरहादमुक्ता जीवास्तददृष्टानि पञ्चमहाभूतानां सूक्ष्मरूपाणि च कार्पासबीजे पटा इव सूक्ष्मरूपेण सुषुप्तिमापन्ने प्रलयकालीनब्रह्मणि तिष्ठन्ति । जाग्रिते च ब्रह्मणि यथापूर्वं भूतानि प्रपद्यन्ते मानवाश्च स्वे स्वे कर्मणि प्रवर्तन्ते । स च लयः परमशिवस्वरूपं शेते विश्वं यस्मिन्निति व्युत्पत्तेः । लयस्थानी शिवो बिन्दुस्वरूपमेवास्ति । बिन्दुस्वरूपे शिव एव सर्वं विश्वं लीयते ।

संस्थिते मय्यधिष्ठाने निस्तरङ्गसुखाम्बुधौ ।
सञ्जायन्ते विलीयन्ते नामरूपात्मबुद्बुदाः[१] ।।

स च बिन्दुः सर्वविकारशून्योऽपि वासनावशीभूतः प्रपञ्चाकारेण भासते । तत्र वासनाया जनिका, इच्छाज्ञानक्रियारूपा परा शक्तिः, यया चोदितः शिवः कर्मत्रयं भजते । "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमद्वितीयम्"[२] इति श्रुतिविषयो नित्योऽद्वितीयः सद्रूपश्च बिन्दुरिच्छाशक्तिवशात् "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय"[३] इति श्रुतिप्रतिपाद्यो भवति । ततश्च क्रियाशक्तिवशात् "तत्तेजोऽसृजत"[४], "स तपोऽतप्यत"[५] इति श्रुतिबोधितः कर्मणि प्रवर्तते ।

निरवच्छिन्नः शुद्धो बिन्दुः परमशिवरूपः, शक्त्युपहितश्च जगदुत्पत्तौ निमित्तम् । तस्मिन्नेव सोपाधिके बिन्दुरूपे शिवे घटपटादिबाह्यविषया भासन्ते । तत्रापि शिवाभिन्ना शक्तिरेवोपादानम् । शक्तिरेव बिन्दौ वासनावशात् क्षोभमुत्पादयति । ततश्च बिन्दोस्त्रिकोणचक्रं जायते, तच्च चक्रं त्रिधा विभज्यते । त्रिधा विभक्तस्य पुनरेकैकरूपस्य त्रिरूपत्वं प्रतिपद्यते । एकमेव त्रिकोणं सृष्टिलयभेदेन शक्तिवह्नित्रिकोणतामुपगतं धर्माधर्मभेदेन, आत्मभेदेन, मातृमेयभेदेन, प्रमाभेदेन च नवधा भवति । तत्र पुण्यपापे, आत्मनश्चत्वारो भेदाः आत्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा, ज्ञानात्मा, माता जीवः, मेयो ग्राह्यविषयः, प्रमा ज्ञप्तिरिति नवरूपाणि चक्रस्य । तदुक्तम्–

---

१. पारमेश्वरागमे, १३.२ ।
२. छान्दोग्यो, ६.२.१ ।
३. तै. उ. २.६ ।
४. छान्दोग्यो, ६.२.३ ।
५. तै. उ. २.६ ।

बैन्दवं चक्रमेतस्य त्रिरूपत्वं पुनर्भवेत् ।
धर्माधर्मौ तथात्मानो मातृमेयौ तथा प्रमा ।।
नवयोन्यात्मकं चक्रं चिदानन्दघनं महत् ।
चक्रं नवात्मकमिदं नवधा भिन्नमन्त्रकम्[१] ।। इति।

त्रिगुणात्मिकया शक्त्या बिन्दुः पूर्वं त्रिधा विभज्यते। त्रयो हि सत्त्वतमोरजोरूपाः। तत्र रजः क्रियात्मको गुणस्तत्सम्बलिता क्रियात्मिका शक्तिर्महाकालीत्युच्यते। तया सम्मोहिता आब्रह्मदेवा असुरा मानवाश्च। सम्मोहात् क्षोभ उत्पद्यते, क्षोभः सृष्टेः कारणम्। तथा हि तया शक्त्या बिन्द्वात्मके शिवे क्षोभ उत्पाद्यते। स च क्षुब्धः क्रियात्मको रजोगुणप्रधानो बिन्दुर्हिरण्यगर्भ इत्युच्यते। तस्यैव प्रथमोऽभिभवः। ततश्चाकाशादिमहाभूतानामुत्पत्तिः। तथा चोक्तमृग्वेदे—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम[२] ।।

हिरण्यगर्भ एव प्रथमः शरीरी। स वै पुरुष इत्युच्यते। स हि आदिकर्ता भूतानां प्रथमं समजायत। तस्य विराट्पुरुषस्य सर्वभूतान्तरात्मत्वं संसिद्धम्। प्राणात्मना सर्वभूतानामहमात्ममवस्थानात्। प्राणो बिन्दुर्हि भूतानां तदन्तर्भूताश्चाकाशादयो महाभूताः। बिन्दुतत्त्वात् प्रथमं ज्योतिःपुञ्जभूतमग्नितत्त्वं जायते। स च परमप्रकाशभूतत्वाद् विराडित्युच्यते, विशेषेण राजत इति व्युत्पत्तेः। बिन्दुतत्त्वं सर्वत्र व्यापकत्वादधिपुरुष उच्यते। पुर आसीदिति व्युत्पत्त्या पुरुषः परमशिवः। पुरि देहे शेत इति व्युत्पत्त्या शिवांशभूतो जीवः पुरुषः। 'पुरुषेषु' इति विग्रहे विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावे समासे सति 'अधिपुरुष'शब्दो निष्पद्यते। एतेन सर्वभूताभिव्यापकत्वं बिन्दोः संसिध्यति। तस्माद् विराट्पुरुषादेव महाभूतानां जडजङ्गमजीवानामुत्पत्तिः। स चानादित्वात् सर्वविकारशून्यत्वाच्च परमशिवपदवाच्यः। शक्त्युपहितश्च विराडित्युच्यते। तथा चोक्तं पुरुषसूक्ते—

ततो विराडजायत विराजोऽधिपूरुषः ।
स जातोऽत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ।।
नाभ्याऽऽसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णोः द्यौः समवर्त्तत ।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोतात्तथा लोकानकल्पयन् ।।

---

१. योगिनीहृदये १.१२-१३।
२. ऋ. सं. १०.१२१.१।
३. पुरुषसूक्तम्।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ।।[3] इति।
विराडन्तर्भूतमेवैतज्जगत् तस्माज्जातं तस्मिन्नेवास्ते।
एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी[1]**।।**

तस्य कोशभूतमन्तरिक्षं तेनावृतं सर्वं विभाति। तस्य कोशस्याविनाशिपृथिवीतत्त्वं दिशाश्च कोशभूता, द्यौरस्योर्ध्वबिलम्, अन्तरिक्षोदरः कोशो भूमिबुध्नो न जीर्यति। दिशो ह्यस्य शक्तयो द्यौरस्योत्तरं बिलम्,[2] तस्मादेव पुरुषात् सर्वे गिरयः सर्वाश्च नद्यः समुद्रादयो जायन्ते। सर्वा ओषधयो रसाश्च तत एवाविर्भवन्ति—

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽ-
स्मात् स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वभूताः।
अतश्च सर्वा ओषधयो रसाश्च
येनैव भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा[3] **।।**

पुरुष एवेदं विश्वं सर्वम्। न विश्वं नाम पुरुषादन्यत्किञ्चिदस्ति। ''पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्''[4]। पुरुष एवेदं विश्वमिति मतान्तरे न सम्भवति, जीवानामनादित्वेन पुरुषोपादानकत्वासम्भवाद् अभेदानङ्गीकाराच्च। शैवदर्शने हि जीवानां शिवांशभूतत्वाज्जगतश्च शिवशरीरत्वस्वीकारान्न दोषः। अतः पुरुषः शिवः।

बिन्दुतत्त्वादेव शब्दार्थात्मकव्यवहारः

बिन्दुतत्त्वात् समुद्भूतं शब्दतत्त्वं शिवात्मकम्।
अर्थो व्यवहृतिर्लोके तयोरभेद उच्यते।।
शक्तिः शब्दः शिवो वाच्यो व्यवहारो जगत् कथ्यते।
ज्ञानेनापहृते लोके शिव एकोऽवशिष्यते।।

शिवात्मके बिन्दुतत्त्वे माया क्षोभमुत्पादयति, क्षुब्धो बिन्दुः शब्दत्वमापद्यते। सा च शक्तिर्वासनामयत्वादर्थतामाभजते। व्यक्ताव्यक्तभेदेन बिन्दो रूपद्वयम्। तत्राव्यक्त-बिन्दुर्निरुपाधिकः परमशिवः, मायोपहितश्च शब्दार्थात्मकव्यवहारे कारणम्। तत्राव्यक्तो बिन्दुर्वैयाकरणनये स्पन्दशून्या सर्वविकल्पातीता शब्दार्थोपसंहृतरूपा परावागित्युच्यते।

---

१. मुण्ड. २.१.३।
२. छान्दो. ३.१५.१।
३. मुण्ड. २.१.९।
४. तत्रैव, २.१.१०।

स च परमब्रह्मस्वरूपा। ततश्च बिन्दोर्मायोपहिततया स्थूलपश्यन्त्यां कश्चिदस्पष्टरूपोऽभिव्यज्यते स च समाधौ योगिभिर्वेद्यो भवति। ततश्च "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत"[१] इतीक्षणशक्त्यात्मकोऽर्थप्रकाशकः स्फोटपदवाच्यो मध्यमानादोऽभिव्यज्यते। स च नादो जपादौ कर्णपिधाने च स्पष्टतया प्रतीयते। उक्तं च—

शब्दरूपपदार्थस्य शब्दः स परमः स्मृतः।
सङ्कल्पपदवीरूढः स्फुरत्यन्तःस्थितः स्फुटम्[२] ।। इति।

सोऽपि प्राकृतवैकृतभेदेन द्विधा विभज्यते। अयमेवार्थवाचकः शब्दः, तत्रापि बौद्धार्थेन सह तादात्म्यं स्फोटाख्यशब्दस्य। शब्दार्थोभयोरपि स्फोटपदवाच्यत्वं संसिद्धम्। तत्र स्फुटत्यर्थो यस्मादिति व्युत्पत्त्या स्फोटः शब्दः। स्फुटत्यसौ स्फोट इति व्युत्पत्त्या अर्थः स्फोटः। नादादेव व्यक्तबिन्दुरुत्पद्यते स च कारणं वर्णात्मकसृष्टेः। प्रथमं शिवेच्छया महामायायां क्षोभो भवति, ततो नादोत्पत्तिः, नादाद् बिन्दुः, बिन्दोरक्षरम्, अक्षरान्मातृका चेति। तथा हि—

नादो सूक्ष्मो भवेद् बिन्दुः पश्यन्ती मध्यमाक्षरम्।
मातृका वैखरी ज्ञेया नादाद्यास्तु शिवादयः[३] ।। इति।

आसां वृत्तीनामाश्रयभूता निवृत्त्यादयः पञ्च कला बिन्दुभूतशिवस्य कार्याणि। एषा च महामाया शब्दवस्तूभयात्मिका भवति, शब्दात्मकानां वर्णपदमन्त्राणां कलातत्त्वभुवनानां वस्तुरूपाणां चोत्पत्तिकारणात्। अव्यक्तबिन्दुः परमात्मा च निरपेक्षव्यापको निर्गुणश्च, तत्र वाक्प्रवृत्तिर्न भवति 'यतो वाचो निवर्तन्ते'[४] इति सिद्धान्तात्। व्यक्तबिन्दुविषयिकैव वाक्प्रवृत्तिः। वर्तुलरेखाकृतोपाधिना परमशिवस्य सगुणत्वमायाति। बिन्दुशब्दोच्चारणेनैव मनस्येका वर्तुलाऽऽकृतिः प्रादुर्भवति। तथैव हस्तेन पत्रपटादिष्वाकारो निष्पाद्यते। लेखन्या यदेकं महच्छून्यं विलिख्यते, तद् बिन्दोः स्थूलाऽऽकारोऽस्ति। स चाकार एषः अस्ति। तस्मिन्नाकारे या कृष्णरेखा दृश्यते न सा बिन्दुः, किन्तु तदन्तर्गतः श्वेतभागो बिन्दुः। बाह्यया वर्तुलरेखया तस्य बिन्दुत्वं सम्पादितम्। बाह्यसीमा वृत्तरेखा तदन्तःपाती भागो बिन्दुः। इदमेव बिन्दोर्व्यक्तं स्वरूपं मन्तव्यम्। रेखायां तिरोहितायां तु बिन्दोरव्यक्तं स्वरूपमायाति। तथा चोक्तम्—

व्यापिका बिन्दुविलसत्त्रिकोणाकारतां गता।
बिन्दुद्वयान्तरालस्था ऋजुरेखामयी पुनः ।।

---

१. छन्दो. ६.२.३।
२. उ. स्पन्दप्रदीपिकायाम्, पृ. २९।
३. सिद्धान्तरत्नसारे, पृ. ५३।
४. तै. उ. २.५.१।

समना बिन्दुविलसदृजुरेखा तथोन्मना ।
शक्त्यादीनां वपुः स्फूर्जद्द्वादशादित्यसन्निभम्[1] ।। इति ।

व्यक्तबिन्दुश्च स्वस्थानमपरित्यजन् गतिरूपोपाधिनाऽव्यक्तरेखात्रयात्मको व्यक्तरेखारूपो भवति । यथा नदी स्वयं प्रवाहरूपेण मध्यरेखा भूत्वा द्वाभ्यां पक्षाभ्यां द्वे तटे रेखारूपे कृत्वा रेखात्रयवती सती प्रवहति, तथैव या एका रेखा दृष्टिपथमायाति, तिसृणामव्यक्तरेखाणां जननी, उभयोः पार्श्वयोर्द्वे रेखे मध्ये चैकेति सिद्धान्तात् । एवमेव सगुणपरमात्मा– ''सोऽकामयत बहु स्याम्'' इत्युत्थानरूपेणोपाधिनाऽव्यक्तगुणत्रयात्मकमायारूपेणाविर्भवति ।

व्यक्तबिन्दुश्च प्रकृतिपुरुषोभयात्मकः । स्वस्थाने निश्चलोऽयं बिन्दुः, तस्मिन् मायास्थिततमोगुणरूपजडोपाधेः सत्त्वात्, तत्रोपाधौ परमात्मनः स्वदेशोऽभिव्यक्तः । यदा स एव बिन्दुर्गतिं प्राप्य रेखारूपोऽभवत्, तदा मायास्थचलनवलनात्मकरजोगुणवशात् परमात्मनः सदंशेन सह चेतनांशोऽप्यभिव्यक्तः । तत्तु रेखाया विकृतिरूपोपाधिना बिन्दुरक्षररूपोऽभवत् । तत्र तत्र मायास्थसत्त्वगुणोपाधिना परमात्मन आनन्दांशोऽप्यभिव्यज्यते । यथा शक्तिविशिष्टः स्फोटात्मकशब्दस्तथा बौद्धार्थोऽपि शक्तिविशिष्टस्तयोरभेद इति शक्तिविशिष्टाद्वैत इत्युच्यते । शक्तिशक्तिमतोरभेदः शिवशक्त्योरप्यभेदः ।

प्राणिनां मैथुनिकसृष्टिरपि बिन्दुतत्त्वादेव

स्त्रीपुरुषसंयोगाच्छुक्रशोणितमिश्रणम् ।
बिन्दुद्वयोद्भवो गर्भः स शिवांश इति स्मृतः ।।
शिवरूपः सदा बिन्दुः शोणितः शक्तिरूपभृत् ।
शक्तेश्च शिवरूपत्वादुभयत्र शिवांशता ।।

स्त्रीपुरुषयोः सामरस्यदशायां यदा ब्रह्मरन्ध्रस्थितः शुक्रबिन्दुः काममन्दिरं प्रविष्टः शोणबिन्दुनैकीभवति, तदैव बाह्याभ्यन्तरभानहीनमानन्दमात्रावशेषं ब्रह्मैव भासत इत्यनुभवसिद्धम् । सुषुप्तिदशायां या आनन्दात्मिकाऽज्ञाननिवृत्तिर्न सा सामरस्यानन्देन समा । तथा च श्रुतिः ''यथा प्रियया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्''[2] इति । तादृशसामरस्यनिष्ठस्यानन्दात्मकत्वे सति गर्भोत्पादकत्वरूपसाधारणधर्मस्य सृष्टिप्राक्कालिक-शिवशक्तिसामरस्येऽपि दर्शनाल्लौकिकप्रक्रियैवाप्यूह्या ।

तत्र यो ब्रह्मरन्ध्रस्थितो बिन्दुः स निःशेषेण न कामालयं प्रविशति, किन्त्वंशरूपेण, अन्यथा पुनः सामरस्यानापत्तेः, ततश्च विधिबिलस्थितो बिन्दुस्तुरीयबिन्दुरभिधीयते ।

---

१. योगिनीहृदये १.३२-३३ ।
२. बृ. उ. ४.६.५ ।

तदंशो मन्दिरस्थितस्तु कामाख्यो बिन्दुर्यः कामेश्वर इत्युपासकैश्चिन्त्यते। अत एव काममन्दिरनामधेयादीनि सम्भवन्ति। कामबिन्दोः शोणबिन्दुना सह परस्परानुप्रविष्टत्वे सति विस्पष्टत्वे बिन्दुद्वयात्मकः सर्गः सम्पद्यते, शिवमात्रस्य शक्तिमात्रस्य सृष्ट्यादिजनकत्वा-योगात्। स च सर्गः शिवांशात्मकः, यथा परशिवाङ्गीकारस्यैव वैयर्थ्यापत्तेः। उक्तं च कामकलाविलासे—

शिवशक्तिमिथुनपिण्डः कवलीकृतभुवनमण्डलो जयति।
सितशोणबिन्दुयुगलं विविक्तशिवशक्तिसङ्कुचत्प्रसरम्[1]।।

स च बिन्दुतत्त्वात्मकः शिवः पारमेश्वरागमेऽव्यक्तरूपोऽपि सन् व्यक्तवियदादिमहा-भूतानां बीजरूपत्वेन स्वीकृतः—

अमूलमेकमव्यक्तं व्यक्ताधारं वियत्परम्।
सर्वान्तर्यामिणं देवं सच्चिद्घनमयं विभुम्[2]।।

शिवांशभूतजीवतत्त्वविमर्शः

यथा स्फुलिङ्गा ज्वलनप्रवाहा-
दभिन्नरूपाः प्रसरन्ति वह्नेः।
तथा हि जीवाः शिवतत्त्वमूला-
स्तदंशभूताः प्रचरन्ति लोके।।

शैवागमे भगवतः शिवस्य निमित्तकारणत्वमेवाभ्युपेयते। यथा घटादिकार्ये कुलालस्य निमित्तकारणता, दण्डचक्रादीनां सहकारिकारणता, मृदादीनामुपादानत्वम्, तद्वदत्रापि कारणत्रयं प्रसिद्धम्। शिवो निमित्तकारणम्, शक्तिः सहकारिकारणम्, बिन्दुश्चोपादानकारणमिति। बिन्दुरेव जडात्मना जगद्रूपेण चैतन्यात्मना च जीवरूपेण परिणमते। बिन्दुतत्त्वस्य शिवाभिन्नतया जगदेतच्छिवशरीरं जीवश्च शिवांश इत्युच्यते। आब्रह्मकीटपतङ्गपर्यन्तं यावन्तः प्राणिनः सर्वेऽपि शिवांशभूता एव सन्ति। उक्तं च पारमेश्वरागमे—

राक्षसा यक्षरक्षांसि मनुष्याः पशवः खगाः।
क्रिमिकीटपतङ्गाद्या अहमेव वरानने[3]।।

पतिरिव पशुरपि व्यापकोऽनश्वरश्चेतनश्चास्ति, परञ्च शिवोऽनीश्वरस्तदतिरिक्त-

---

१. कामकलाविलासे। २. पारमेश्वरागमे, २१.२२।
३. तत्रैव, ३८.२३।

स्यैश्वर्याभावात्। जीवश्च शिवाधीनसामर्थ्यतया सेश्वरः। सर्वज्ञः पतिः पशुश्चाल्पज्ञः। अज्ञानेनावृतात्मतया समलोऽपि जीवः। कर्तव्याकर्तव्यकर्मणां फलमपि जीवो भुङ्क्ते, इयानेव भेदः पशुपत्योरिति।

देहान्योऽनश्वरो व्यापी विभिन्नः समलोऽजडः।
स्वकर्मफलभुक् कर्ता किञ्चिज्ज्ञः सेश्वरः पशुः[1]॥

पशोस्त्रैविध्यम्

स च जीवोऽण्डः, दृक्क्रियारूपचैतन्यस्वरूपश्चास्ति। तच्चैतन्यं मलावृतत्वान्न प्रकाशते। विज्ञानाकलप्रलयाकलसकलभेदेन पशुस्त्रिविधः कीर्त्यते। तत्र भोगादिना कर्मक्षये सति कलादिभोगसम्बन्धाभावात् केवलमलमात्रयुक्तो विज्ञानाकल इत्युच्यते, प्रलयेन कलादेरुपसंहाराद् मलकर्मयुक्तः प्रलयाकलो मलमायाकर्मात्मकबन्धत्रययुक्तः सकल इति व्यवह्रियते।

केवलसकलामलादिभेदेन पशोरवस्थात्रयं प्रतिपद्यते। उक्तं च स्वायम्भुवागमे—

अथात्माऽविमलो बद्धः पुनर्मुक्तश्च दीक्षया।
विज्ञेयः स त्रिधावस्थः केवलः सकलोऽमलः[2]॥

अत्रात्मशब्दो जीवपरः, स चात्मा केवलः सकलोऽमल इति चावस्थात्रितयसहितो वर्तते। तत्र प्रथमो विमलो न भवति, इत्यविमलोऽत्यन्तमलिनः केवलावस्थ इत्यर्थः, बद्धः कर्मानुरक्तः कलादिबन्धनेन बद्धः सकलावस्थः, पुनश्च दीक्षया कलादिबन्धान्मुक्तः, अमलावस्थः शुद्ध इत्युच्यते।

अमूर्तः स पशुर्नित्यो निर्गुणो निष्क्रियोऽप्रभुः।
मायोदरगतो व्यापी भोगोपायेष्वशक्तितः॥
स केवलस्त्विति प्रोक्तः स्वापवान् मलबन्धनात्[3]॥

केवलावस्थो जीवो व्यापकः सन्नपि मायोदरे स्थितो भोगोपायेष्वशक्तः प्रोच्यते। स च भोगैकरसिकः कर्मवशतो भुवनजदेहेषु सर्वेषु भ्रमति। केवलावस्थायां जीवस्य कलानां राहित्यं भवति। "कलानां निलयो यस्मात् तेनासौ केवलः स्मृतः" इति सर्वज्ञानोत्तरानुसारेण जीवस्य कलाराहित्याच्चेतनोऽप्यचेतन इव भाति। सकलावस्थायां जीवो बद्धोऽहमिति मत्वा भवबन्धनिवृत्तये परिचिन्तयति। इदमेव वैशिष्ट्यं केवलावस्थातः सकलावस्थायाः।

---

१. पराख्यसंहितायाम्। २. स्वायम्भुवागमे।
३. तत्त्वसङ्ग्रहे।

संसारी विषयी भोक्ता क्षेत्री क्षेत्रज्ञ एव च ।
शरीरी चेति बन्धात्मा सकलः प्रोच्यते बुधैः ।।

बन्धविमुक्तये सततं यतमानं जीवात्मानं यदा परमेशः शिवोऽनुगृह्णाति, तदा जीवो विगतसकलकल्मषतयाऽमलो भवति । सोऽयममलावस्थापन्नो जीवो मुक्त इत्युच्यते ।

अशरीरं यदात्मानं पश्यति ज्ञानचक्षुषा ।
तदा भवति शान्तात्मा सर्वतो विगतस्पृहः[1] ।।

स च जीवः सर्वत्र शक्तिविशिष्ट एवास्ति । शक्तिविशिष्टजीवात्मनः शक्तिविशिष्टशिवेन सहाभेदः ।

पाशस्वरूपविमर्शः

शिवरूपं सदा जीवं पाशो बध्नाति कर्मभिः ।
बद्धो पशुत्वमापन्नो यावत्कर्मक्षयो भवेत् ।।
सृष्टिस्थितिलयानां हि पाशः कारणमुच्यते ।
मलकर्मादिभेदेन तस्य रूपचतुष्टयम् ।।
बीजभूतो मलः प्रोक्तो यतो जगत् प्रवर्तते ।
कर्मणा तस्य रक्षा स्यान्माया जगद्विनाशिनी ।।

शिवस्य शक्तिस्वरूप एव पाशः । तत्र मलाख्यपाशो देहाद्युत्पत्तौ कारणम् । यथा व्रीह्यादीनां तुषमङ्कुरजनने कारणम्, अङ्कुरोत्पत्तौ सत्यं च स्वयमेव निवर्तते । एवं मलाख्यपाशो देहादिसमुत्पत्तौ कारणम् । यथा ताम्रपात्रस्य मलो जम्बीररसेन निवर्तते, तथैव जीवात्मसम्बन्धिमलः शिवसायुज्यरसेन निवर्तते ।

विहिताविहितकर्मफलवशात् प्राणिनां जनिः, अतः कर्माण्यप्यनुबन्धकत्वात् पाशा एव सन्ति । प्रलये सर्वं जगदस्यां मातीति माया, अथवा सर्वं जगद् यतो मयति सा माया इति व्युत्पत्तिद्वयेन द्विविधो मायापदार्थो लक्ष्यते ।

शक्तिरूपेण कार्याणि तल्लीनानि महाक्षये ।
विकृतौ व्यक्तिमायाति सा कार्येण कलादिना[2] ।।

उत्पत्तौ लये च कारणीभूता मायाऽपि बन्ध एव । वस्तुतस्तु पशुपत्यतिरिक्ता यावन्तोऽपि जागतिकाः पदार्थाः, समेऽपि बन्धभूतत्वात्पाशत्वं भजन्ते । रागमोहादयो विवेकावरोधकत्वान्मला उच्यन्ते ।

---

१. मृगेन्द्रागमे । २. सर्वदर्शनसङ्ग्रहे ।

मोहो मदश्च रागश्च विषादः शोष एव च ।
वैचित्यं चैव हर्षाख्यः सप्तैते सहजा मलाः[1] ।।

यावन्तोऽपि विषया रागमोहाद्युत्पादकतया पाशा एव सन्ति । उक्तं च पारमेश्वरागमे—

चतुर्विंशतितत्त्वानि माया कर्म गुणा अपि ।
विषया इति कथ्यन्ते पाशा जीवनिबन्धनात्[2] ।।

इमे पाशाः शिवाधीनाः । शिव एव पाशमोचकः । शिवांशभूता जीवाः पाशबद्धत्वात्पशव उच्यन्ते । शिवश्च कर्मप्रेरकः स्वतन्त्रः पतिः—

ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तान् पशून् बद्ध्वा महेश्वरि ।
पाशैरेतैः पतिश्चाहं कार्यं कारयति स्वकम्[3] ।।

आभासवादः

अचिन्त्यमव्यक्तमनेकरूपं
शिवादभिन्नं जगतः स्वरूपम् ।
बिभर्ति तत्त्वे निहितात्मभेद-
मण्डे मयूरस्य यथा शरीरम् ।।

यथा मयूरस्य चित्रविचित्रं पिच्छकलापं मयूराण्डेऽभिन्नरूपात्मतया निहितं कालशक्त्या परिच्छिन्नं पश्चात्तत आविर्भूतं सत् प्रकाशते, तथैव समस्तं जगद् महेश्वरेऽविभिन्नरूपतया विद्यमानं शिवशक्त्याऽऽविर्भूतं पृथग्भूतमिव भासते । सकलस्यापि जगतोऽधिष्ठानं चितिः संविदेवास्ति । चित्रविचित्रं परिवर्तनशीलमिदं जगदाभासश्चितेराविर्भावमात्रम् । जगतो यानि प्रकटरूपाणि, प्रमेयः, प्रमाता, ज्ञानम्, ज्ञानसाधनम्, इन्द्रियाणि चेति परमचितेराभासमात्रम् । आभासो नाम ईषत् सङ्कुचितं भासनं प्रकाशनं वा सर्वविधाविर्भावः । जगति यत्किमपि विद्यमानं वर्तते, तत्सर्वमाभासस्य विन्यासमात्रमेवास्ति । आभासरूपा एव जडचेतनपदार्थाः ।

यथा स्वच्छे दर्पणे चित्रविचित्रनगराणि ग्रामादीनि च प्रतिबिम्बितानि भवन्ति, तेषां प्रतिबिम्बानि दर्पणादभिन्नान्यपि परस्परं दर्पणाद् भिन्नानि प्रतीयन्ते, तथैवेदं जगत् परमशिवस्य (चितेः) अभिन्नमपि परस्परं ततो भिन्नं प्रतीयते ।

---

१. तत्त्वनिर्णये ।
२. पारमेश्वरागमे, १२.६३ ।
३. तत्रैव, १२.६४ ।

निर्मले मुकुरे यद्वद् भान्ति भूमिजलादयः ।
अमिश्रास्तद्वदेकस्मिंश्चिन्मात्रे विश्ववृत्तयः[१] ।।

तत्रोभयोरियान् भेदः—दर्पणोऽचेतनः, तस्य च स्वान्तःस्थितस्य प्रतिबिम्बितवस्तुनो बोधो नैव भवति, महेश्वरस्तु चेतनः परमसंविद्विमर्शशक्त्या सर्वं जानाति ।

अन्तर्विभाति सकलं जगदात्मनीह
यद्वद् विचित्ररचना मुकुरान्तराले ।
बोधः पुनर्निजविमर्शनसारयुक्त्या
विश्वं परामृशति नो मुकुरस्तथावत्[२] ।।

तत्र मुकुरायमाना चितिः शिवस्य पराख्या शक्तिरेव, तस्यामेव प्रतिबिम्बते जगत् । बिम्बभूतः शिवः प्रतिबिम्बश्च जीवः । स च शिवाभिन्नोऽपि भिन्न इव प्रतिभाति । सर्वभागेषु परतोऽसङ्गः शिवः कर्तृत्वकरणत्वादिहीनः साक्षिमात्रम् । जीवश्च कर्मफलभोक्ता भोगेष्वासक्तः कर्ता चेत्युच्यते । एवं नैकोपाधिको भेदो प्रतिबिम्बयोः । कर्तृत्वाद्युपाधिना प्रतिबिम्बो जीवः, निरुपाधिको बिम्बः शिवः ।

त्वयि दर्पणभूतायां बुद्धौ जीवोऽहमीश्वरः ।
असङ्गः प्रतिबिम्बोऽस्मि न भोक्ता केवलः शिवः ।।
शोकहर्षभयक्रोधलोभमोहस्पृहादयः ।
अहङ्कारस्य दृश्यन्ते जन्म मृत्युश्च नात्मनः[३] ।।

चिदेव भगवती स्वच्छन्दस्वतन्त्ररूपा तत्तदनन्तजगदात्मना स्फुरति । यद्यपि कार्यकारणयोर्भेदः सर्वसिद्धान्तेष्वभिमतः, कार्यं हि कारणाद् भिन्नं भवति, तयोरेकत्वे कार्यकारणभावासम्भवः । कार्यात् पूर्वनियतवृत्तिः कारणमिति नियमोऽत्र नाभिमतः । चितेः स्फुरणं जगदुन्मेषः । उभयं यौगपद्येन सम्पाद्यते, नास्ति कश्चित् क्रमः ।

चितेः प्रकाशः सर्वत्र

सर्वमपि प्रपञ्चजातं चिदात्मकमेव तन्त्रागमेषु प्रसिद्धम् । तथा च चिदात्मैव हि शिवोऽन्तःस्थितं प्रपञ्चजातं स्वेच्छया स्वभित्तौ स्वाधारे स्वस्मिन् स्वप्रकाशे च बहिः प्रकाशयति । बहिःप्रकाशनमत्रान्तरवस्थितस्य प्रकटीकरणम् । तत्र यथा योगी सङ्कल्पमात्रेणैव यत्किमपि वस्तु बहिराभासयति, स किमप्युपादानं नापेक्षते, तथैव चितिरपि विनोपादानेनैव अन्तःस्थितमर्थजातं बहिराभासयति–

---

१. तन्त्रालोके, ३.४ । २. ई. प्र. वि. वि., पृ. १६८ ।
३. पारमेश्वरागमे, २१.५१-५२ ।

चिदात्मैव हि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशाद् बहिः ।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत् ।।
स्वामिनश्चात्मसंस्थस्य भावजातस्य भासनम् ।
अस्त्येव न विना तस्मादिच्छामर्शः प्रवर्तते[१] ।।

यथा कुम्भकारो मृत्तिकामादायैव घटनिर्माणे समर्थो भवति तथा नात्र व्यवस्था। बाह्याभासो महेश्वरकल्पनानां बहिः प्रक्षेपमात्रमेवास्ति। ये पदार्था महेश्वरस्य ज्ञानस्वरूपाः सन्ति, ते तस्येच्छया ज्ञेयरूपात्मनि बहिः प्रकटतां यान्ति। ते चाहंस्वरूपाः सन्ति। ते चेदमात्मनि विश्वस्वरूपे वा आविर्भवन्ति। जीवेभ्यश्च बाह्यरूपमाभासयन्ति। उक्तश्च पदार्थस्योदयक्रमः—

यत्र यत्र भवेदिच्छा ज्ञानं तत्र प्रवर्तते ।
क्रियाकरणसंयोगात् पदार्थस्योदयो भवेत्[२] ।।

शिवस्वरूपा शक्तिरेव चितिः, तस्यां प्रतिबिम्बते सर्वम्। सा च न शिवाद् भिन्ना, शिवस्वरूपभूतत्वात्तद्रूपैव। न च बिम्बभूतशिवाद् भिन्नः प्रतिबिम्बभूतो जीवः, प्रतिबिम्बस्य बिम्बातिरिक्तसत्ताशून्यत्वात्। बिम्बभूतः शिव एव कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्युपाधिना प्रतिबिम्बितचैतन्यो जीवः। अविद्याकल्पितो हि जीवेशयोर्भेदः, न तु वास्तविकः।

पुरुषेश्वरयोरत्र न वैलक्षण्यमण्वपि ।
तदन्यकल्पना ज्ञानमज्ञानं प्रकृतेर्गुणः[३] ।।

अन्तर्निहितपदार्थजातं बिन्द्वात्मना बिम्बीभूतं चिदात्मके शिवस्वरूपे भासते। तत्र शिवस्य हि चित्स्वरूपम्, तस्मिंश्चान्तर्भूता जडपदार्था बाह्यरूपेण प्रकाशन्ते, अतस्ते शिवस्य शरीरत्वमादधते। यश्च चैतन्यसहितः प्रतिभासः, स जीवः। तत्र चितिरेव शिवस्योभयरूपतां प्रकुर्वते। सैव सृष्टेः सहकारिकारणम्, तदात्मकमेव जगत् सर्वम्।

शिवोऽहं त्वमुमे शक्तिस्त्वमेवाहमहं त्वमु ।
स्त्र्यात्मा त्वं वै पुमात्माहं शिवशक्त्यात्मकं जगत्[४] ।।

शिवोऽद्वितीयः सर्वव्यापकः सर्वनियन्तेत्युच्यते। तस्यैव स्वरूपवैभवमविद्या, माया, शक्तिरित्यभिधीयते। स्वकीययैवेच्छाशक्त्या एकः सन्नप्यनेकरूपतामापद्यते। सर्वव्यापकत्वादेतद्विश्वं तस्य वपुः, तदन्तर्भूताश्चेतनांशविशिष्टत्वाज्जीवास्तदंशाः। अतो जडचेतनोभयात्मकं जगत् शिवतत्त्वरूपमेव, न तद्भिन्नं किञ्चित्।

---

१. स्पन्दप्रदीपिकायाम्, पृ. ११३।
२. स्पन्दप्रदीपिकायाम्, पृ. ९०।
३. पारमेश्वरागमे, २१.६६।
४. पारमेश्वरागमे, २१.५०।

सृष्ट्वा तमेकमात्मानमनेकं कुरुते पुनः ।
एकीकृत्य ग्रसति यस्तस्मै रुद्र नमोऽस्तु ते[१] ।।

शिवाद्वैतविमर्शः

शक्तिः शिवस्वरूपैव तन्निर्मितजगत्तनुः ।
कर्तृत्वादिविशिष्टोऽसौ तदंशो जीव उच्यते ।।
अविद्यावशगो जीवस्तन्निवृत्तौ स्वयं शिवः ।
अतस्तयोर्न भेदोऽस्ति नांशिनोंऽशः पृथक् क्वचित् ।।

सर्वं हि शिवमयं न तद्भिन्नं क्वचित्। माया, अविद्या, शक्तिरिति नामभिर्लोके ख्याता जगत्सृष्टिस्थितिसंहारनिमित्तं मूलप्रकृतिः शिवस्वरूपैवास्ति। वस्तुतत्स्वरूपयोरभेदात् शिवाभिन्ना शक्तिः। प्रपञ्चस्तु शिवशरीरत्वेनोच्यते। शरीरशरीरिणोरभेदात्तदपि शिवाभिन्नमेव। औपाधिकभेदेन शिवतत्त्वस्यैव जीवपदेन व्यपदेशः। स च जीवस्तदंश एव अंशांशिनोरभेदात्तयोरभेद इत्युच्यते। यत् किमपि जगति प्रतीयते, तत्सर्वं शिवतत्त्वमेवास्ति। उक्तं च—

अहमेकः परानन्दः परमात्मा सदाशिवः ।
सृष्ट्वा मायामयीं शक्तिं तथाऽहं षड्विधोऽभवम् ।।

शिव एव सर्वत्रानेकशो भासते प्रतीयमानं सर्वं पदार्थजातं शिवाभिन्नमिति पक्षे शिवाद्वैतसिद्धान्तः। यन्मते शिवोऽपि शक्तिविशिष्टः, जीवश्च शक्तिविशिष्टः, तयोरद्वैतं यत्र स शक्तिविशिष्टाद्वैतसिद्धान्तः। सा शक्तिः शिवस्वरूपैवेति कृत्वा शिवाद्वैतमेव तत्।

।। इति शिवम् ।।

•

१. पारमेश्वरागमे, १५.१ ।

सद्गुरु के लक्षण और उसकी महिमा

प्रो. गङ्गाधर पण्डा

व्युत्पत्ति एवं निर्वचन

व्याकरण के नियम के अनुसार 'गृ' धातु से गृणाति 'गृ निगरणे' इस धातु से (गिरति/गिलति) 'उ' प्रत्यय करने पर गुरु शब्द की निष्पत्ति होती है। ज्ञान देना या उपदेश करने का अर्थ इससे द्योतित होता है, अतः गुरुशब्द का सामान्य अर्थ शिक्षक होता है। विभिन्न ग्रन्थों में गुरु शब्द का निर्वचन इस प्रकार है—

गुणातीतं गुकारं च रूपातीतं रुकारकम्।
गुणातीतमरूपं च यो दद्यात् स गुरुः स्मृतः[१] ।।

यहाँ गुरु शब्द मे स्थित 'गु' का अर्थ है प्राकृत सत्त्वादि गुणातीत एवं 'रु' का अर्थ है माया रूपरहित। इस प्रकार निर्गुण एवं निराकार परशिव चैतन्य का जो उपदेश दे सकता है, वह गुरु कहलाता है।

गुशब्दस्त्वन्धकारः स्याद् रुशब्दस्तन्निरोधकः।
अन्धकारनिरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते[२] ।।

इस पद्य के अनुसार 'गु' का अर्थ है अन्धकार एवं 'रु' का अर्थ है रोकने वाला। अतः गुरु का अर्थ है– वह शक्ति, जो अन्धकार को दूर कर सकती है।

गुकारः प्रथमो वर्णो मायादिगुणभासकः।
रुकारो द्वितीयो ब्रह्म मायाभ्रान्तिविनाशकम्[३] ।।

यहाँ गुरु शब्द का प्रथम तत्त्व 'गु' माया का उद्बोधक है और द्वितीय तत्त्व माया का विनाशक है।

इसी प्रकार आगमसार में एक महत्त्वपूर्ण निर्वचन उपलब्ध है—

---

१. सिद्धान्तशिखामणि, १५.४ ; २. अद्वयतारकोपनिषद् ।
३. गुरुगीता।

गकारः सिद्धिदः प्रोक्तो रेफः पापस्य दाहकः ।
उकारः शम्भुरित्युक्तस्त्रितयात्मा गुरुः स्मृतः ।।
गकारो ज्ञानसम्पत्त्यै रेफस्तत्त्वप्रकाशकः ।
उकाराच्छिवतादात्म्यं दद्यादिति गुरुः स्मृतः[१] ।।

इस निरुक्ति के अनुसार गुरु शब्द में स्थित 'ग्' आध्यात्मिक सिद्धि का 'र्' पापों का दहन का एवं 'उ' शिव का प्रतिनिधित्व करता है ।

पारमेश्वरागम के अनुसार गुरु का लक्षण इस प्रकार है—

सदाचाररतं शुद्धं शिवभक्तमलोलुपम् ।
यथार्थवादिनं शान्तं द्वेषासूयादिवर्जितम् ।।
विदिताखिलशास्त्रार्थमिङ्गितज्ञमनाकुलम् ।
अनर्थातुरमात्मज्ञमकामुकमवञ्चकम् ।।
वाग्मिनं शिवतत्त्वार्थबोधकं हृष्टमानसम् ।
एतादृशगुणोपेतमुपेयाद् गुरुमीश्वरम्[२] ।।

अर्थात् गुरु सभी शुभ लक्षणों से सम्पन्न, सब कुछ जानने वाला और सभी का आदरपात्र होना चाहिए। सदाचार का पालन करने वाला, शुद्ध चित्तवृत्तिवाला, शिव का भक्त, अचपल, यथार्थ वक्ता, शान्त, द्वेष एवं मात्सर्यादि दोषों से रहित, समस्त अर्थों को जानने वाला, इशारे से सब कुछ समझने वाला, अव्याकुल, द्रव्यलोभ से मुक्त, आत्मज्ञान से सम्पन्न, शिवतत्त्व के ज्ञान से सम्पन्न और सदा प्रसन्नचित्त रहने वाला है। इन सब गुणों से सम्पन्न ईश्वरस्वरूप गुरु की शरण में जाना चाहिए।

इस प्रकार की ये सब उपर्युक्त निरुक्तियाँ गुरुतत्त्व के चमत्कारपूर्ण अर्थ को प्रकाशित करती हैं। वीरशैव सम्प्रदाय के श्री जगद्गुरु रेणुकाचार्य जी गुरु का लक्षण इस प्रकार बताते हैं—

उपैति लोकविख्यातं लोभमोहविवर्जितम् ।
आत्मतत्त्वविचारज्ञं विमुक्तविषयभ्रमम् ।।
शिवसिद्धान्ततत्त्वज्ञं छिन्नसन्देहविभ्रमम् ।
सर्वतन्त्रप्रयोगज्ञं धार्मिकं सत्यवादिनम् ।।
कुलक्रमागताचारं कुमार्गाचारवर्जितम् ।
शिवध्यानपरं शान्तं शिवतत्त्वविवेकिनम् ।।

---

१. आगमसार । २. पारमेश्वरागम, २.६४-६६ ।

लिङ्गधारणसंयुक्तं लिङ्गपूजापरायणम् ।
लिङ्गाङ्गयोगतत्त्वज्ञं निरूढाद्वैतवासनम् ।।
लिङ्गाङ्गस्थलभेदज्ञं श्रीगुरुं शिववादिनम्[१] ।।

यहाँ कुलक्रमागताचार शब्द के महत्त्व पर बल दिया गया है। इसके साथ साथ अन्य योग्यताओं का रखना गुरु के लिए आवश्यक धर्म है। इसीलिए सूक्ष्मागम में कहा गया है—

पितृभ्रातृकलत्राणां पुत्रादीनां तथैव च ।
दीक्षाशिक्षाविधानार्थमेक एव गुरुर्भवेत् ।।
गुरवो यत्र बहवो भवन्त्यन्योन्यभेदतः ।
वीरशैवसदाचारस्तत्र नास्तीति निश्चयः[२] ।। इति।

गुरु के प्रकार

गुरु के विभिन्न धर्म एवं कार्य को लेकर आचार्यों ने इसके तीन भेद बताये हैं– दीक्षागुरु, शिक्षागुरु एवं ज्ञानगुरु।

१. दीक्षागुरु

दीयते परमं ज्ञानं क्षीयते पाशबन्धनम् ।
यया दीक्षेति सा तस्यां गुरुर्दीक्षागुरुः स्मृतः[३] ।।

अर्थात् परम्परागत गुरु ऐसी दीक्षा प्रदान करता है, जिससे शिष्य को शिवज्ञान की प्राप्ति होती है एवं उसका समस्त मल व्यपगत हो जाता है। वीरशैव धर्म के अनुसार दीक्षा लेना अनिवार्य है। गुरु शिष्य में शक्तिपात करके इष्टलिङ्ग प्रदानपूर्वक पञ्चाक्षरी मन्त्र देता है। इसमें स्त्री एवं पुरुषों का समान अधिकार है। जन्म से अष्टम वर्ष में दीक्षा लेने को उत्तम, षोडश वर्ष में मध्यम एवं तदुर्ध्व को अधम दीक्षा मानी जाती है।

दीक्षा

दीक्षा के बिना सभी धार्मिक क्रिया निष्फल है। जिस प्रकार हाथी सिंह को देखकर भाग जाता है, ठीक उसी तरह दीक्षाहीन व्यक्ति से शिव भाग जाते हैं।

---

१. सिद्धान्तशिखामणि, ६.२-७; २. सूक्ष्मागम।
३. सि. शि. १५.।

यथा मृगपतिं दृष्ट्वा भीतो याति वने गजः ।
अदीक्षितोऽर्चयेल्लिङ्गं तथैवाहं महेश्वरि[१] ।।

यह दीक्षा तीन प्रकार की है–वेधादीक्षा, क्रियादीक्षा एवं मन्त्रदीक्षा।

१. वेधादीक्षा

गुरोरालोकमात्रेण हस्तमस्तकयोगतः ।
यः शिवत्वसमावेशो वेधादीक्षेति सा मता[२] ।।

गुरु शिष्य के प्रति कृपापूर्ण दृष्टि रखकर हस्त से मस्तक का स्पर्श करते हैं। इससे शिष्य में शिवत्व का समावेश हो जाता है।

२. मन्त्रदीक्षा

मान्त्री दीक्षेति सा प्रोक्ता मन्त्रमात्रोपदेशिनी ।

गुरु शिष्य के कर्ण में 'शिव पञ्चाक्षर मन्त्र' को देता है। इससे शिव के मन्त्रमयस्वरूप का ज्ञान होता है। गुरु शिष्य के हृदय में प्रकाश रूप प्राण लिङ्ग का बोध कराते हैं।

३. क्रियादीक्षा

कुण्डमण्डलिकोपेता क्रियादीक्षा क्रियोत्तरा[३] ।

इस वचन के अनुसार मठ या मन्दिर में वीरशैव धर्म के अनुसार कलश की स्थापना करके पाँच आचार्यों का आवाहन किया जाता है एवं अभिषेक करके शरीर को शुद्ध किया जाता है। शरीर शुद्धि के बाद शिवलिङ्ग में शिवकलानियोजन द्वारा प्राणप्रतिष्ठा की जाती है। इसीलिए कहा गया है–

प्राणवद् धारणीयं तत् प्राणलिङ्गमिदं तव ।
कदाचित् कुत्रचिद् वापि मा वियोजय देहतः[४] ।।

२. शिक्षागुरु

दीक्षागुरुरसौ शिक्षाहेतुः शिष्यस्य बोधकः ।
प्रश्नोत्तरप्रवक्ता च शिक्षागुरुरितीर्यते[५] ।।

---

१. दीक्षा बोध।
२. सि. शि. ६.१३।
३. सि. शि. ६.१५।
४. सि. शि. ६.५.।
५. सि. शि. १५.१।

अत्यन्त सावधानीपूर्वक जो मन्त्रसाधना एवं प्राणलिङ्गानुसन्धान पद्धति को सिखाता है, उसे शिक्षागुरु कहते हैं।

३. **ज्ञानगुरु**

उपदेष्टोपदेशानां संशयच्छेदकारकः ।
सम्यग्ज्ञानप्रदः साक्षादेष ज्ञानगुरुः स्मृतः[१] ।।

जो गुरु अनेक युक्तियों के द्वारा शिष्य का संशय दूर कर जीवमुक्ति हेतु शिवाद्वैत ज्ञान प्रदान करता है, उसे ज्ञानगुरु कहते हैं।

उपसंहार

सभी परामपराओं का अध्ययन करने पर यह ज्ञात है कि गुरु शब्द की अवधारणा अपने अपने सम्प्रदाय में एक रहस्यात्मक अर्थ को व्यक्त करती है। योग दर्शन के अनुसार गुरु साक्षात् ईश्वर है, तो अद्वैत परम्परा में गुरु परब्रह्म है। समस्त मतों के महत्त्व को प्रतिपादित करके गुरुगीता में गुरु को मोक्ष का मूल बताया गया है–

ध्यानमूलं गुरोर्मूर्त्तिः पूजामूलं गुरोः पदम् ।
मन्त्रमूलं गुरोर्वाक्यं मोक्षमूलं गुरोः कृपा ।।



१. सि. शि. १५.१ ।

श्रीगुरुभ्यो नमः

पारमेश्वरागमे वर्णितं वीरशैवमतमाहात्म्यम्

श्री जगद्गुरु अन्नदानीश्वरमहास्वामिनः

चराचरजगतः सर्जनपालनसंहारसमर्थकात् परमेश्वराद् विनिर्गताऽष्टाविंशत्यागमाः। तेषु शिवागमा दशः रुद्रागमा अष्टादश। यथा हि कामज-योगज-चिन्त्य-मौकुट-अंशुमत्-दीप्त-कारण-अजित-सूक्ष्म-सहस्रा इत्येते पाशुपतमतसम्मता दश शैवागमाः[1]। 'कामज'स्थाने 'कामिक' इत्युपलभ्यते। 'मौकुट'स्थाने सुप्रभेदाख्यस्य नाम लभ्यते। अष्टादशागमा यथा–विजय-पारमेश्वर-निश्वास-प्रोद्गीत-मुखबिम्ब-बिन्दुसिद्धि-सन्तान-नारसिंह-चन्द्रकाश-भद्रसर्वात्मन्-स्वायम्भुव-विवास (विरस) रौरव-मुकुट-किरण-ललित-आग्नेय-सौरभेद-पराभयमित्येते।[2] इत्येषामागमानामुल्लेखः क्रियासारे कृतोऽस्ति। प्रथमतः कामिकागमस्य गणनां कृत्वा वातुलागमस्यान्तिमगणना क्रियते। 'चन्द्रकाश' इत्यागमश्चन्द्र-ज्ञानागम इति ज्ञायते। एतेष्वष्टाविंशत्यागमेषु पारमेश्वरागमो वीरशैवमतमाहात्म्यकथने प्रसिद्धो वर्तते। एष पुरातनश्च प्रतिभाति।

यथाऽऽगमेषु शैवमतप्रतिपादनं कृतम्, तथैव वीरशैवमतनिरूपणं निगदितम्। केषाञ्चिद् विमर्शकानामभिप्राय एतादृशो दृश्यते, यद् 'वीरशैवः' शैवमतस्य अङ्गमेव वर्तते, अपि च शैवस्य परिभेद इति। तदलीकं दृश्यते। यतः पारमेश्वरागमे एतादृशविमर्शकेभ्यः प्रत्युत्तरं विद्यते। अस्मिन्नागमे परमेश्वर एव वदति—

वीरशैवं तथाऽनादिशैवमादिपदं ततः।
अनुशैवं महाशैवं योगशैवं तु षष्ठकम्॥
सप्तमं ज्ञानशैवाख्यं तत्र सर्वोत्तमोत्तमम्।
वीरशैवमितीशानि तदङ्गानीतराणि तु[3]॥

---

१. शक्तिविशिष्टाद्वैततत्त्वत्रयविमर्शः, पृ. ३।
२. शिवागमसौरभकन्नड, पृ. २९।
३. पारमेश्वरागमे, १६-१७।

शिवप्रमाणेन वीरशैवमतमेवाऽनादिमतमिति ज्ञायते। परन्तु शैवमतमादिमतं कथ्यते। अनादिनाऽऽदिर्जायते। अतः वीरशैवः पुरातनः, स च बहुप्राचीनतां भजते स्म। वीरशैवः अनादिशैवः, आदिशैवः, अनुशैवः, महाशैवः, योगशैवः, ज्ञानशैवः इत्येते सप्तशैवाः। सप्तशैवेषु वीरशैव एव सर्वोत्तम इति कथितः शिवेन। इतराणि षट्शैवमतानि वीरशैवस्याऽङ्गानि दृश्यन्ते। अनेन प्रमाणेन वीरशैवमतस्य सर्वोत्तमत्वं ज्ञायते इदं मतं स्वतन्त्रमतमिति च प्रतिभाति।

पारमेश्वरागमे यद् षड्दर्शननिरूपणं कृतम्, तत्रापि वीरशैवदर्शनस्यैव प्रधानत्वं प्रतिपादितम्। यथा—

तन्त्रं तु षड्विधं प्रोक्तं षड्दर्शनविभेदतः।
वीरशैवं वैष्णवं च शाक्तं सौरं विनायकम्॥
कापालमिति विज्ञेयं दर्शनानि षडेव हि।
तत्तत्तन्त्रोक्तमार्गेण तत्तत्कर्म समाचरेत्[१]॥

अत्र षड्दर्शनविभागेन तन्त्रं षट्प्रकारं प्रोक्तम्–१. वीरशैवदर्शनम्, २. वैष्णवदर्शनम्, ३. शाक्तदर्शनम्, ४. सौरदर्शनम्, ५, विनायकदर्शनम्, ६. कापालदर्शनमिति। तत्तद्दर्शनोक्तमार्गेण तत्तदाचरणं समाचरेत्, न तु मिश्रयेत्। गाणपत्यादीनीतराणि मतानि सन्ति। तानि मतानि भवेयुः। तेषां प्रत्येकमाचरणं कर्तव्यम्। षड्दर्शनविचारेऽपि परमेश्वरो वीरशैवदर्शनं प्रथमत्वेन कथितवान्। अपि च—

"अत्रादौ वीरशैवाख्यं तन्त्राणामुत्तमोत्तमम्"[२] इति दिशा वीरशैवाख्यं मतं सकलतन्त्राणामुत्तमोत्तमं विद्यते। यतो हि कथ्यते परशिवेन

तत्र वक्ष्ये शिवे वीरशैवं सर्वोत्तमोत्तमम्।
....................................॥
वीरशैवमतं सद्यो भोगमोक्षैकसाधनम्।
सर्वोत्तमं मम मतं यतः सर्वोत्तमोऽस्म्यहम्॥
न वीरशैवसदृशं मतमस्ति जगत्त्रये।
सर्वभोगप्रदं पुण्यं शिवसायुज्यदायकम्[३]॥

शिवो वदति यद् वीरशैवस्य सर्वोत्तमत्वम्। वीरशैवमताचरणं यो भक्तः करोति।

---

१. पारमेश्वरागमे श्लोकाः २३-२४।
२. तत्रैव, श्लोकाः ३२।
३. तत्रैव, श्लोकाः ४०-४२।

तस्य भोगश्च मोक्षश्च सुलभः । इदं वीरशैवमतं यतः सर्वोत्तममिति पृच्छेत् चेत्, शिवः प्रतिपादयति–अहं सर्वेषां देवानामपि सर्वोत्तमोऽस्मि । स्वर्ग-मर्त्य-पाताललोकेषु वीरशैवसमानमन्यं मतं नास्ति । अस्मिन् वीरशैवमते सर्वभोगप्रदं पुण्यं विन्दति साधकः, अन्ते च शिवसायुज्यं लभते ।

कर्नाटकप्रदेशे प्रसिद्धः शि. शि. बसनाल इति विमर्शकः वीरशैवमतोत्पत्तिं प्रसारं च प्रतिपादयन् पारमेश्वरागमस्य द्वौ श्लोकावुल्लिख्य बसवाल्लमयोः स्तुतिं प्रदर्शयति; तौ श्लोकौ पारमेश्वरागमे कुत्रापि नैवोल्लिखितौ । बसवालमानां प्रसङ्गोऽपि तत्र नहि वर्तते । बसवाल्लमौ महानुभावौ वर्तेते । विमर्शकस्य एष अभिप्राये वर्तते; यो वीरशैवधर्मो द्वादशशताब्दानन्तरं उत्पन्न इति तदलीकम् । तस्य न कोऽपि आधारो विद्यते । विमर्शकेन प्रतिपादितौ श्लोकौ प्रक्षिप्तौ वर्तेते । अतो विमर्शका मुक्तमनसा आगमान् अवलोकयन्तु[1] ।

भारतीयदर्शनेषु जगन्मिथ्यात्वमेव कथितम् । सुभाषितकारेणोच्यते—

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः ।
नित्यं सन्निहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसङ्ग्रहः[2] ।।

पूर्वपुण्यवशादेव चतुरशीतिलक्षजन्मनः परं मानुषं जन्म लभते । परन्तु शरीराण्यनित्यानि । पुण्यतमं मानवशरीरं सम्प्राप्य पुरुषे मानवजन्मसाफल्यं यदि न साधयेत्, तर्हि मनुष्यत्वेन किं प्रयोजनम् ? मानवजन्म लब्ध्वा वीरशैवमतमवश्यं स्वीकुर्यात् । अत एव मानवहिताय शिवादेशः कृतः—

वीरशैवसदृशमन्यं मतं नैव विद्यते ।। इति ।

वस्तुतो मानवशरीरं क्षणविध्वंसि । यौवनं कुसुमोपमम्, आयुष्यं जलबिन्दुलोलचपलम् । विभवो नैव शाश्वतः । अतः परमहार-निद्रा-भय-मैथुनेषु पशुपुरुषयोः सामान्यं जीवनम् । केवलं ज्ञानाधिक्येन, धर्माधिक्येन च मानवः श्रेष्ठो भवति । तथापि मानवाय मृत्युर्नित्यं सन्निहितो वर्तते । अतो ज्ञानसाधनभूतं धर्मसाधनभूतं च मानवं जन्म सम्प्राप्य परमात्मानं यो न जानाति, परमात्मरूपमिष्टलिङ्गं न धारयति, तस्य जन्म निरर्थकमेव भवति ।

अद्यतन-नवनागरिकजीवने धर्ममोक्षयोरभाव एव दृश्यते । केवलमर्थकामयोः प्राबल्यं ज्ञायते धर्मशून्यत्वाच्च मोक्षस्यावकाशः कुतोऽस्ति ? यदा धर्माभावेनार्थः सम्पाद्यते, सोऽर्थः स्वार्थाय भवति । स तु अधर्माय प्रभवति । यदा मानवजीवनेऽधर्मेण

---

१. वीरशैवद हुए, हागु बेलवणिगे, प्रो शि. शि. बसणना, धारवाड (कन्नडग्रन्थ)
२. सुभाषितरत्नभाण्डागारे

धनसम्पादनं भवति, तदा दुर्बुद्धिरेव वर्धते। जीवनाभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिरूपो धर्म एव मानवाय मोक्षं प्रापयति।

मोक्षसाधनाय वीरशैवमतमेव सुलभं सुखदं च वर्तते। अत एवोक्तम्—

अपि पापशतं कृत्वा ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा।
वीरशैवमतं प्राप्य शिव एव न संशयः[१] ।।

पापशतानि कृत्वाऽपि वीरशैवमतस्वीकारं करोति यः, स निस्संशयं शिवरूपो भवति। अत्र शिवसंस्कार एव प्रधानम्। तदुक्तं पार्वत्यै परमेश्वरेण—

मम यो धारयेल्लिङ्गं यथोक्तं गुरुणा शिवे।
चाण्डालस्पृष्टदोषोऽपि स्मरतो नश्यति क्षणात्[२] ।।

शिवरूपमिष्टलिङ्गं गुरुणा संस्कारपूर्वकं दत्तं यो धारयति; तस्य सकलदोषाः शिवस्मरणमात्रेण क्षणादेव नश्यन्ति। भवसागरं तितीर्षुः पुरुषोऽवश्यं लिङ्गधारणं कुर्यात्। तदुक्तं मकुटागमे—

तितीर्षुर्जन्मवाराशिं नानादुःखग्रहाकुलम् ।
वेदागमान्तविदितं शाम्भवव्रतमाचरेत् ।।
तनुत्रयगताऽनादिमलत्रयविशोधनाः ।
लिङ्गत्रयानुसन्धानविशोषितभवाब्धयः[३] ।।

यो मानवोऽनेकप्रकारदुःखरूपिग्रहैर्व्याप्तं जनन-मरण-संसारसागरं तितीर्षुर्भवति, तेन वेदागमान्ते प्रतिपादितं शाम्भवव्रतमाचरणीयम्। शाम्भवव्रतमेव वीरशैवाचरणम्। अनेन शाम्भवव्रताचरणेन स्थूल-सूक्ष्म-कारणशरीरेष्वनादिकालेन पर्याप्ताणव-मायिक-कामिकमलत्रयाणां निवारणं सद्गुरुः त्रिविधदीक्षया कृत्वा, शिष्यस्य त्रिविधतनुष्विष्ट-प्राणभरणलिङ्गान् धारयति। एतेषां त्रिविधलिङ्गानामनुसन्धानेन भवाब्धिर्विशेषेण विशोषितो भवन्ति। अतो वीरशैवस्य पुनर्जन्म न भवति स लिङ्गानुसन्धानेन भवबन्धनान्मुक्तो भवति।

लिङ्गधारणप्रक्रियायां जातिभेदोऽपि न दृश्यते। वीरशैवस्तु न जातिवाचकः, परन्तु तत्त्ववाचको वर्तते। पारमेश्वरागमे एष विषयः स्पष्टं प्रतिपादितः—

---

१. पारमेश्वरागमे, १.४४।
२. तत्रैव, १.५४।
३. मकुटागमे, उत्तरभागे, १०-११।

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा ये चान्यजातयः ।
लिङ्गधारणमात्रेण शिवा एव न संशयः ।।
स्त्रियो बालास्तथा वृद्धाः खञ्जाः कुब्जान्धपङ्गवः ।
उन्मत्ता बधिराः काणाः शठा धूर्ताश्च वञ्चकाः ।।
चौरा जारास्तथा वेश्या आचाण्डालान्तसम्भवाः ।
मल्लिङ्गधारणादेव मद्रूपा एव ते शिवे ।।
यस्यास्ति भक्तिरीशानि वीरशैवमताश्रये ।
भक्तिमात्रपवित्रा हि सर्व एवाधिकारिणः[1] ।।

अत्रेष्टलिङ्गधारणं मुख्यमस्ति। ये ब्राह्मणाः, क्षत्रियाः, वैश्याः, शूद्राः चान्यजातयो भवेयुः, ते सर्वे इष्टलिङ्गधारणेन निस्संशयं शिवरूपिणो भवन्ति। अत्राऽवस्थाभेदोऽपि नास्ति। ये च स्त्रियो बाला वृद्धा स्युः, अपि चाङ्गविकलाः भवेयुः, ये च खञ्जाः, कुब्जाः, अन्धाः, पङ्गवः–ते सर्वेऽपि लिङ्गधारणमात्रेण शिवस्वरूपिणो जायन्ते। एवं चोन्मत्ताः, बधिराः, काणाः, शठाः, धूर्ताः, वञ्चकाश्चोराः, जाराः, वेश्याः, आचाण्डालपर्यन्ता ये जनाः वर्तन्ते, ते लिङ्गधारणेन त्रिमलशून्यत्वाच्च शिवरूपिणो भवन्ति। अत एव वीरशैवमतं श्रेष्ठतमं विद्यते। येषां मानवानां वीरशैवधर्माश्रये भक्तिरस्ति, ते सर्वे वीरशैवधर्मस्याधिकारिणो भवन्ति। यतो हि भक्तिमात्रेण ते पवित्रा जायन्ते।

सर्वज्ञं सर्वेशं शङ्करं पृच्छति पार्वती–हे सकलोत्तम। वीरशैवमते वीरपूर्वत्वे किं प्रमाणम्? इहोच्यताम्। तदा ईश्वरः प्रत्युवाच—

वीरत्वं नाम विश्वेशि तुरीया यत्र तत्र वै ।
गुरूक्तमार्गनिरता मते वीरपदाभिधे ।।
सर्वेऽपि वीरा देवेशि तुरीयास्तत्र तत्र ये ।
किन्तु मे शैवभेदो यो वीरशैवः स उच्यते[2] ।।

हे विश्वेश्वरि! तुरीयावस्थायां स्थितो योगिः 'वीर' नाम्ना कथ्यते। वीरशैवमते नु, ते वीराः कथ्यन्ते। ये गुरूक्तमार्गे निरताः साधकाः। हे देवेशि चतुर्थावस्थायामनुष्ठीयमानाः सर्वे ते वीरा भवन्ति, किन्तु 'वीरशब्दः' वीरशैवमत एव रूढो भवेत्। अतः परं शिवो लिङ्गधारणमाहात्म्यं भणति—

---

१. पा. आ. ५८-६०, ६२।
२. तत्रैव, श्लोकः ६६।

अत्र वक्ष्ये विशेषं ते लिङ्गधारणवैभवात् ।
भक्तिमात्रेण कल्याणि ! सुखं दुःखाम्बुधिं तरेत् ।।

हे कल्याणि ! वीरशैवमतस्य विशेषताऽधिका वर्तते । तत्ते वक्ष्यामि यदिदमिष्टलिङ्गधारणमहत्त्वमेव विद्यते । इष्टलिङ्गे भक्तिं कृत्वा सुखदुःखसागरस्य पारं तरति । बिना शिवानुग्रहेण शिवभक्तिर्नैव सम्पद्यते । शिवसंस्कारविहीनस्य पुनर्जन्माऽपि न नश्यति । अत एव शिवेनाऽऽदेशः प्रदत्तः–

न प्रकाशय कुत्रापि विना भक्तं सुलक्षणम्[1] । भक्तिविहीनाय वीरशैवमतमाहात्म्यं तत्त्वं च न प्रकाशयेत् । सुलक्षणयुक्तभक्तायैव कथ्यताम् ।

लिङ्गधारी भक्तः सदा शुचिर्भवति, लिङ्गं त्वनिष्टपरिहारकमस्ति । लिङ्गधारणेन कस्यचित् मानवस्याऽशुचिर्नैव लिप्यते । अत एव भणितम्—

रतावशुद्धावुद्योगे रणे निद्रादिषु प्रिये ।
कर्मणा मनसा वाचा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।
न लिङ्गमुत्सृजेत् क्वापि प्राणैः कण्ठगतैरपि ।।
न पूजापि परित्याज्या कृच्छ्रेऽपि कुलनायिके ।
धारयेदात्मतादात्म्यं प्राणलिङ्गं ममेति तत्[2] **।।**

सदा लिङ्गधारणेनापवित्रता नैवागच्छति । सम्भोगसमये, अपवित्रकर्मणि, शुद्धभूमौ, निद्राकालेऽपि कर्मणा, मनसा, वाचा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थास्विष्टलिङ्गं नैवोत्सृजेत् । प्राणापायसमयेऽपि लिङ्गं धारयेत्, यतः इष्टलिङ्गं प्राणलिङ्गमेव वर्तते । अतोऽवधानेन, आत्मतादात्म्यभावेन लिङ्गं धारयेत्, सदा प्रपूजयेच्च ।

वीरशैवस्य पर्यायनामानि बहूनि सन्ति । आगमेषु वीरशैवस्य शिरोव्रती, शाम्भवव्रती, अत्याश्रयीत्यादिनामानि कथितानि । शरणसिद्धान्ते लिङ्गवन्तः लिङ्गायतः, लिङ्गशरीरी, मन्त्रशरीरी, अप्राकृतशरीरी, प्रसादकायः, प्रकाशकायः, व्योमकायः, सर्वाङ्गलिङ्गी, वीरशैव इत्यादिनामान्यन्वर्थकानि दृश्यन्ते । वीरशैवपदमप्यर्थपूर्णं विद्यते । वीरशैवपदस्य निर्वचनं सैद्धान्तिकमेव वर्तते । तदुक्तं सिद्धान्तशिखामणौ भगवता रेणुकाचार्येण—

वीशब्देनोच्यते विद्या शिवजीवैक्यबोधिका ।
तस्यां रमन्ते ये शैवा वीरशैवास्तु ते मताः[3] **।।**

---

१. पा. आ. श्लोक ८७ ।

२. पा. आ. २.१९-२०-२२ ।

३. सिद्धान्तशिखामणिः, ५.१५ ।

'वीर'शब्देनास्य मतस्य दार्शनिकसिद्धान्तः, सम्प्रदायाचारश्च प्रकटो भवति। वीरशैवसिद्धान्ते शिवदीक्षासम्पन्नस्य साधकस्य शरीरे इष्टलिङ्गधारणं सदा कर्तव्यम्। प्रमादेनापि कदाचिदिष्टलिङ्गं शरीराद् न त्यजेत्। एतल्लिङ्गं प्राणवद्धारणीयम्। यत इदं प्राणलिङ्गं वर्तते। 'वी'पदेनास्य मतस्य दार्शनिकसिद्धान्तभूता शिवजीवयोरैक्यविद्या बोध्यते। 'र'कारेण तस्यां विद्यायां यो रममाणः स वीरशैवः प्रभवति। अयमेव शिवयोगः। शिवयोग एव एतन्मतस्य सिद्धान्तः। शङ्करसंहितायां वीरशैवपदपरिभाषा स्पष्टतयोक्ता—

यो हस्तपीठे निजलिङ्गमिष्टं
विन्यस्य तल्लीनमनःप्रचारः।
बाह्यक्रियासङ्कुलनिस्पृहात्मा
सम्पूजयत्यङ्ग स वीरशैवः[1]॥

यो भक्तः स्वीयवामहस्ते गुरुणा संस्कारपूर्वकं प्रदत्तमिष्टलिङ्गं विन्यस्य तल्लिङ्गे दृष्टिं संस्थाप्य लिङ्गध्यानपरायणमनो भवति, एवं च बाह्यक्रियासमूहे तस्येच्छा निर्गता विद्यते, स लिङ्गलीनमनाः शिवयोगसाधनवानेव स्यात्। एतादृशप्रक्रियावानेव वीरशैवनामको भवति। लिङ्गाङ्गसामरस्यमुखेन शिवयोगं साधयन् स वीरशैवः कथ्यते। स भक्तः सत्यं 'वीर'पदस्य अन्वर्थकं नाम धारयति भोग्येयमायिदेवो विशेषार्थप्रकाशिकायां वीरशैवशब्दस्य व्याख्यानमित्थं करोति–

वीरशैवनिरुक्तिर्या द्वयमेवाधुनोच्यते।
वीशब्दोऽत्र विकल्पार्थो रशब्दो रहितार्थकः।
विकल्परहितं शैवं वीरशैवमिति स्मृतम्[2]॥

अत्र द्विविधरीत्या वीरशैवपदस्य निरुक्तिः कथिता, 'वीर'पदस्य 'वी' 'र' अक्षरयोः विशेषार्थः प्रदर्शितः। द्वयोरर्थो न तु यथार्थः, किन्तु कृत्रिमार्थ इति ज्ञायत इति सन्देहे पुनर्मायिदेवः कथयति—

एकमेवाद्वितीयं यदविकल्पं परं पदम्।
तद्वीरशैवमित्युक्तं नेतरत् सविकल्पकम्[3]॥

एषोऽर्थो युक्तियुक्तः। परब्रह्म 'एकमेवाद्वितीयम्।'' अतस्तदविकल्पकम्। विकल्परहितः

---

१. शङ्करसंहितोक्तिः।

२. विशेषार्थप्रकाशिका, २.३०-३१।

३. तत्रैव।

शैव एव वीरशैवः कथ्यते। ब्रह्मपदवाच्यमिष्टलिङ्गमप्येकेश्वरत्वस्य चिह्नम्। इतरशैवमतं सविकल्पकं ज्ञायते। इष्टलिङ्गं मणिकल्पं परं च वर्तते। लिङ्गाचारेऽन्यदेव कल्पनापि परित्यज्यत एव।

वीरशैवमते लिङ्गधारकाः सदा पवित्रा एव विद्यन्ते। यतस्ते त्रिमलरहितत्वात् सूतकनाशत्वाच्च शुद्धा भवन्ति। अत एवोक्तम्—

धृतलिङ्गशरीरत्वात् सदा तु ज्ञानसम्भवात्।
शुचिरेव सदा तस्य नाशुद्धिर्नैव चाशुचिः[1]॥

इष्टलिङ्गधारिणः शरीरं सदा पवित्रमेव विद्यते। तस्या शुद्धिरशुचित्वं वा नैव लिप्यते। संस्कारकारणात् ज्ञानसम्भवेन सत्क्रियासम्पन्नत्वेन च लिङ्गधारी पवित्रो विद्यते। लिङ्गधारिणोऽन्यमतस्य धर्मस्तस्य धर्मो न भवति। वीरशैवोऽधर्मैः, पाषण्डैः, दुर्वृत्तैः, विषयलोलुपैः, धूर्तैः, गुरुभक्तिविहीनैः सह सङ्गं नैव करोति।[2] सत्सङ्गे शरणजनसम्पर्के वसन् स्वीयाचरणे निरतो भवति। तथा च लब्धदीक्षः शिष्यः सदा लिङ्गपूजां करोति। त्रिकाललिङ्गपूजा प्रशस्ता वर्तते। सैव परमेश्वरेण भणिता–

समबुद्धिर्भवेदात्मगुरुलिङ्गशिवेषु च।
त्रिकालमर्चयेल्लिङ्गं न्यायार्जितधनादिभिः।
द्विकालमेककालं वा सर्वदा लिङ्गमर्चयेत्[3]॥

वीरशैवः समबुद्धिमान् भूत्वा आत्मोद्धारकगुरौ च लिङ्गे च शिवे च तारतम्यं नैव कुर्यात्। नित्यमुद्योगं कृत्वा न्यायेन सम्पादितधनादिभिर्लिङ्गं त्रिकालमर्चयेत्। त्रिकाललिङ्गार्चनाऽभावे द्विकालमेककालं वाऽभ्यर्चयेत्। लिङ्गार्चनेनैव शरीरशुद्धिर्मनःशुद्धिर्भावशुद्धिश्च जायते। स्वस्थो वीरशैवः लिङ्गपूजां कदापि न सन्त्यजेत्। लिङ्गपूजने न कोऽपि जातिभेदो विद्यते। तदेव कथितम्—

न स्त्रीभेदो न पुंभेदो जातिवर्णाश्रमादिकम्।
सर्वातीतमिदं विद्धि वीरशैवमतं मम[4]॥

वीरशैवमते तु स्त्रीभेदः, पुंभेदोऽपि नास्ति। जातिवर्णाऽऽश्रमादिकमतिक्रम्य वीरशैवो वर्तते। अत एव परमेश्वरो निगदति पार्वत्यै–"मम वीरशैवमतं सर्वातीतं

---

१. पा. आ. २. २७-२८। २. तत्रैव ३.६३-६६।
३. तत्रैव ५.३६-३७। ४. तत्रैव ५.४१।

विद्धि''। लिङ्गार्चनासक्तेषु वीरशैवेषु भेदभावोऽपि नैव विद्यते। लिङ्गधारणमाध्यमेन सर्वे समाना भवन्ति, परस्परं गौरवं च धारयन्ति।

अभिवन्देत् तदान्योन्यं न भेदो लिङ्गधारिणाम्।
न ब्रह्मचर्यनियमो न वानप्रस्थलक्षणम्।
न संन्यासो न वैराग्यं यदि लिङ्गार्चने रतिः[१]।।

लिङ्गधारी अन्यलिङ्गधारिणं दृष्ट्वाऽभिवादयेत्। तत्र ब्रह्मचर्यवानप्रस्थादिभेदोऽपि नैव विद्यते। लिङ्गार्चने संन्यासवैराग्यभेदोऽपि नास्ति। आबालवृद्धा वीरशैवाः समानशीला भवन्ति।

दीक्षितो वीरशैवायां दीक्षायां धृतलिङ्गकः।
न नीचमाचरेत् कर्म नायासं नापि कुत्सितम्[२]।।

वीरशैवदीक्षासम्पन्नो धृतलिङ्गको नीचं कर्म कदापि नैव कुर्यात्, कुत्सितमायसकरं कर्माऽपि सन्त्यजेत् शिवपूजाकार्ये च जिपुणत्वं मा कुर्यात्। अष्टविधार्चनमेव कुर्यात्।

तिलाक्षतैर्बिल्वदलैर्नित्यपूजां समाचरेत्[३]।।

नित्यलिङ्गपूजने जलं तिलमिश्रितानक्षतान्, बिल्वदलानि, पुष्पाणि, धूप-दीप-नैवेद्य-ताम्बूलादीनि समर्पयेत्। पूजासमये विनयभक्तिभावेन समर्पणभावेन च लिङ्गं प्रपूजयेत्। अनेकेषु एकत्वभावनात्, ज्ञानकर्मसमन्वयात् वीरशैवमतं श्रेष्ठतममिति शिवेन प्रमाणीकृतम्—

यथापवर्गः प्राप्येषु तथा वीरशैवमतं मम।
तत्र सप्तविधानां तु वीरशैवमनुत्तमम्।।
वीरशैवमतं तत्र विशेषेण समाश्रयेत्।
इति ते कथितं देवि वीरशैवमतोत्तमम्[४]।।

प्राप्तवस्तुषु यथापवर्गः (मोक्षः) श्रेष्ठो वर्तते, तथैव सर्वमतेषु शैवमतमधिकं दृश्यते। सप्तशैवेषु वीरशैवमतं अनुत्तमम्; अर्थात् श्रेष्ठतमम्, सर्वोत्तममिति पञ्चमपटलान्ते परमेश्वरः पार्वत्यै बोधितवान्–हे देवि ! सर्वश्रेष्ठ-वीरशैवमतस्य स्वरूपं तुभ्यं कथितम्। तथा च तस्याचरणनिरूपणमपि प्रतिपादितमिति।

---

१. पा. आ., ५.४१-४२। २. तत्रैव, ५.६७-६८।
३. तत्रैव, ५.८१। ४. तत्रैव, ५.१०५-१०७।

वीरशैवमतमाहात्म्ये तत्त्वत्रयस्य परिज्ञानमावश्यकं भवति। वीरशैवस्याऽष्टावरणमेवाऽङ्गानि भवेयुः, पञ्चाचाराः प्राणाः स्युः, षट्स्थलमात्मा स्यात्। एतत्तत्त्वत्रयस्य परिज्ञानेन नित्याचरणेन च वीरशैवस्य माहात्म्यमवगम्यते। अतः पारमेश्वरागमे षष्ठपटले षट्स्थलस्वरूपनिरूपणं कृतम्, सप्तमपटले षट् शैवनिरूपणानन्तरमष्टावरणप्रतिपादनं जातम्। पञ्चाचारा वीरशैवस्य ध्येयभूता विद्यन्ते। अष्टावरणसम्पन्नः पञ्चाचारपरायणः सन् षट्स्थलमात्मप्रत्ययत्वेन आचरणीयं स्यात्–गुरुलिङ्गं जङ्गमश्च पादतीर्थं प्रसादकम्।

देहे विभूतिरुद्राक्षौ मम पञ्चाक्षरी मनुः॥
अष्टावरणसंयुक्ता वीरमाहेश्वरा नराः।
मम रूपधरा देवि विचरन्ति महीतले[१]॥

गुरुः, लिङ्गम्, जङ्गमः, पादोदकः, प्रसादः, विभूतिः, रुद्राक्षः, मन्त्रः–इत्येतान्यष्टावरणानि सन्ति। अष्टावरणसंयुक्तो वीरशैवः शिवरूपधारी भूत्वा महीतले विचरन्तीति शिवेन प्रतिपादितम्। अष्टावरणे प्रथमा गुरुकृपा, गुरुकृपया इष्टलिङ्गप्राप्तिः, इष्टलिङ्गाराधनं जङ्गमसन्तृप्त्या सफलं भवति जीवनम्। जङ्गमाराधनेन पादोदकप्रसादप्राप्तिर्भवति। विभूतिरुद्राक्षमन्त्राः पूजासाधनभूता विद्यन्ते। पञ्चाचाराः प्राणा भवन्ति। अष्टावरणसम्पन्ने पञ्चाचारपरायणेन षट्स्थलात्मनः साक्षात्कारो लभ्यन्ते। परमेश्वरः कथयति–"तन्मन्थनोत्थितं सारं वीरशैवं परं शिवे"[२] इति।

सकलशैवमतानां मन्थनेनोत्थितं सारभूतमेव वीरशैवमतम्। परमेशं पृच्छति पार्वती माता–हे करुणासिन्धो! "वद मे षट्स्थलज्ञानलक्षणं तत्फलं विभो"[३] इति। तदा परमेश्वरः प्रतिवदति–

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि स्थलषट्कस्य लक्षणम्।
यज्ज्ञात्वा जायते सद्यः शिव एव न संशयः॥
गोपनीयं प्रयत्नेन दरिद्राणां यथा निधिः।
शिवभक्तिविहीनाय दुराचाररताय च।
नास्तिकाय न दुष्टाय वक्तव्यः षट्स्थलक्रमः[४]॥

हे देवि! षट्स्थलस्वरूपलक्षणं प्रवक्ष्यामि, तत्सर्वं शृणु। षट्स्थललक्षणं ज्ञात्वा सद्यः शिव एव भवति, तत्र संशयो नास्ति। दरिद्राणां कृते निधिर्गोपनीयो वर्तते, तद्वत्

१. पा. आ., ७.५४-५५। २. तत्रैव, ७.९०।
३. तत्रैव, ६.१। ४. तत्रैव, ६.२-४।

षट्स्थलं प्रयत्नेन गोप्यं कुर्यात्। षट्स्थलतत्त्वं शिवभक्तिविहीनाय दुराचारे रताय नास्तिकाय दुष्टमनुष्याय च कदापि न वक्तव्यम्। यतः शिवभक्तिविहीनो मानवस्तत्त्वेष्वास्तिक्यभावं नहि करोति। वीरशैवमते श्रद्धाभाव एव प्रमुखः।

स्थलं नाम परमात्मा सच्चिदानन्दरूपः। तदेवोक्तमस्मिन् आगमे—

अहमेव जगत्स्रष्टा पुनर्मय्येव लीयते।
अहमेव स्थलं विद्धि षड्विधं मम रूपकम्।।
भक्तो माहेश्वरश्चैव प्रसादी प्राणलिङ्गकः।
शरणः शिवलिङ्गैक्यः स्थलषट्कं मम प्रियम्[१]।।

शिवः कथयति–अहमेव जगत्स्रष्टा। इदं जगत् पुनर्मय्येव लीयते। सर्जनलयकर्तृत्वेन स्थलं नाम जायते। स्थलं तु षड्विधं भवति। भक्तः, माहेश्वरः, प्रसादी, प्राणलिङ्गी, शरणः, ऐक्यः–इत्येते षट्स्थलपदवाच्या भवन्ति। अत्र भक्तादिस्थलत्रयं पूज्यपूजकभावेन वर्तते। षट्स्थलात्मकपूजाविधानेन साधकः शिवरूपो भवति। प्राणलिङ्गिस्थले तु शिवाद्वैतभाव एव निष्पद्यते। अत एवोक्तम्—

यः प्राणलिङ्गलिङ्गी स्यात् स रुद्रो नात्र संशयः।
प्राणलिङ्गिस्थलमिदं मम चातिप्रियं शिवे[२]।।

यः प्राणलिङ्गी भवति, सः निस्संशयं रुद्रो भवति। इदं प्राणलिङ्गिस्थलं शिवायाऽतिप्रियं जायते। एवमेव शरणस्थलमपि भवति—

शरणत्वाधिकारी यः स देहान्ते शिवो भवेत्।
शरणाख्यस्थलमिदं मम चातिप्रियं शिवे।।
व्योमतत्त्वमिदं देवि तनुरन्यतमा मम[३]।।

यः शरणः, स देहान्ते शिवरूप एव भवति। यत एतत् शरणस्थलमपि शिवस्य प्रियतरं विद्यते। शरणस्थले तु तस्य तनुर्व्योमकायो जायते। शरणो व्योमाङ्गो वर्तते। वीरशैवस्य महिमाऽपारतरा विद्यते। द्वादशाब्दीयोऽल्लमप्रभुदेवे व्योमकायसिद्धिं लब्धवान्।

षट्स्थलसाधनेन बहवो लाभा भवन्ति। साधकजीवने आचारविचारसमन्वयो

---

१. पा. आ., ६.७-८।
२. तत्रैव, ६.२९।
३. तत्रैव, ६.२४-२५।

लभ्यते साधनेन जन्मसंसारबन्धनान्मुच्यते। शिवस्य षट्शक्तयो षट्स्थलसाधके समाविष्टा भवन्ति। षट्स्थलसाधने भक्तिः प्रवर्धते। कर्मक्षयो भवति। सुबुद्धिर्जायते। पूज्यशङ्कराचार्येण कथितम्—

"भक्तिः किं न करोत्यहो वनचरो भक्तावतंसायते"[1] इति। भक्त्या वनचरो बेडरकण्णप्पाख्यः भक्तश्रेष्ठोऽभवत्। भक्तिप्रभावेणैव दुर्वासनानुबन्धीनि कर्माणि क्षीयन्ते। कर्मबन्धेषु नष्टेषु बुद्धिः स्वच्छा भवति, पवित्रा जायते। सन्त्यक्तविषया बुद्धिः परमात्मचिन्तने संलग्ना जायते। यस्य निर्मला बुद्धिर्भवति, तेन शिवयोगो लभ्यते। तदेवोक्तम्—

यस्यास्ति निर्मला बुद्धिरधीशे मयि शङ्करे।
स मामुपैति भ्रमरकीटन्यायेन सुन्दरि[2]॥

यस्य निर्मला बुद्धिः, स भ्रमरकीटन्यायवत् शिवरूपो भवति। एवं च शरणस्य हृदये गुरूक्तवाक्यार्थचिन्तनं भवति। तेन हिताऽहितविवेको जायते। स सकलं शुभाशुभं जानाति। एतादृशविचारवति शरणे ईश्वरस्वरूपज्ञानं सञ्जायते। शिवज्ञानेन दर्पसंक्षयो भवति। स सम्यग् ज्ञानी, शिव एव भवति।

अष्टमपटले वीरशैवलक्षणाचारनिरूपणे प्रथमं वीरशैवपदस्थ'वीर'शब्दस्य व्याख्या प्रतिपादिता। यथा—

वीरत्वं नाम देवेशि यथा वीरो रणे भटः।
तथा मते च सद्भक्त्या वीरो वैराग्यतो दृढात्॥
एषणात्रयनिर्मुक्ता ज्ञानविज्ञानतत्पराः।
दृढवैराग्यसम्पन्ना वीरास्ते शिवयोगिनः[3]॥

ईश्वरः पार्वत्यै प्रतिवदति। हे देवेशि! यथा रणरङ्गे भटो वीरो भवति, तथा वीरशैवमते सद्भक्त्या वैराग्यतो दृढवीरो भवति। एवञ्च पुत्रैषणावित्तैषणालोकैषणाभिर्विनिर्मुक्तो ज्ञानविज्ञानेषु तत्पराः शिवयोगिनो वीरा भवन्ति। ये वीरशैवाः परनारीरूपदर्शने अन्धाः, परदोषानुवादने मूका वर्तन्ते, सर्वज्ञा अपि बाला इव विद्यन्ते, परकान्तासु षण्डाः, अन्यपीडने पङ्गवः, विषयरसास्वादने अजिह्वा भवन्ति, त एव वीराः कथ्यन्ते। ये चामानिनः, अदम्भिनः, अहिंसावादिनः, आर्जवान्विताः, गुरुलिङ्गजङ्गमभक्तिपरायणाः,

---

१. शिवानन्दलहरी।

२. पा. आ. ६.५०।

३. तत्रैव, ८.७.८।

सर्वत्र समचित्ताः, विशुद्धभक्ताः, एकान्तवासिनो ध्यानरता भवन्ति, त एव निजवीरशैवाः, त एव वीराः सम्पद्यन्ते। वीरशैवव्रतस्थो भक्तः शिवपूजां विना अन्यत् कार्यं न करोति, किञ्चित् न खादति, शिवध्यानं शिवस्मरणं शिवकीर्तनं विना दैनन्दिनकार्यं न करोति। आचारविचारैरेव वीरशैवमाहात्म्यं व्यक्तं वर्तते। अयमेव नियताचारोऽस्ति।

नित्यं प्रातश्च सायं च पूजा नित्यैकदा शिवे।
अशक्तश्चासहायश्च यथेच्छं पूजयेत् सदा।
शक्तोऽपि यो न कुरुते रौरवे नरके वसेत्[1] ।।

लिङ्गधारी भक्तो नित्यं त्रिकालमभ्यर्चयेत्, प्रातः सायमपि पूजां कुर्यात्। अशक्तोऽसहायकोऽपि नित्यैकदा लिङ्गपूजां कुर्यात्। शक्तोऽपि वीरशैवः लिङ्गपूजां न करोति, चेत्, स रौरवे नरके वसेद् इति शिवाज्ञा विद्यते। नित्याचारविचारेणैव वीरशैवः सर्वेषु प्राणिषु श्रेष्ठतमो भवति। यथा हि—

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः बुद्धिमन्तस्ततोऽधिकाः।
ततस्ततोऽपि च बृहद् बृहदाकृतयो जनाः ।।
सर्वोत्तमा हि मनुजास्तत्र विप्रा महोत्तमाः।
वेदिनः कर्मकर्तारस्तदर्थज्ञा विशेषतः ।।
ततो वेदान्तसारज्ञास्ततः संन्यासिनः परे।
ततः पाशुपताः श्रेष्ठा लिङ्गिनस्तु ततोऽधिकाः ।।
ततोऽधिका महाश्रेष्ठा वीरमाहेश्वराः शिवे।
न तेभ्यो ह्यधिकः कश्चिद् वीरशैवाश्रयात् परः ।।
तावन्महिमसम्पन्नो वीरशैवः परः शिवः[2] ।।

सर्वेषु मानवेषु लिङ्गधारिण एव श्रेष्ठाः, तत्रापि वीरमाहेश्वरा महाश्रेष्ठाः। तेभ्यस्तु न कोऽप्यधिक इति प्रतिपाद्यते। "वीरशैवः परः शिवः" इत्येत्कथनाद् वीरशैवस्य माहात्म्यं ज्ञायते। अपि च—

वीरशैवमतस्थस्य मुक्तिः करस्थले स्थिता।[3] वीरशैवमतस्याऽऽचाराननुसरतो भक्तस्य करस्थले मुक्तिः प्रत्यक्षेति शिवेनैव प्रतिपादनाद् वीरशैवमाहात्म्यं स्पष्टं दर्शितमेव।

पारमेश्वरागमे नवमपटले प्रत्येकं वीरशैवमतमाहात्म्यनिरूपणं कृतम्। यथा

१. पा. आ., ८.६५-६६।
२. तत्रैव, ८.६६-७३।
३. तत्रैव, ८.७८।

काश्यां मरणान्मुक्तिर्लभ्यत इति श्रद्धा वर्तते, तथैव वीरशैवमते प्रवेशमात्रेण शिवो भवति। यद्वत् क्षुधितस्यापि तृप्तस्य वा शर्करा मधुरा भवति, तद्वद् ज्ञानिनोऽज्ञानिनो वा वीरशैवमतं सुखप्रदमेव विद्यते[१]। यदि वीरशैवमतं प्रविश्य यः कश्चिदाचारहीनो जायते, स प्रायश्चित्ती नूनं भविता। तत् कथितं शिवेन—

वीरशैवमतं प्राप्य यो बुद्ध्या विषयातुरः।
श्वानयोनिशतं गत्वा चाण्डालो भुवि जायते॥
वीरशैवमतं प्राप्य यः कुर्यात् प्राणिहिंसनम्।
कर्मणा मनसा वाचा स वसेद् रौरवे चिरम्॥
भोगार्थं सङ्ग्रहं मद्यं मांसं स्त्रीं च कलञ्जनम्।
स कोटिजन्मसु श्वा वै चाण्डालो भुवि जायते[२]॥

आचारनिष्ठो वीरशैवः; अनाचारेण तु वीरशैवत्वं न लभ्यते। आचारहीना वीरशैवा अपि रौरवे नरके गच्छन्ति। तदुक्तम्—

यः पश्यत्यन्धवद्रूपं शब्दवद् बधिरोपमः।
काष्ठवद् दृष्टदेहो यो वीरशैवः स उच्यते॥
न बुद्ध्या चिन्तयेदर्थं वीरशैवव्रते सकृत्।
न प्राणिपीडनपरो वीरशैवः स उच्यते।
मर्म विज्ञाय शास्त्रस्य यो बुद्ध्या विषयातुरः॥
तस्य नास्त्येव नास्त्येव मत्पदप्राप्तिरीश्वरि[३]॥

वीरशैवमतस्थः साधक आचारे दृढमनस्को भवति, सुन्दरस्त्रीरूपं दृष्ट्वाप्यन्धवत् तिष्ठति। शब्दज्ञानविदपि बधिरोपमो भवति। यो काष्ठवत् स्वीयशरीरं पश्यति, स एव वीरशैवो भविता। वीरशैवव्रतस्वीकारानन्तरमर्थचिन्तां परित्यजेत्। (कायक) नित्योद्योगशीलतयाऽर्थचिन्ता न भवति। वीरशैवः प्राणिपीडनम्, हिंसादिकं कर्म कदापि न कुर्यात्। शास्त्राणां रहस्यं ज्ञात्वापि यदि विषयासक्तो भवेद्यदि स वीरशैवो न भवति। तस्य शिवपदप्राप्तिर्नैव भविता। यदिदं सत्यं वचः। कदापि बलात्काराद्वा वीरशैवमते न प्रवेशो वर्तते। अलिङ्गिना सह सम्पर्कं मा कुर्यात्। यत आचारभेदात् विचारभेदाच्च सम्बन्धो नैव युज्यते। वीरशैवमते तु कायक्लेशादिकमुपवासादिव्रतादावुपोषणमपि न कर्तव्यम्। वीरशैवमते सहजाचारविचारसमन्वयात्, क्रियाज्ञानसमुच्चयाच्च तन्मतवैशिष्ट्यं पूर्णं वर्तते। तदेवोक्तम्—

---

१. पा. आ., ९.१२-१३।
२. तत्रैव, ९.२३-२७।
३. तत्रैव, ९.२८-३२।

तत्र सर्वोन्नतं वीरशैवव्रतमनुत्तमम्[१] ।।

अत्र वीरशैवव्रतमेव सर्वोन्नतं प्रतिपादितं वर्तते। एवं च—

दैवोपलब्धसुखभुक् शिवपूजापरायणः ।
वीरशैवपदं प्राप्य सुखेनोपैति निर्वृतिम्[२] ।।

देवकृपया प्राप्तं लिङ्गभोगोपभोगरूपं वीरशैवसाधनरूपं शिवपूजादिकं लब्ध्वा वीरशैवो निर्वृतिं (मोक्षं) प्राप्नोतीति शिवेन प्रतिपादितम्।

वीरशैवमतं पुण्यैकलभ्यं वर्तते। पुण्येन विनेदं मतं नैव प्राप्यते। अत एव कथितम्—

करस्थिते ज्वलद्दीपे वीरशैवाभिधे सति ।
कुमार्गेण व्रजेद् यस्तु सोऽन्धो निर्गतलोचनः ।।
वीरशैवमतं स्वच्छवज्रनावमधिष्ठितः ।
सुखं तरेद् भवाम्बोधिं भक्तिनाविकचोदितः[३] ।।

यथा करस्थितो जाज्वल्यमानदीपः प्रकाशते, तथैव वीरशैवाभिधे मते दीपवत् प्रकाशो लभ्यते। अस्मिन् मते यः कुमार्गेणाऽनाचारेण व्रजेद्यदि, सो निर्गतलोचनः सन् अन्धो भवति। वीरशैवमतं नाम स्वच्छवज्रनावाधिष्ठितो भक्तोः भवसागरं सुखरूपेण तरति। यथा भक्तिरूपनाविकस्य सहायेन सुखपूर्वकं भवसमुद्रस्य पारं तरति, अर्थात् भक्त्या भवाम्बुधिं निरायासेन तरति। इदमेव वीरशैवमतस्य महत्त्वपूर्णं वैशिष्ट्यं विद्यते।

पारमेश्वरागमे वीरशैवमाहात्म्यमधिकतरं वर्णितमस्ति। वीरशैवायोपदिश्यमानः षडक्षरमन्त्रोऽपि महान् शक्तियुक्तो वर्तते। तदुक्तम्—

सप्तकोटिमहामन्त्रैरुपमन्त्रैरनेकशः[४] ।
मन्त्रः षडक्षरोऽभिन्नं सूत्रं वृत्त्यात्मनो यथा ।।
षडक्षरमयं देवं मां तु यो जपते भुवि ।
तस्य मुक्तिः करस्था स्याद् वीरशैवमतस्य च[५] ।।

षडक्षरमन्त्रं हृदि स्मरतो वीरशैवस्य मुक्तिः करस्थैव भवति। अस्मिन्नागमे

१. पा. आ., ९.५३ ; २. तत्रैव, ९.५७।
३. तत्रैव, ७४-७५ ; ४. तत्रैव, ।
५. पा. आ.।

द्वादशपटले वीरशैवस्य नैष्ठिकः, अत्याश्रमी, महामाहेश्वरः, तपःश्रेष्ठ, महाव्रती, कृतकृत्यः, लिङ्गाङ्गी-इत्यादीनि पर्यायनामानि पठितानि। त एव श्रेष्ठा इति शिवेन वर्णितम्। अतः परं वीरशैवमाहात्म्यं किमु वक्तव्यं स्यात्? तथापि वीरशैवमहात्म्यरूपं सारं शृणोतु-

क्रिमिकीटपतङ्गेभ्यः पशवः प्रज्ञयाधिकाः।
पशुभ्योऽपि नराः श्रेष्ठास्तेषु श्रेष्ठा द्विजातयः।।
द्विजातिष्वधिका विप्रा विप्रेषु कृतबुद्धयः।
कृतबुद्धिषु कर्तारस्तेभ्यः संन्यासिनोऽधिकाः।।
तेषु विज्ञानिनः श्रेष्ठास्तेषु शङ्करपूजकाः।
तेषु श्रेष्ठा महादेवि मम लिङ्गाङ्गसङ्गिनः[1] ।। इति।

।। नमोऽस्तु लिङ्गाङ्गसङ्गिभ्यः ।।



ग्रन्थऋणम्

१. शक्तिविशिष्टाद्वैततत्त्वत्रयविमर्शः, डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य स्वामी जी जङ्गमवाड़ी मठ, वाराणसी।
२. पारमेश्वरागमः, सं. व्रजवल्लभद्विवेदः-प्रकाशकः जङ्गमवाड़ी मठ, वाराणसी
३. मकुटागमः, ,, ,, ,, ,, ,,
४. शिवागम सौरभ (कन्नड) सं. डा. ज.च.नि. बेंगलूर
५. सुभाषितरत्नभाण्डागारम्, निर्णयसागरप्रेस, मुंबई
६. वीरशैवस्य जननं प्रसारम् (कन्नड), प्रो शि शि बसवनाक धारवाड
७. शङ्करसंहिता, सोल्लापुरवारदप्रकटिता
८. सिद्धान्तशिखामणिः, सं. काशीनाथशास्त्री नागनूर बृहन्मठ
९. शिवयोगप्रदीपिका, चन्नसदाशिवयोगीन्द्रविरचिता
१०. विशेषार्थप्रकाशिका, मोग्गेयमायिदेवविरचिता
११. शिवानन्दलहरी, शङ्कराचार्यकृता

---

१. पारमेश्वरागमे

वीरशैवमत में दीक्षाविधान

पं. जनार्दन पाण्डेय

भारतीय संस्कृति में श्रुति दो प्रकार कही गयी है— वैदिकी और तान्त्रिकी। जैसा कि मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूक भट्ट ने लिखा है **"श्रुतिर्द्विधा वैदिकी तान्त्रिकी च"**। वैदिक कर्मकाण्ड तो प्रसिद्ध ही है। गर्भाधान से लेकर मृत्यु पर्यन्त सभी संस्कार वैदिक विधि से होते हैं। इनसे आत्मशुद्धि होकर व्यक्ति मानवजीवन के चरम लक्ष्य मुक्ति या मोक्ष को प्राप्त करता है, किन्तु वह सबके लिये सम्भव नहीं है और मुक्ति की कामना सबको होती है। इसलिये सर्वसाधारण के लिये तान्त्रिकी विधि का विधान है। शैवदर्शन भी प्राय: इसी का अनुसरण करता है, किन्तु उसके कर्मकाण्ड में वैदिक विधानों का पर्याप्त प्रभाव दीखता है।

आगम या तन्त्रशास्त्र के प्रतिपाद्य विषयों में दीक्षा एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है। प्राय: सभी धर्मों, सम्प्रदायों का दीक्षा एक अनिवार्य अङ्ग है। हाँ, उसका स्वरूप भिन्न हो सकता है। उससे सम्बद्ध विस्तृत साहित्य प्राप्त होता है। प्रस्तुत निबन्ध में वीरशैव मत में दीक्षा के स्वरूप पर संक्षेप में विचार किया गया है।

शैवों के सात प्रकार

शैवों के सात प्रकार बताये गये हैं–१. अनादि शैव, २. आदि शैव, ३. अनुशैव, ४. महाशैव, ५. योगशैव, ६. ज्ञानशैव और ७. वीरशैव। अनादिशैव कर्म को, आदिशैव भगवत्स्मरण को, अनुशैव मनन को, महाशैव परम गति को, योगशैव अष्टाङ्ग योग को, ज्ञानशैव ज्ञान की भावना को मुक्ति का साधन मानता है; किन्तु वीरशैव ज्ञान और योग दोनों को साधन मानता है, उसका कहना है कि ज्ञान के बिना योग और योग के बिना ज्ञान सिद्ध नहीं हो सकता। अत: वीरशैव मत सर्वश्रेष्ठ है। पारमेश्वरागम के सप्तम पटल में इस विषय का विस्तृत वर्णन मिलता है।

वीरशैव शब्द की परिभाषा इस प्रकार की गई है–

'वी' शब्देनोच्यते विद्या शिवजीवैक्यबोधिका।
तस्यां रमन्ते ये शैवा वीरशैवास्तु ते मताः॥

अर्थात् शारीरिक पौरुष में नहीं, शिवभक्ति में वीरता दिखाने के कारण ये वीर-शैव कहे जाते हैं। इन सातों शैवों का दीक्षाविधान सोपान क्रम से होता है।

दीक्षा

दीक्ष् धातु संस्कार अर्थ में प्रयुक्त होता है, इसी से दीक्षा शब्द बनता है, संसार का प्रत्येक मानव दु:ख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति चाहता है, वह सुख ऐहलौकिक हो या पारलौकिक या परमसुख (मुक्ति), उसके लिये उसे परमात्मा के किसी स्वरूप की इष्टदेवता के रूप में भावना करके साधना करनी पड़ती है। वह साधना तभी कर सकता है, जब उसकी आत्मा शुद्ध हो। आचार्य क्षेमराज ने लिखा है–''**आत्मसंस्कार एव दीक्षा**''। अर्थात् आणव, कार्म और मायिक मलों से आवृत आत्मा को उनसे रहित करना ही दीक्षा का उद्देश्य है। इसीलिये आगमशास्त्रों ने दीक्षा की परिभाषा इस प्रकार की है–

दीयते ज्ञानसद्भाव: क्षीयते पशुवासना।
दानक्षपणसंयुक्ता दीक्षा तेनैव कीर्तिता।।

यह दीक्षा तीन प्रकार की होती है–वेधा, मान्त्री और क्रियादीक्षा।

१. वेधा दीक्षा

इसमें गुरु अपने दाहिने हाथ को षडक्षर मन्त्र से ६ बार अभिमन्त्रित कर, उसमें शिव के हाथ की भावना करके शिष्य के मस्तक पर रखता है और एकटक दृष्टि से उसे देखता है। इसमें सात प्रकार के उपदेशात्मक संस्कार होते हैं, जो अभय, नि:संसार, निर्वाण, तत्त्व, अध्यात्म, तत्त्वविशोधन और तत्त्वबोधन नाम से जाने जाते हैं। इस दीक्षा से शिष्य के आणव मल की निवृत्ति हो जाती है और उसमें **'शिवोऽहम्'** की भावना जागृत होती है।

महामाहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक के १९वें आह्निक में इस पर विशेष विचार किया है। उनके अनुसार गुरु जब शिष्य के मस्तक पर हाथ रखकर उसपर अनुग्रह दृष्टि डालता है, तो शिष्य की प्राणशक्ति का उत्थान, आरोह-अवरोह की गति तथा षट्चक्रों का शोषण-दाहन-आप्यायन-सकलीकरण आदि क्रियाएँ अनायास होने लगती हैं। उन्होंने इसके ६ भेद बताये हैं—मन्त्र, नाद, बिन्दु, शाक्त, भुजग और परवेध। इसके अतिरिक्त उन्होंने तुलादीक्षा और योजनिका दीक्षा ये दो भेद और भी बताये हैं।

२. मान्त्री दीक्षा

इस दीक्षा में गुरु शिष्य के दाहिने कान में पञ्चाक्षर महामन्त्र का उपदेश देता है। इसमें भी सात प्रकार के उपदेशात्मक संस्कार होते हैं–चित्तैकाग्रता, दृढ़व्रतत्व, पञ्चेन्द्रियार्पणा, अहिंसा, लिङ्गनिष्ठा, लिङ्गमनोलय और सद्योमुक्ति। इस सप्तविध दीक्षा से शिष्य के मायीय मल की निवृत्ति होती है और **'चिद्रूपोऽहम्'** की भावना उद्बुद्ध होती है।

३. क्रिया दीक्षा

इस दीक्षा में मण्डप बनाकर उसके बीच में पञ्चकोण बनाया जाता है। उसके पाँचों कोणों में पञ्चाक्षर महामन्त्र का एक एक अक्षर लिखकर उनपर पाँच कलश स्थापित किये जाते हैं, जो शैवधर्म के आदि प्रवर्तक पञ्चाचार्यों (रेवणसिद्ध, मरुलसिद्ध, एकोराम, पण्डिताराध्य और विश्वाराध्य) के प्रतीक माने जाते हैं। इस प्रक्रिया में पूरा कर्मकाण्ड हवन आदि प्रायः वैदिक विधि की तरह ही होता है और अन्त में उन कलशों के जल से शिष्य का अभिषेक किया जाता है। इस दीक्षा से शिष्य के कार्मिक मल की निवृत्ति होती है तथा इसमें भी सात प्रकार के उपदेशात्मक संस्कार होते हैं, जो–आज्ञा दीक्षा, उपमा दीक्षा, क़लशाभिषेक, स्वस्तिकारोहण, भूतिपट्ट, आयत्त और स्वायत्त नाम से जाने जाते हैं।

कारणागम में दीक्षा विषय पर विस्तृत विवरण दिया गया है। पारमेश्वरागम के द्वितीय पटल में दीक्षा का केवल उपक्रम दिया है। दीक्षा कब लेनी चाहिये, गुरु शिष्य कैसे होने चाहिये आदि। तीसरे पटल से सातवें पटल तक की पुष्पिकाओं में 'दीक्षा प्रकरणे' कहा गया है, किन्तु इसमें क्रिया दीक्षा का ही वर्णन है, क्योंकि इसका प्रारम्भ ही मण्डप निर्माण से होता है। आगे दीक्षा का क्रम और दीक्षोपयोगी उपकरणों का विधान है। चतुर्थ पटल में दीक्षाङ्ग होम की प्रक्रिया बताई गई है। पञ्चम पटल में लिङ्गग्रहण दीक्षा का विधान है, सप्तम में सात प्रकार के शैवों के लक्षण और वीरशैव की श्रेष्ठता का वर्णन है। आगे चलकर बीसवें पटल में दीक्षा के विशेष प्रकार बताये हैं। इनमें अनादि शैव से ज्ञान शैव तक के ६ प्रकार के शैवों के लिये एक कलश वाली दीक्षा का विधान है। वीरशैवों के तीन भेद किये हैं–सामान्य वीरशैव, विशेष वीरशैव और निराभारी (तुर्य) वीरशैव। इनमें सामान्य और विशेष के लिये तीन कलशवाली तथा निराभारी के लिये पाँच कलशवाली दीक्षा का विधान है। निराभारी (तुर्य) वीरशैव नित्य और नैमित्तिक कार्यों को केवल कर्तव्य बुद्धि से करता है। फल की अभिलाषा से काम्य कर्म कभी नहीं करता, अतः वह सर्वश्रेष्ठ है।

वीरशैवों के लिये लिङ्गधारण अनिवार्य है और जब तक दीक्षा नहीं होती, तब तक कोई लिङ्गधारण का अधिकारी नहीं होता। इसीलिये जैसे वैदिक विधि में ब्राह्मण के लिये ८वें वर्ष में, क्षत्रिय के लिये ११वें वर्ष में गायत्री दीक्षा लेना (उपनयन) आवश्यक है, वैसे ही वीरशैवों के लिये भी आठवें वर्ष में पञ्चाक्षर मन्त्र की दीक्षा लेना अनिवार्य है। चूँकि संसार के सभी जीव शिव के ही अंश हैं, अत: इस दीक्षा में किसी प्रकार का जातिभेद या लिङ्गभेद नहीं माना जाता।

दीक्षित व्यक्ति ही शिवयोग की साधना करके मुक्ति को प्राप्त कर सकता है।

Linga-worship in Vīra-Śaivism

Dr. Rama Ghose

Āgama and Nigama are the vast, unfathomable treasures of the Indian Religion and Philosophy. Sanskrit lexicon 'Nighantu' names the Veda as 'Nigama' and Tantra as 'Āgama' and hence both have been regarded under a common caption as 'Śruti'. Śruti denotes both Veda and Tantra, the two parallel stream of expressions of the nature of Reality and the means to achieve the one and the same goal, though adopting a different approach of their own. The syllable 'Ā' denotes that which is originated, 'ga' signifies 'falling' i.e. falling to the Goddess Pārvatī and 'ma' means the religion or the doctrine for the devotee. It is the exposition of divine knowledge, and the way to attain it through the prescribed procedures and meditation along with the hymns. According to Pauṣkar Āgama, there are ten Śaivāgamas and eighteen Rudrāgamas recognised as Siddhāntāgama. Kāmika, Yogaja, Cintya, Kāraṇa, Ajit, Sudīpta, Sūkṣma, Sahasra, Suprabheda, Śiva and Vijaya, Pārameśvara, Nihśvāsa, Prodgīta, Mukhabimba, Siddhamat, Santāna, Nārasiṁha, Candrahāsa, Bhadra, Svāyambhuva, Viraja, Raurava, Mukuṭa, Kiraṇa, Lalita, Āgneya and Parākhya are the ten Śaivāgamas and the eighteen Rudrāgamas respectively manifested by Lord Śiva. This has been stated in Kiraṇāgama and Śrikaṇtha-saṁhitā that though the knowledge by itself is undivided and indivisible but Paramaśiva, the omniscient ultimate Reality, out of compassion for the welfare of the world, manifested this eternal knowledge primarily to the ten Śivas and eighteen Rudras for the purpose of revealing it to the empirical world through the divinities and ṛṣis. It is pertinent to note here that the Vedas also represent indivisible eternal knowledge which is revealed to the ṛṣis in a state of spiritual trance of deep meditation.

Pārameśvarāgama, as stated above is one of the famous Rudrāgamas revealed as the discourse between the God (Śiva) and Goddess (Pārvatī). This Āgama often follows the Vedic tradition

along with the Āgamic approach, such as, Tapa, Karma, Japa, Dhyāna and Jñāna (penance, action, repetition of hymn, meditation and knowledge) have been regarded as five-fold Yajña named as Pāśupata-vṛata (Pāśupata discipline) in the Vāyavīya Saṁhitā of Śiva-Mahāpurāṇa. Sūkṣmāgma and Pārameśvarāgama describe the above mentioned discipline which have again been stated in Siddhānta Śikhāmaṇi (9.21-24). Pañcasūtraliṅga, Prasāda, Pañcākṣara, Pañcānuvāk, Rudrādhyāya, Rudraikādaśinī, Aṣṭabandha, Tuti, Dhyāna etc. are the significant concepts that have duly been explained along with prescribed procedures and hymns. Regarding the observance of various spiritual disciplines, Pārameśvarāgama maintains a broad view of recognition of dignity and utility of each and every discipline.

The special feature of Vīra Śaivism, otherwise named as Liṅgāyat Śaivism, is the procedure of worshipping Iṣṭaliṅga on the palm of the left hand. It is called कर पंकज पीठ– the lotus palm–seat. Iṣṭaliṅga is installed in the middle of the palm of the left hand, then the worship is being performed with prescribed procedure. This palm-seat is the imparter of the four Puruṣārthas–Dharma, Artha, Kāma, Mokṣa. Here is a short discussion about the various seats and their relative results as advocated by Pārameśvarāgama.

The seat made of stone bestows son and wealth, of iron accords all kinds of attainments, of clothes provides all kinds of good results and the seat made of leaves grants gold. But the seat made of wood, earth, leather, blanket and grass cause various kinds of suffering and disturbances. Lotus palm is considered to be the supreme.

तत्र सर्वोत्तमं देवि पीठार्थं करपङ्कजम् ।।

Pārameśvarāgama, 16.13

Devotee should contemplate the five fingers as five petals, the middle of the palm as the centre of the lotus and the lines as the pollen. He should also contemplate the five fingers as the five forms of Śiva (Iśāna etc.). The centre of the palm is to be meditated as the Goddess Pārvatī. Five fingers starting from the thumb to the little finger gradually are named as गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आहवनीय, सभ्य, आवसथ्य। Indra etc. eight protector's are to be contemplated on eight directions. Starting from the east four goddesses, namely, Durgā, Māheśvarī, Caṇḍi, Bhadrakālī are to be meditated upon the four directions. Devo-

tee should imagine the encircling four directions and Gaṇeśa. Baṭuka, Vīrbhadra and Caṇḍa should be meditated upon. Nandīśa, Riti, Bṛṅgī and Tuṇḍi are the four names of the nāyakas i.e. courtiers and they are to be contemplated in Āgneya Riti in Īśāna, Bhṛṅgi in Nairṭya, Tuṇḍi in Vāyavīya directions. Mountains like Śri Śailam, rivers like Gaṅgā, Kalpa tree, gem Cintāmaṇi, Kāmadhenu, four Vedas and Purāṇas, Sāṅkhya-yoga philosophies, Dharma śāstras–all these auspicious and pure things are to be contemplated and the Iṣṭaliṅga is to be worshipped in the middle of It. Starting from the elbow to the wrist which is like a stem of the lotus on which five faced Lord is to be meditated upon. The glory of Lotus-palm has been sung by the Lord Himself thus–

सर्वसौभाग्यजनकं यत्पीठं करपङ्कजम् ।।

Pārameśvarāgama, 13.30

करपङ्कजपूजायां तत् सर्वं साङ्गमेव हि ।।

Pārameśvarāgama, 13.31

Proper procedure for the worship of Iṣṭaliṅga has been described by Lord himself. Contemplating the aforesaid auspicious things on the lotus-palm, Iṣṭaliṅga is to be installed within and worship should be performed with the oblation etc. to the best of capacity reciting the Pañcākṣara hymn in a sitting position till the completion of the worship. Devotee should contemplate the Iṣṭaliṅga as immanent in the whole universe being without beginning, middle and end. Because of the intense devotion of the worshipper and the Grace of God, It (God) resides on his lotus-palm-seat.

लिङ्गं विश्वात्मकं ध्यायेदादिमध्यान्तवर्जितम् ।
भक्तेच्छावशतो भक्तपाणिपङ्कजसंस्थितम् ।।

Pārameśvarāgama, 13.43

It has been said by Lord that performance of ablution with intense devotion is superior to the ablution by the water of the oceans.

सहस्त्रप्रसृतिर्देवि सहस्त्रघटसम्मिता ।
मम लिङ्गाभिषेकार्थे पुनर्भावनयाऽब्धयः ।।

Pārameśvarāgama, 13.50

It has also been uttered that recitation of hymn (japa), praising the glory (stotra) and paying obeisance (Pranāmādi) should also be offered while worshipping Iṣṭaliṅga on the lotus palm-seat.

जपस्तोत्रप्रणामादि पाणिलिङ्गः समाचरेत् ।।

Pārameśvarāgama,13.57

Immense is the result produced by worshipping Iṣṭaliṅga on the lotus-palm-seat only.

अनन्तगुणितं पाणिपङ्कजे मम पूजनम् ।।

Pārameśvarāgama, 13.67

But the Iṣṭaliṅga must be bestowed by Guru through proper procedure.

It is to be noted here that worship of Iṣṭaliṅga meditating the aforesaid auspicious things within Iṣṭaliṅga and Iṣṭaliṅga permeating in everything is very significant. By constant meditation on Iṣṭaliṅga, devotee thus identifies himself with the God manifesting the universe. Then devotee is able to ascend to Prāṇaliṅgīsthala. The lotus-palm seat exists in one's own body and this body is the abode of all deities and pilgrimages.

सन्निधावप्रयत्नेन स्वदेहे वर्तते करः ।
सर्वदेवमयं पीठं सर्वक्षेत्रमयं परम् ।।

Pārameśvarāgama, 13.73

सर्वमन्त्रमयं पुण्यं सर्वपीठमयं परम् ।
पवित्राणां पवित्रं तत् पाणिपङ्कजमर्चनम् ।।

Pārameśvarāgama, 13.80

Pañcākṣara hymn is the supreme among all hymns–

यथा मन्त्रेषु सर्वेषु मम पञ्चाक्षरः परः ।।

Pārameśvarāgama, 13.81

God asserts that as devotion to me is supreme among the devotions to all deities, so also worship on the lotus palm seat is the supreme among all the types of worships.

The transcendental being is divided into two, namely, the Liṅga

and Aṅgasthala. One and the same spirit divides Itself into two as the worshipper and the worshipped to realise the real nature of the self. So, the power is also divided into Śakti and Bhakti. Śakti is that mystic power which is descending and aims at uniting the soul with the God by removing the bonds of the soul.

Thus the one element flowing in two channels named Śakti and Bhakti causes the ascending order of jīva from Bhaktasthala to Prāṇaliṅgīsthala through Māheśvara and Prasādīsthala. Devotee endowed with Śiva-consciousness is enlightened with the luminous Liṅga in his heart is known as Prāṇaliṅgī sādhaka. This Prāṇaliṅga is meditated upon on the six centres of Mulādhāra etc. Then in the Brahmarandhra thousand petalled lotus should be contemplated and uncaused Siva is adorned on the seat. The accomplishment of such medition is known as Śivayoga-samādhi.

But this is not the end. Realising the consciousness-bliss, sādhaka takes refuge in the highest blissful enjoyment with blissful devotion– Ānanda Bhakti that indicates the state of Śaraṇasthala, through which sādhaka finally reaches the highest state known as 'Samarasa-Bhakta'– The state of 'Sivoham'. This is the state of complete unison or identity with God transcending the duality of Aṅga and Liṅga.

Thus the process of journey that started from the worship of Iṣṭaliṅga contemplating the whole universe on the lotus-palm-seat ends with the realisation of the consciousness-bliss of the supreme as Sadhaka's own self. The process of Linga-worship begins with the contemplation of gross elements on the lotus-palm of one's ownself and then culminates in the identification of the self-consciousness with that of the supreme Self-'Liṅgāṅgā sāmarasya' is the end of life according to the Vīraśaivism. So, the journey is from the contemplation of the gross elements through the principles of subtler and subtlest to the pure Being that transcends all relativity.

Thus the liṅga-worship in Vīraśaivism with intense devotion and unflinching concentration is the means to an end. The fulfilment of goal is possible only by the grace of Guru through Dīkṣā.

•

।। ॐ नमः शिवाय ।।

वीरशैवों की आचार-मीमांसा

डॉ. प्रभुनाथ द्विवेदी

वन्दे सदाशिवविभुं परमैकरूपं वन्दे गिरीन्द्रतनयां च गुहं गणेशम् ।
वन्दे ततश्च परमेश्वरभक्तवृन्दान् आचारसिद्धिप्रयतानपि वीरशैवान् ।।

वीरशैवसदाचारो यः पारमेश्वरागमे ।
सम्प्रोक्तस्तन्त्रमाश्रित्य स मयात्र निरूप्यते ।।

मानवमात्र के जीवन में आचार का अत्यन्त महत्त्व है । धर्म आचार से ही उद्भूत है–**'आचारप्रभवो धर्मः'** । यह धर्म ही एक ऐसा विशेष तत्त्व है, जो मनुष्य को पशुओं से विलक्षणता प्रदान करता है[1] । जो तत्त्वविशेष मनुष्य को मनुष्य बनाता है, उस आचार की महिमा अचिन्त्य है, हमारे मनीषी आचार्यों के द्वारा बहुधा निरूपित है । हमारे सद्ग्रन्थ यथावसर यथापात्र आचार का निर्देश करते हैं। सद्गुरुओं के द्वारा, महापुरुषों के द्वारा भी प्रत्यक्षतः आचार की शिक्षा प्राप्त होती रहती है। श्रीमद्भगवद्गीता में स्पष्टतः कहा गया है कि श्रेष्ठजन जैसा आचरण करते हैं, अन्य भी वैसा ही आचरण करते हैं । वे जो आचरण करते हैं, वह प्रमाण होता है और लोक उसी का अनुवर्तन करता है[2]— **'महाजनो येन गतः स पन्थाः'** ।

यद्यपि तात्त्विक रूप से धर्म की मूल भावना एक है, तथापि व्यावहारिक रूप से उसके अनेक रूप दृष्टिगोचर होते हैं। परम्परा, आस्था, श्रद्धा, विश्वास, विवेकादि नाना आश्रयों से दर्शन-भेद होना स्वाभाविक है और वह दर्शन जब एक सम्प्रदाय से सविशेष सम्बद्ध हो जाता है, तब विशिष्ट धार्मिक सिद्धान्त आकार ग्रहण करते हैं, जिनके आधार पर धर्म प्रतिष्ठित होता है । उस धर्मविशेष के अपने अभिमत होते हैं,

---

१. आहारनिद्राभयमैथुनं च समानमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ।।

२. यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ।। (श्रीमद्भगवद्गीता, ३.२१)

अपनी पद्धति होती है, अपना आचार होता है और अपना दर्शन होता है। उसकी नियमबद्धता, मर्यादा और मान्यता उसे एक निश्चित लक्ष्य की ओर ले चलती है। लक्ष्य के प्रति प्रतिबद्धता के कारण ही उसमें गतिशीलता होती है, परिष्कार होता है। चूँकि सभी धर्मों की मूल भावना एक ही होती है, अत: उनका लक्ष्य, परम प्रयोजन भी एक ही होता है, चाहे उसे भिन्न नाम-रूपों में क्यों न जाना जाय।

हमारे देश की आस्तिक परम्परा में जितने भी धर्म, सम्प्रदाय अवस्थित हैं, उन सबका मूल 'वेद' है। वेदविनि:सृत, अत: वैदिक (अथवा सनातन) कहे जाने वाले इस धर्म का जो बहुधा विस्तार हुआ, उससे शैव, शाक्त और वैष्णव–इन तीन प्रमुख धर्मों की सत्ता अत्यन्त प्राचीन काल से ही सर्वविदित है। पुन: आचार्यभेद से मतवैभिन्न्य के कारण इनके अनेक अवान्तर भेद हुए। इस प्रकार, शैवधर्म का एक प्रमुख भेद 'वीरशैव' अपने उत्तरोत्तर विकसित उत्कृष्ट स्वरूप में आज भी विराजमान है।

वीरशैव-सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'पारमेश्वरागम' में वीरशैवों के लक्षण और आचार का पर्याप्त निर्देश किया गया है। वीरशैवमत को स्वीकार करने का अधिकार प्राप्त करके शिवयोगी दृढ़ वैराग्यसम्पन्न होकर योग्य गुरु से विधिपूर्वक जब वीरशैवमत की दीक्षा प्राप्त कर लेता है, तब वह वीरशैव के लिए निर्दिष्ट आचार पालन की मर्यादा में बँध जाता है। उसे तब अपना जीवन शास्त्रीय विधि का पालन करते हुए साधना में लगाना पड़ता है। जो साधक शास्त्रविधि का पालन न करता हुआ, मनमाना आचरण करता है, वह न तो सिद्धि प्राप्त कर पाता है, न ही सुख और न ही परम गति को प्राप्त करता है[१]। अत: आचरण के सम्बन्ध में शास्त्र को प्रमाण मानते हुए गुरु के मुख से विधि-निषेध का सम्यग् ज्ञान प्राप्त करके ही तदनुसार प्रवृत्त होना उचित है[२]।

'पारमेश्वरागम' के अष्टम पटल के प्रारम्भ में शिवयोगी को 'वीर' कहे जाने के कारणों का निरूपण करते हुए वीरशैव के लक्षण बताये गये हैं। ऐसा अन्यत्र भी (यथा सप्तम पटल) किया गया है, किन्तु यहाँ व्यवस्थित और पर्याप्त रूप से इसका निरूपण है। आगे वीरशैवों के आचार का निर्देश है। वस्तुत: लक्षणों में भी प्रकारान्तर

---

१. तथाधिकारसम्पन्नो वीरशैवमतं श्रयेत्। दृढवैराग्यसम्पन्नो गुरुत्वेन विधानत:॥
य: शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारत:। न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
(पारमेश्वरागम, ७.१०३-०४)

२. तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं हि कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं तत्त्वं कुर्याद् गुरोर्मुखात्॥ (वहीं, ७.१०५)

से प्रमुख आचारों का निर्देश किया गया है, क्योंकि लक्षण की सार्थकता तभी है, जब वह लक्ष्य में पूर्णतः घटित हो और दृढ़ाचार ही लक्षण के रूप में कहे गए हैं। अतः लक्षण और आचार परस्पर अभिन्न ही हैं।

वीरशैव को परमेश्वर में दृढ़ सद्भक्ति और संसार में दृढ़ वैराग्य रखना चाहिए। उसे एषणात्रय से मुक्त होकर ज्ञान-विज्ञान में तत्पर होना चाहिए। वीरशैव में वैराग्य की दृढ़ता होनी चाहिए। उसे इन्द्रियनिग्रह में भी दृढ़ समर्थ होना चाहिए और वह इस प्रकार कि इन्द्रियसामर्थ्य से युक्त युवा शिवयोगी परस्त्रीरूपदर्शन में अन्धे के समान आचरण करे, अर्थात् नेत्रों से कौन कहे मन से भी उधर न देखे। परदोषकथन का प्रसङ्ग आने पर गूँगा बन जाय तथा सर्वज्ञ होने पर भी बालक अर्थात् अज्ञ बन जाय (अपना ज्ञान न बघारने लगे)। इस प्रकार दूसरों की निन्दा करने के पाप से बचे और ज्ञानी होने के मिथ्याभिमान से भी दूर रहे[१]।

जो परस्त्री के प्रति नपुंसक और परपीडा में पङ्गु बन जाते हैं, रसास्वादन के प्रसङ्ग में जीभरहित हो जाते हैं, वे वीरशैव हैं। दम्भ, अहङ्कार और हिंसा का परित्याग तथा क्षमा, सरलता और आचार्योपासना से युक्त, शौच, आत्मनिग्रह और चित्त की स्थिरता के कारण सर्वत्र समभाव रखने वाले शिवयोगी वीर कहे जाते हैं। वीरशैव सदा एकान्तसेवी होते हैं और निष्ठापूर्वक परमेश्वर में भक्ति रखते हुए उन्हीं के ध्यान में निमग्न रहते हैं[२]।

वीरशैव के उपर्युक्त लक्षणों में वैराग्य, अनहङ्कार और परस्त्रीपराङ्मुखता पर विशेष बल दिया गया है। हिंसा का तात्पर्य अन्य जीव के वध मात्र से नहीं लेना चाहिए, अपितु मन, वचन और काय–इन तीनों के द्वारा यदि किसी को लेशमात्र भी कष्ट पहुँचता है, तो वह हिंसा है। ऐसी किसी भी हिंसा से विरत रहने की बात यहाँ कही गई है। इन्द्रिय-निग्रह एक अनिवार्य आचार है। चित्तस्थैर्य और समचित्तता के बिना सदाचार अधूरा रहता है। आत्मनिग्रह का अभ्यास एकान्तसेवन से ही बनता है। इतना सब होते हुए परमेश्वर में एकनिष्ठ भक्ति भी होनी चाहिए।

वीरशैव को ब्रह्मचारी, सत्यव्रती, निर्लोभी, अपरिग्रही, ईर्ष्या-द्वेष से रहित, तिरस्कार न करने वाला तथा काषायवस्त्रधारी हो भिक्षाटन करने वाला होना चाहिए। वीरशैव समस्त चिन्ताओं से रहित होकर एकमात्र परमेश्वर शिव की पूजा, ध्यान, स्मरण, कीर्तनादि के द्वारा उनका अनुग्रह प्राप्त करे। रात्रिशयन के पश्चात् प्रातःकाल

१. पारमेश्वरागम, ८.७-१०।

२. वहीं, ८.११-१४।

श्रीगुरु और शिव का स्मरण करते हुए निद्रा का त्याग करे। पहले से पहने हुए वस्त्र को छोड़कर दूसरे स्वच्छ वस्त्र धारण करे और हाथ-पैर धोकर भस्म और रुद्राक्ष को यथोक्त शास्त्रीय विधि से धारण करे[१]। भस्म और रुद्राक्ष धारण करने की विधि शैवागमों में बहुधा बताई गयी है[२]। भस्म और रुद्राक्ष धारण करने के पश्चात् पञ्चाक्षर मन्त्र का जप और शिवस्तुति–यह वीरशैव का नित्य ही अनिवार्यतः करणीय कर्म है। तत्पश्चात् विधिपूर्वक उषसीश्वर का पूजन करना चाहिए। इस प्रकार वीरशैव यदि सावधान होकर आचारनिष्ठ होता है, तो वह सभी प्राणियों में श्रेष्ठ होकर वीरमाहेश्वर की महिमा से सम्पन्न हो जाता है और अन्ततः साक्षात् शिव का स्वरूप अधिगत कर परमशिव ही हो जाता है।

वीरशैव के लिए उपर्युक्त जितने भी विधान निर्दिष्ट हैं, उनमें से प्रायः अधिकांश विधान सर्वसामान्य आचार के अन्तर्गत आते हैं। किसी भी धर्म-सम्प्रदाय या मत को स्वीकार करने वाले साधक, योगी अथवा भक्त के लिए ये विधान समान रूप से लागू होते हैं। इनके पालन की सभी को अनिवार्यता होती है। इन आचारों में से बहुत से आचार तो एक सभ्य-संस्कृत समाज के सदस्य के विषय में भी लागू होते हैं, फिर विशिष्ट मत या सम्प्रदाय सिद्धान्तधारक के लिए तो यह सहज ही ग्राह्य है। जहाँ तक वीरशैव मत में दीक्षित भक्त, साधक या शिवयोगी के लिए उपर्युक्त विधान की ग्राह्यता का प्रश्न है, तो वह सर्वसामान्यवत् है। विशेष केवल यह है कि वीरशैव भस्म, रुद्राक्ष और स्वेष्टलिङ्ग धारण करता है। अन्यों से वीरशैव की यही विलक्षणता है।

यहाँ एक जिज्ञासा होती है कि वीरशैव के लिए शौच (उभयथा–अन्तः और बाह्य) विषयक आचार का निर्देश है,[३] किन्तु प्रातःकालोचित कृत्य में शौचाचारविषयक निर्देश के अन्तर्गत स्पष्ट रूप से पहने गये वस्त्र को छोड़ने, स्वच्छ वस्त्र धारण करने और केवल हाथ-पैर धोने का विधान किया गया है। स्नान और अन्य शौचाचारों का सङ्केत तक नहीं किया गया। मुखशुद्धि और गात्रशुद्धि का उल्लेख न किया जाना स्वयं में (विशेषतः मेरे लिए) कौतूहल का विषय है। इस प्रसङ्ग में शरीर में भस्म लेपन करने के पश्चात् भस्म लगे हाथों के प्रक्षालन का निषेध करते हुए कारण बताया गया है कि भस्म लगे हाथों को धोने से भस्मयुत जल के जो बिन्दु नीचे गिरते हैं, उसके

---

१. पारमेश्वरागम, ८.१५-२४।

२. वहीं, ८.२५-४२।

३. शौचात्मनिग्रह.........., पारमेश्वरागम, ८.१३।

कारण उस वीरशैव का निश्चय ही पतन हो जाता है[१]। इसके निहितार्थ पर यदि ध्यान दिया जाय, तो सम्भवतः स्नान के निषेधरूप अनुल्लेख का कारण समझ में आ सकता है। भस्म तो परमेश्वर शिव का अङ्गराग है, उनका प्रसाद है। इस विभूति का विगलन वस्तुतः शुभावह नहीं। इसीलिए भस्म लगे हाथ के प्रक्षालन का निषेध किया गया और इसी कारण भस्मलिप्त गात्र के प्रक्षालन, अर्थात् स्नान की कोई चर्चा नहीं की गयी। यह मेरी स्वोपज्ञ उद्‌भावना है, हो सकता है वास्तविक कारण कुछ अन्य हो, जिसे सम्प्रदायाचार्य ही स्पष्ट कर सकते हैं।

वीरशैवों का आचार क्या और कैसा होना चाहिए ? इस विषय में पारमेश्वरागम में फलसहित बताया गया हैं। इन्द्रियनिग्रहपूर्वक एकान्तवास करते हुए परमेश्वर के ध्यान में निमग्न रहने वाला वीरशैव अनायास ही सङ्कटमुक्त रहता है[२]। विना दृढ़ वैराग्य के विषयों के प्रति स्पृहा समाप्त नहीं होती। विषयासक्ति बनी रहने पर मुक्ति की प्राप्ति असम्भव है[३]। वासनाओं समेत जाग्रत् और स्वप्नावस्था के व्यवहारों के नष्ट हो जाने पर वीरशैव में अखण्ड परमार्थज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है। वीरशैव वही होता है, जो लोकव्यवहार से निर्लिप्त होता है, स्वच्छ और मिताशी है तथा जाग्रत् और स्वप्नावस्था से अतीत होता है[४]। कल्याणमार्गगामी कभी भी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता[५]।

वीरशैव की आजीविका कैसी हो ? इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि वह भिक्षाटन के द्वारा अपनी जीविका प्राप्त करे। वस्तुतः निरभिमानिता के लिए याचकवृत्ति का विधान किया गया है। इससे मानापमानतुल्यता और अनुद्वेग का भी आधान होता है। ये सब साधक के लिए आवश्यक हैं। अतः भिक्षाटन की विधि का निरूपण किया गया है कि प्रातःकाल की पूजा, मन्त्रजप और स्तुति सम्पन्न करके यदि भिक्षाग्रहण की इच्छा है, तो गुरु को प्रणाम करके भिक्षाटन के उद्देश्य से शिवभक्त को

---

१. न क्षालयेत् करौ धृत्वा शरीरे भस्म सुन्दरि।
निपतेत्तत्पयोबिन्दुरेनं पातयति ध्रुवम्॥ (पार., ८.४३)

२. निगृहीतेन्द्रियग्रामः सुविविक्तसमाश्रयः।
यदि स्याद् ध्याननिरतः स तरेद् विपदं लघु॥ (वहीं, ८.७४)

३. न यावद् दृढवैराग्यं न यावद् विषयास्पृहा।
न तावल्लभते मुक्तिं विधूतविषयो यतः॥ (वहीं, ८.७६)

४. पारमेश्वरागम, ८.७९-८०।

५. नहि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं देवि गच्छति। (वहीं, ८.८२)

इष्टलिङ्गधारी शिवयोगी के घर जाना चाहिए। अपेक्षित से अधिक भिक्षा नहीं ग्रहण करनी चाहिए। पक्व या अपक्व भिक्षा सङ्केत के द्वारा माँगनी चाहिये और इसके लिए पैर या हाथ या दण्ड में घण्टा बाँध ले, शङ्ख या सींग में फूँक मार कर बजाये। रुद्राक्ष मालायें धारण करे और शरीर पर कन्था (कथरी) अथवा कम्बल डाले रहे। वह गृहस्थ से समादृत होकर भिक्षा ग्रहण करे और शिवार्पित कर उसका भोग लगाये[१]।

वीरशैव शिवयोगी सन्मार्ग पर चलता हुआ अनायास सुख की प्राप्ति करता है। जिस प्रकार यात्री मार्ग के नानाविध कष्टों को सहन करते हुए धैर्यपूर्वक गतिमान् रहकर अन्तिम लक्ष्य तक पहुँच जाता है, उसी प्रकार वीरशैव आचार के कठिन नियमों का आस्थापूर्वक पालन करते हुए अन्ततः सिद्धि प्राप्त करता है और परमशिव ही बन जाता है।

वीरशैवाचारव्रत का पालन करने वाला शिवयोगी कभी भी स्त्री के रूप में जन्म नहीं लेता, अधर्माचारियों के कुल और तिर्यक् योनियों में भी जन्म नहीं ग्रहण करता[२]। यहाँ स्त्रीयोनि में जन्म न लेने की बात कहकर प्रकारान्तर से स्त्री की निन्दा और उस पर पुरुष की श्रेष्ठता सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। अन्य सम्प्रदायों में भी स्त्री को अशुचि, अवगुणों की खान, मुक्ति के मार्ग में बाधक आदि बताकर उसे हेय सिद्ध किया गया है। उसी परम्परा का प्रभाव वीरशैवमत पर भी परिलक्षित होता है। अस्तु, निष्कर्षतः यह कहना उचित होगा कि शैवाचारों का पालन करने से वीरशैव निश्चित ही उत्तम गति को प्राप्त होता है॥ इति शम्॥

●

१. पारमेश्वरागम, ८.९१-९५।
२. वहीं, ८.१०१।

वीरशैव मत

डॉ. राधेश्याम चतुर्वेदी

परमात्मा का साक्षात्कार अथवा परमेश्वर की स्वरूपता को प्राप्त करने के लिये साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों या साधकों ने जिन पद्धतियों से अपने-अपने लक्ष्यों को प्राप्त किया था, उन उन पद्धतियों को उन्होंने जिज्ञासुओं को उपदिष्ट किया। ये ही उपदेश शास्त्र, धर्म, सम्प्रदाय, मार्ग, मत आदि के रूप में समाज में प्रचलित हुए। शैव, शाक्त, वैष्णव, गाणपत्य, आर्हत, बौद्ध आदि इसी प्रकार के सम्प्रदाय हैं। इन सभी मार्गों का यद्यपि अपना-अपना महत्त्व है, तथापि शैवमत की महत्ता सर्वोपरि है। इसके अनेक कारण हैं। सर्वप्रथम तो यह कि इसका साहित्य अत्यन्त विशाल है। केवल सिद्धयोगीश्वरीतन्त्र नामक एक तन्त्रग्रन्थ नव करोड़ श्लोकों में उपनिबद्ध था। इसी से इस शास्त्र की विशालता का अनुमान किया जा सकता है। दूसरा कारण यह है कि यह शास्त्र अनुभवशास्त्र है, केवल वाचिक शुष्क तर्कशास्त्र नहीं। स्वयं अभिनवगुप्तपादाचार्य ने इसकी महत्ता का वर्णन करते हुए इसे साक्षात् भैरवीभाव का कारण बतलाया है। तीसरा कारण यह है कि इस मार्ग की महिमा से प्रभावित होकर कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक के निवासी इसके आज भी अनुयायी हैं। चतुर्थ हेतु यह है कि इस मत में जगत् की सत्यता उसी प्रकार उतनी ही स्वीकृत है, जैसी और जितनी परमशिव की। यहाँ तक कि प्रातिभासिक सत्ता को भी शिववत् सत्य माना गया है।

अनेक में एक का दर्शन अथवा अनेक के साथ एक हो जाना ही मानवमात्र का परम पुरुषार्थ है, किन्तु इसमें पात्रता की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है। इसके परिप्रेक्ष्य में शैवशास्त्र वर्गीकरण तीन प्रकार से किया जा सकता है—शैवसिद्धान्त, वीरशैव और शिवाद्वयवाद। भेदप्रधान विचारधारा वाले साधनों के लिये शैवसिद्धान्त, उससे उत्कृष्ट भेदाभेदप्रधान विचार वाले साधकों के लिये वीरशैव और जिनका लक्ष्य परमशिव के साथ अभेदात्मक समावेशलाभ करने का है, उनके लिये शिवाद्वयमार्ग प्रशस्य है। यथापि सभी सम्प्रदाय, सभी मार्ग अपने को सर्वोत्कृष्ट मानते हैं और मानना भी चाहिये, तथापि वस्तुस्थिति यही है। यह कहना अनावश्यक है कि शैव-सम्प्रदाय की त्रिविधता होने पर भी कतिपय अनुष्ठान या विचार तीनों में समान हैं। गुरुतत्त्व, दीक्षा, पूजा, याग, होम, भस्मधारण आदि कृत्य तथा षडध्व की अवधारणा आदि का

सभी शैव सम्प्रदायों में विधान है, यद्यपि पात्रता के भेद से दीक्षा आदि के नाना प्रकार हैं। शिवद्वयवाद में जिस प्रकार आणवोपाय का साधक इस साधना के चरमोत्कर्ष पर पहुँचने के बाद शाक्तोपाय की साधना में स्वतः प्रविष्ट हो जाता है और शाक्तोपाय साधक उसकी उत्कृष्टता पर पहुँचकर शाम्भवोपाय क्षेत्र में अधिकृत हो जाता है तथा शाम्भवोपायवान् साधक अनुपाय का अधिकारी हो जाता है, उसी प्रकार शैव-सिद्धान्त का सफल अनुयायी वीरशैव साधना के लिये स्वतः अधिकारी बन जाता है, क्योंकि वीरशैव साधना शैवसिद्धान्ती साधना की अपेक्षा साधक को उत्कृष्टतर स्तर पर पहुँचाती है (यद्यपि शैवसिद्धान्ती इस विचार से असहमत हो सकते हैं)।

''ब्रह्मचर्य परिसमाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेत्। वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा गृहाद् वा वनाद् वा'' जाबालोपनिषद् का यह वचन मोक्षेच्छु सामान्य जन एवं विशिष्ट पात्रताप्राप्त जनों का उपलक्ष्य है। इससे यह समझना चाहिये कि सभी मोक्षार्थी समान स्तर के नहीं होते। इसीलिये उनके स्तरों को ध्यान में रखते हुए तत्तत् शास्त्रों की रचना की गयी है। वीरशैवमत मध्यमार्गी है। यह संसार और शिव को साथ-साथ लेकर चलता है। इसमें स्थूल बाह्य जगत् में विहित कलशार्चन, लिङ्गार्चन, सज्जिका और शिवसूत्र का संस्कार, घण्टानाद, अग्निस्थापन, अग्नि के जातकर्म आदि संस्कार, मेखलापूजन, होम इत्यादि बाह्य कार्यों को करने के साथ-साथ दिव्य सिंहासन भावना, सोमशिव ध्यान, षडक्षर-पञ्चाक्षर मन्त्र का जप, भक्ति, देवता आदि की भावना इत्यादि आन्तर विधियों का भी विधान ही फलतः सामान्यजन की बाह्य विधि का अवलम्बन कर भेदात्मक जगत् से ऊपर उठते हुए भेदाभेदात्मक दशा को प्राप्त कर सकता है।

महायोगी परमहंस विशुद्धानन्द का मत है कि कर्म से ज्ञान, ज्ञान से भक्ति, भक्ति से प्रेम और प्रेम से भगवत्साक्षात्कार होता है। वीरशैव-सम्प्रदाय में भी कर्म, ज्ञान और भक्ति का सामञ्जस्य स्थापित है, यद्यपि यह मत कर्म (गुरु-शुश्रूषा आदि) से भक्ति, भक्ति के अभ्यास से ज्ञान और ज्ञान से योग की उपलब्धि मानता है–

भक्त्यभ्यासात् समुत्पन्नं ज्ञानं च सुदृढं भवेत्।
ज्ञानेन योगमाप्नोति ताभ्यां सिद्धो विमुच्यते।।

(पारमेश्वरागम, २२.६१)

वीरशैव मत में वर्णित यह योग न तो पातञ्जल योग है और न गीता का ज्ञान-कर्म-भक्तियोग। यहाँ योग का तात्पर्य है–शिवत्वलाभ और शिवत्वलाभ का अर्थ है–शक्तिरूपी दर्पण में असङ्गशिव के जीवरूप में प्रतिबिम्बित होने का बोध।

●

वीरशैव मत में मन्त्र का स्वरूप

डॉ. शीतलाप्रसाद उपाध्याय

वेदों में हम देखते हैं कि सृष्टि शब्दपूर्विका है। यह जगत् शब्दप्रभव है, अर्थात् शब्द से उत्पन्न हुआ है। यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि वह शब्द कौन-सा शब्द है ? और उसका स्वरूप क्या है ? जिससे यह समूचा ब्रह्माण्ड और अनेक प्रकार के लोक-लोकान्तर आविर्भूत हुए। क्या वह यही शब्द है, जिसका हम लोक-व्यवहार में प्रयोग करते हैं ? और जिसको सुनने के लिये हमें कर्णेन्द्रिय की आवश्यकता पड़ती है, अथवा इससे पृथक् कोई अन्य वस्तु है ?

विचार और विश्लेषण करने पर हमें बोध होता है कि लोक-व्यवहार में प्रचलित और श्रवणेन्द्रियगोचर शब्द अनेक प्रकार के भौतिक उपादानों और निमित्तों की अपेक्षा रखते हैं। इन शब्दों के ज्ञान के लिए हमें कर्णेन्द्रिय की तथा स्नायुसूत्र-समूहों की आवश्यकता पड़ती है। इसमें न्यूनाधिक मन:संयोग भी अपरिहार्य होता है। इतना ही नहीं, इन शब्दों को एक स्थान से दूसरे स्थान में सम्प्रेषण के लिए वायु अथवा वैद्युतीय तरङ्गों की भी आवश्यकता पड़ती है।

परन्तु हमारे शब्दज्ञान के लिए आवश्यक ये सब उपकरण सृष्टि के पूर्व में थे क्या ? क्या उस समय हमारा शरीर, हमारी इन्द्रियाँ, हमारा मन, वायु का स्पन्दन अथवा वैद्युतीय तरङ्ग अपने अस्तित्व में थे ? इस प्रकार अन्य प्रश्न भी उपस्थापित हो जाता है। इस प्रसङ्ग में आधुनिक विज्ञान भी मौन अथवा अस्पष्ट है। इसका उत्तर हमारे शास्त्र देते हैं कि जगत् को उत्पन्न करने वाला शब्द और समस्त जागतिक प्रपञ्चों का वहन करने वाला शब्द एक जैसा नहीं है। इनमें पर्याप्त भेद हैं और ये भेद है– इनके स्वरूप का, स्तर का, प्रभाव का आदि-आदि।

हमारे शास्त्र कहते हैं कि परम तत्त्व का प्राथमिक स्पन्द ही सृष्टि के उपक्रम का हेतु है। उस प्राथमिक स्पन्द के मूल उत्स से नाना दिशाओं में और नाना भावों में सृष्टि की अभिव्यक्ति हुई, जिसके प्रवाह में हम अपनी अनुभूतियों को शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध के माध्यम से ग्रहण करते हैं, क्योंकि हमारी अनुभूतियों की यही पाँच धाराएँ हैं।

किन्तु प्राथमिक स्पन्द के मूल उत्स में जो है, वह शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध प्रभृति नहीं है, उनके करण कर्ण-त्वक्-चक्षु-रसना-घ्राणेन्द्रिय इत्यादि भी नहीं हैं और न तो उनके ग्रहीता मन और बुद्धि ही हैं। वह केवल प्राथमिक स्पन्दमात्र है। हमारे सकल ज्ञान-व्यापार का मूल उत्स, सब प्रकार की अनुभूतियों का उत्पत्ति-स्थल, हमारी संवेदनाओं का हेतु यही स्पन्द है और वह है–शब्द का सूक्ष्मतम रूप जो 'परशब्द' कहलाता है। जिस शब्द को हमारी तरह इन्द्रियविशिष्ट जीव कान से सुना करते हैं, वह शब्द का स्थूलतम रूप 'अपर शब्द' है, जो जगत् में 'वैखरी वाक्' के रूप में परिचित और प्रसिद्ध है।

तान्त्रिकों ने चेतन तत्त्व के पाँच स्तर बताए हैं–जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुरीयातीत। शब्द की भी जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय–ये चार अवस्थाएँ होती हैं। तन्त्र और आगमों के पारिभाषिक शब्दों में वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा के भेद से चार प्रकार की वाक् कही गयी है, जिनमें वैखरी वाक् शब्द का निम्नतम एवं स्थूलतम स्तर है। मन्त्र-साधना में इसे ही पकड़कर क्रमशः परा वाक् तक पहुँचना तथा बाद में उसका भी अतिक्रमण करना आवश्यक होता है। शास्त्रों में कहा गया है कि शब्दब्रह्म में निष्णात होने पर शब्दातीत परब्रह्म (अथवा परशिव) की उपलब्धि होती है।

मन्त्र क्या है ?

तन्त्रागमशास्त्रों की मान्यता है कि आत्मा में अखिल सृष्टि का समन्वय है। जो कुछ इस पिण्ड (अथवा) शरीर में है, वह सब ब्रह्माण्ड में भी है। यह आत्मा स्वरूपतः पूर्ण प्रकाशात्मक परमेश्वररूप, स्वतन्त्र और भोक्ता है। उसके स्वेच्छापूर्वक जीवभाव (या दशा) ग्रहण करने के साथ ही उसका स्वातन्त्र्य और भोक्तृभाव लुप्तप्राय हो जाता है। वह अल्पकर्ता, अल्पज्ञ होकर आणवभाव को प्राप्त हो जाता है। यद्यपि उसका पूर्णाहंभाव स्वभावसिद्ध है, तथापि वह परमेश्वर के तिरोधान कृत्य के कारण इदंभाव से ग्रस्त हो जाता है। पूर्णाहंभाव में अकार से लेकर हकार पर्यन्त समस्त वर्ण व कलाएँ एक-दूसरे के साथ आत्मा में स्फुरित होती हैं, किन्तु आत्मा के स्वेच्छापूर्वक जीवभाव ग्रहण करने अथवा सृष्टि के उन्मेष की दशा में, अपने स्वरूप में अक्षुण्ण रहते हुए भी, ये वर्ण व कलाएँ अंशतः विभक्त होकर क्रमशः ब्राह्मी, माहेश्वरी, ऐन्द्री, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, चामुण्डा, महालक्ष्मी आदि अष्टवर्ग शक्तियों और अकारादि पचास रुद्रशक्तियों के रूप में अवतरित होती हैं। इस प्रकार अकारादि आत्मा के स्वविमर्शस्वरूप और स्व से अभिन्न होते हुए भी अज्ञान की अवस्था में अपनी आत्मा

से हमें जगत् की भिन्न प्रतीति होती है। इसी प्रकार कला भी आत्मस्वरूप से उद्भूत होकर भी आत्मा के ऐक्यभाव का आच्छादन कर लेती है। इसी का नाम 'मातृका शक्ति' है। यही मातृका शक्ति अणु जीव के प्रत्येक संवेदन में अन्त:परामर्शन के द्वारा स्थूल अथवा सूक्ष्म शब्दों का अनुवेध करती है, जिसके फलस्वरूप वर्ग-वर्गी प्रभृति देवतागणों के अधिष्ठान द्वारा चित्त में काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद और मात्सर्य आदि भाव अथवा वृत्तियाँ जन्म लेती हैं। इस प्रकार आत्मा का सर्वव्यापी, स्वातन्त्र्यमय, चिद्घनस्वरूप आच्छन्न होकर देहात्मभाव, पारतन्त्र्यभाव अथवा पाशबन्धत्व भाव को प्राप्त हो जाता है। इस प्रसङ्ग में यहाँ यह कहना अनावश्यक नहीं होगा कि अति प्राचीनकाल में तन्त्रशास्त्र में वर्णित षट्कर्म, अर्थात् मारण-मोहन-वशीकरण-उच्चाटन-स्तम्भन-विद्वेषण आदि का सम्बन्ध साधक-जीव के स्व चित्त में व्याप्त कामादि वृत्तियों के उपशमन से ही था, अर्थात् काम का मारण, क्रोध का मोहन, लोभ का वशीकरण, मोह का उच्चाटन, मद का स्तम्भन और मात्सर्य का विद्वेषण आदि। इस प्रक्रिया से साधक के चित्त की कामादि वृत्तियाँ उपशमित होकर, अन्तर्मुखी होकर आगमों में वर्णित सर्वज्ञता-तृप्ति-अनादिबोध-स्वतन्त्रता-नित्य अलुप्तशक्ति-अनन्तशक्ति आदि परमेश्वर के षडैश्वर्यों में रूपान्तरित होती थीं। वीरशैव मत में भी षट्-स्थल के उपाङ्गों के रूप में वर्णित भक्ति-कर्मक्षय-बुद्धि-विचार-दर्पसंक्षय-सम्यग् ज्ञान आदि उपाङ्गषट्क भी प्रक्रियान्तर से साधकों के चित्त में व्याप्त इन्हीं कामादि षड्विकारों का उपशमन करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि परा भूमि में विचरण करने वाला आत्मा परमेश्वर की तिरोधान शक्ति से अभिभूत होकर वैखरी भूमि में भ्रमण करने लगता है। वैखरी वाक् श्रोत्रग्राह्य और अर्थ की वाचिका होती है। वायु से प्रेरित हो कण्ठ आदि स्थानों में विधृत होकर वर्ण का आकार धारण करती है। प्रयोग के समय साधारणतया यह प्राण की वृत्ति को आश्रय करके प्रयुक्त होती है। वैखरी वाक् में मातृका शक्ति का लय-विक्षेपकारक प्रभाव अत्यन्त प्रस्फुट रूप में होता है। यह कभी स्थूल से सूक्ष्मभाव की ओर तो कभी सूक्ष्म से स्थूलभाव की ओर निरन्तर प्रवहमान होता रहता है। इस प्रकार काल के आवर्तन क्रम में क्रमश: स्थूलभाव और सूक्ष्मभाव का उदय-अस्त होता रहता है। तन्त्रशास्त्र में सामान्य जीव के जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति दशा के बार-बार प्रत्यावर्तन का यही सिद्धान्त बताया गया है। इसका सीधा कारण है—जीव में चिच्छक्ति के उन्मेष का अभाव। इस अभाव के कारण सामान्य जन वैखरी भूमि में ही आबद्ध रहते हैं और उसका लङ्घन नहीं कर पाते। यद्यपि वैखरी भूमि का कार्यक्षेत्र

अत्यन्त स्थूल है, तथापि उसका प्रभाव अशुद्ध मनोमय स्तर, सूक्ष्मभूत और कारण शरीर में भी लक्षित होता रहता है।

वैखरी के अनन्तर मध्यमा वाक् का क्रम है। यह प्राणवृत्ति से अतीत, श्रोत्र की अगोचर तथा अन्त:संजल्परूप अर्थात् परामर्श-ज्ञानस्वरूप है। यह केवल बुद्धि का परिणाम है। यह क्रमविशिष्ट और स्थूल शब्द का कारण है। यह मन्त्रमय होती है और इसकी भूमि मन्त्रमयी कही जाती है। वास्तव में हम जिन्हें 'मन्त्र' की संज्ञा देते हैं, उसे वाणी और चेतना के इसी स्तर पर पहचाना जा सकता है। हमारे लौकिक जीवन में प्रयुक्त शब्दों में चैतन्य की रश्मि प्रच्छन्न रहती है, किन्तु मध्यमा भूमि में पहुँचने पर वही शब्द चिद्रश्मियों से नित्य सम्पृक्त हो जाता है और उसमें मन के शोधन करने की क्षमता तथा सूक्ष्म से सूक्ष्मतम के अनुसन्धान करने की योग्यता आ जाती है।

यहाँ एक तथ्य का उद्घाटन आवश्यक प्रतीत हो रहा है कि जिस शब्द का उच्चारण हम वागिन्द्रिय से करते हैं तथा जिसका श्रवण हम श्रोत्रेन्द्रिय से करते हैं, वह शब्द का स्थूलतम रूप वैखरी वाक् है, तथापि किसी भी प्रकार के जप अथवा कीर्तन आदि में इसी वैखरी वाक् का आश्रय लेकर साधन-कार्य सम्पन्न किया जाता है। सामान्य अवस्था में इसके प्रयोग में कर्ता की इच्छा और कर्तृत्वाभिमान विद्यमान रहता है, किन्तु सद्गुरु से प्राप्त मन्त्र का अत्यन्त निष्ठापूर्वक जप करते-करते एक ऐसी स्थिति आ जाती है, जब प्रयत्नपूर्वक उच्चारण करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। उस अवस्था में जपकर्ता की इच्छा और उसके कर्तृत्वाभिमान का भी लोप होने लगता है। तब मन्त्र अथवा स्तोत्रादि स्वत: कण्ठ से स्फुरित होने लगते हैं और कण्ठ-निरोध होने पर हृदय में चलते रहते हैं। मन्त्र-साधक बिना प्रयत्न के हो रहे इस खेल को सावधान चित्त से लक्ष्य कर आनन्दित होते हैं। इसी को मध्यमा भूमि कहते हैं। इसके आगे पश्यन्ती और पराभूमि की क्रीड़ा सम्पन्न होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सृष्टि के उन्मेष की दशा में जो शब्द परा वाणी से वैखरी वाणी तक गतिशील होता है, वही शब्द मन्त्रसाधना के क्रम में स्तरोन्नयन के साथ वैखरी से परा तक की यात्रा करा सकता है, किन्तु अतिशय प्रयत्न से अथवा गुरुकृपा से। मन्त्र की यह साधना संहार क्रम से होती है।

भारतीय तन्त्रशास्त्र की प्राय: सभी शाखाओं में लौकिक कामनाओं एवं नि:श्रेयस की प्राप्ति के लिए मन्त्र-साधना को अपरिहार्य बताया गया है। मन्त्रों की संरचना वर्णों के द्वारा सम्पन्न होती है। ये वर्ण पृथक् रूप में तथा वर्णमाला के समुदित रूप में मन्त्र-स्वरूप ही हैं, यही तन्त्रों की मान्यता है।

सिद्धान्तशैव मत और वीरशैव मत में साधकों के लिए फलप्रद मन्त्रों की कुल संख्या सात करोड़ बतायी गयी हैं। इनमें से शिवसम्बन्धी मन्त्रों में छः षडङ्ग मन्त्र और पाँच ब्रह्ममन्त्र मिलाकर ग्यारह शैवमन्त्र मुख्य माने गये हैं। इन ग्यारह मन्त्रों में अघोर महामन्त्र सभी प्रकार की कामनाओं को पूरा करता है। उससे भी श्रेष्ठ पञ्चाक्षरी मन्त्र है। अन्य सभी मन्त्र इस पञ्चाक्षरी के ही उपमन्त्र हैं। इस पञ्चाक्षरी मन्त्र के प्रत्येक वर्ण के ऋषि, छन्द, देवता, वर्ण, स्वर और मुख भिन्न-भिन्न हैं, जिनका विशद वर्णन सूक्ष्मागम के तृतीय पटल में मिलता है।

पारमेश्वर आगम के एकादश पटल में वाचिक, उपांशु और मानस भेद से मन्त्रजप के उत्तरोत्तर श्रेष्ठता के तीन प्रकार बताये गये हैं। तालु आदि स्थलों के स्पर्शपूर्वक उच्च स्वर में जपा गया, स्पष्ट पद और अक्षरों वाला और अपर कर्णेन्द्रियगोचर जप वाचिक कहलाता है। तालु आदि स्थानों से अल्प स्पर्श होते हुए भी जहाँ पद और अक्षरों का उच्चारण स्पष्ट हो, किन्तु अत्यल्प कर्णेन्द्रियगोचर हो, तो वह जप उपांशु कहलाता है। मन्त्रार्थ का मनन करते हुए एक वर्ण से दूसरे वर्ण को और एक पद से दूसरे पद को पकड़कर की जाने वाली मन्त्र की आवृत्ति को मानस जप कहते हैं। इस ग्रन्थ के एक अन्य स्थल पर पञ्चब्रह्म मन्त्रस्वरूप शिव की स्थिति, पञ्चाक्षरमन्त्र के अक्षरों में सूक्ष्मरूप से वाच्य-वाचकभाव से (साक्षात् अपने स्वभाव के साथ) विद्यमान बतलायी गयी है। शिव प्रमेय हैं, अतः वह वाच्य हैं और वाचक मन्त्र प्रमाण है, अर्थात् मन्त्राराधन से ही शिव का ज्ञान हो सकता है और यह अनादिकाल से स्वतः सिद्ध है।

●

शैवमतों में वीरशैव मत का वैशिष्ट्य

डॉ. मखलेश कुमार

वेदवत् आगम शास्त्र का विद्वत् समाज में आदर है। यथा वेद अपौरुषेय है, वैसे ही आगम शास्त्र भी परम्परा से प्राप्त अपौरुषेय ही है। दोनों में मार्ग भेद ही प्रधान है। श्रौत तथा आगम दर्शन दोनों का ही लक्ष्य सद्-असद् विवेक ज्ञान के द्वारा परम पुरुषार्थ की प्राप्ति ही मुख्य है।

वैदिक काल से शिव की उपासना इस भारत भूमि में प्रचलित है। यजुर्वेद का शतरुद्रिय अध्याय, तैत्तिरीयारण्यक प्रतिपादित रुद्ररूप जगत् का सिद्धान्त इसके प्रबल प्रमाण हैं। हरि तथा हर से प्रकट होने के कारण श्रौत तथा आगम दर्शन दोनों ही एक-दूसरे के सहायक तथा प्रामाणिक हैं। जैसे हरि-हर में अभेद बताया गया है, वैसे ही निगम और आगम में भी अभेद स्पष्ट ही है। हर-प्रोक्त होने पर भी मत तो वासुदेव का ही है, जैसा कि इस निर्वचन से स्पष्ट है—

आगतं शिववक्त्रात्तु गतं च गिरिजाश्रुतौ।
मतं च वासुदेवस्य तस्मादागम उच्यते।।

महाभारत में भी शैवमत का विशद वर्णन उपलब्ध होता है। वामनपुराण में शैव, पाशुपत, कालदमन (वदन) और कापालिक आदि चार सम्प्रदायों का वर्णन प्राप्त होता है। इन्हीं सम्प्रदायों के मूल धार्मिक ग्रन्थों को शैवागम कहा जाता है। वैदिक दर्शन में उपवीत द्विज का अधिकार ही सिद्ध है, अतएव अन्य लोगों (वेद-बाह्यों) के कल्याण के लिए ही आगम दर्शन प्रयुक्त होता है, जिसमें वर्णाश्रम व्यवस्था का कोई भेद नहीं है और यहाँ सबका समान अधिकार मान्य है।

भगवान् शिव ने शैवमतावलम्बी अपने भक्तों के उद्धार के लिए २८ आगमों का आविर्भाव किया है। इन शैवागमों के उत्तरभाग में वीरशैव मत का विशद प्रतिपादन परिलक्षित होता है। जैसा कि सिद्धान्तशिखामणि में कहा गया है—

सिद्धान्ताख्ये महातन्त्रे कामिकाद्ये शिवोदिते।
निर्दिष्टमुत्तरे भागे वीरशैवमतं परम्।।

इन २८ शैवागमों की नामावलियों में पारमेश्वरागम का १६वाँ स्थान है। पारमेश्वरागम में वीरशैवमत के सिद्धान्तों का विशद वर्णन किया गया है। आगम-दर्शन में वीरशैव मत को शक्तिविशिष्टाद्वैत के नाम से भी जाना जाता है, जिसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—

"शक्तिश्च शक्तिश्च शक्ती, ताभ्यां विशिष्टौ जीवेशौ शक्तिविशिष्टौ, तयोरद्वैतं शक्तिविशिष्टाद्वैतम्" इति।

तात्पर्य यह है कि शक्तिविशिष्ट जीव और शक्तिविशिष्ट शिव, इन दोनों का समन्वित एकाकार स्वरूप ही शक्तिविशिष्टाद्वैत है। यह शक्तिविशिष्टाद्वैत (वीरशैव मत) ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी है तथा निष्काम कर्ममार्ग का उपदेश करता है। इसीलिए इसे वीरधर्म या वीरमार्ग कहा जाता है। शिव प्रधान देवता होने के कारण इसका नामकरण वीरशैवमत किया गया है। तत्त्वप्रकाशिका में वीर शब्द की परिभाषा की गयी है—

वीशब्देनोच्यते विद्या शिवजीवैक्यबोधिका।
तस्यां रमन्ते ये शैवा वीरशैवास्तु ते स्मृताः॥

अर्थात् शिवजीवैक्यबोधक विद्या में रमण करने वाले शैवों को वीरशैव कहा जाता है। इस मत में जीव को शिवांश की संज्ञा दी गयी है।

पारमेश्वरागम में शिवतत्त्व का प्रधान रूप से प्रतिपादन किया गया है। इसके अनुसार शैवमत सात प्रकार का कहा गया है। यथा—

"**शैवं सप्तविधं पुण्यं वीरशैवादिभेदतः**"। (पारमेश्वरागम, १.१५)

चन्द्रज्ञानागम में यह भेद आठ प्रकार का प्राप्त होता है। इसी प्रकार सूक्ष्मागम में भी सप्तविध शैवों के विवेचन के उपरान्त भेदोपभेदपूर्वक वीरशैव मत का वर्णन किया गया है। पारमेश्वरागम के अनुसार अनादिशैव, आदिशैव, अनुशैव, महाशैव, योगशैव, ज्ञानशैव और वीरशैव नामक सप्तविध शैवों के भेद किये गये हैं। इन भेदों में वीरशैव मत को ही सर्वोत्तमोत्तम बताया गया है, अन्य सभी मत इसके अङ्ग कहे गये हैं। यथा—

"**वीरशैवमितीशानि तदङ्गानीतराणि च**"। (पारमेश्वरागम, १.१६)

पारमेश्वरागम में शैवों के चतुर्विध भेद भी कहे गये हैं–शैव, पाशुपत, सोम तथा लाकुल। इस भेद में तथा वामनपुराण वर्णित भेद में नाम में अन्तर प्राप्त होता है। पारमेश्वरागम में ही जाति और कर्म के आधार पर भी शैवों के पाँच भेद किये गये हैं,

जो इस प्रकार हैं–शुद्धशैव, मिश्रशैव, मार्गशैव, वीरशैव और अवान्तरशैव[१]।

पारमेश्वरागम के सप्तम पटल में सप्त भेदों का लक्षण किया गया है। इसका स्वरूप आगे बताया जा रहा है। लक्षण में ही प्रकारान्तर से विधि का भी विवेचन प्राप्त होता है। यहाँ यह स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि अधिकारी भेद से ही यह भेद किया गया है। मनुष्यों की निष्ठा तथा प्रवृत्ति के कारण शैवों के वे भेद किये गये हैं। इन सबका मुख्य साधन ज्ञान ही है।[२] यदि किसी भक्त की विषयों के उपभोग की इच्छा बनी हुई है, तो ऐसे साधकों को प्रारम्भ के मत को स्वीकार करके उस मत के नियमों का पालन करते हुए शिवलिङ्ग की पूजा करनी चाहिए और इस प्रकार अपने को शुद्ध करते हुए अधिकारिता की सिद्धि हो जाने पर अन्य मतों का आश्रय लेना चाहिए[३]। यह आश्रयण भी उत्तरोत्तर सोपान क्रम से ही स्वीकार करना चाहिए[४]। यदि कोई साधक अपरिपक्व दशा में ही उत्तम मत का आश्रय लेता है, तो वृक्षाग्र से स्खलित होने वाले व्यक्ति की भाँति घोर कष्ट को प्राप्त करता है[५]।

इन सभी सप्तविध मतों के साधक के लिए दीक्षा, होम, आचार, भक्ति, इष्टलिङ्ग का नित्यार्चन तथा जङ्गम का सत्कार करना आदि सबके समान कर्त्तव्य हैं। परन्तु मतों के उत्तरोत्तर श्रेष्ठत्व की दशा में ये कर्म गौण हो जाते हैं।[६] शैवमतावलम्बी इष्टलिङ्ग की आराधना के साथ-साथ किसी भी दशा में मांसभक्षण तथा अपेय पदार्थ का ग्रहण न करें। शैवमतावलम्बी साधक अपने लिए भोजन न पकावे, अपितु अतिथि तथा गृहागत जङ्गम के सत्कारार्थ ही भोजन का निर्माण करे। शैव साधक को अलिङ्गी के घर का अन्न तथा अलिङ्ग याचक को सत्कारपूर्वक सन्तुष्ट करना चाहिए। विभिन्न मतावलम्बियों के साथ शैव साधक को द्वेष, बुद्धि, हिंसा व वञ्चना नहीं करनी चाहिए[७]। इस प्रकार के प्रतिपादन से यह स्पष्ट है कि शैवमत अन्य मतों के साथ समभाव रखता है। लिङ्गधारण मात्र से साधक को शिवत्व की प्राप्ति हो जाती है, इसीलिए यह मत सभी मतों में उत्तमोत्तम बताया गया है[८]। जैसा कि अभी ऊपर चर्चा की गई, सप्तविध शैवों का स्वरूप इस प्रकार है—

१. अनादिशैव

शैवमत में प्रवेश मात्र से अविवेकी मनुष्य को शिव अनुग्रह तथा शिवस्वरूप के ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं मिल सकती। पूर्वजन्म में कृत पुण्य के अनुसार ही व्यक्ति को

---

१. पारमेश्वरागम, १६.४।
२. वहीं, ६.९१।
३. वहीं, ९.८४-८५।
४. वहीं, ७.२८।
५. वहीं, ६.१६।
६. वहीं, ६.३२-३३।
७. वहीं, ६.४१-४३।
८. वहीं, ६.७८-७९।

शैवमत में प्रवेश का अधिकार मिलता है। इस अनादिशैव में प्रविष्ट साधक को सावधानीपूर्वक गुरूपदिष्ट मार्ग पर चलना चाहिए। कष्टादि तथा मृत्यु जैसा सङ्कट आने पर भी स्वीकृत मत का त्याग नहीं करना चाहिए। आलस्यादि से रहित होकर तीनों कालों में लिङ्गार्चनपूर्वक जङ्गमादि का स्वशक्ति के अनुसार तोषण करना चाहिए। सामान्यजन की भाँति जो आचरण करता हो अथवा सुख-दुःख का अनुभव करता हो, सुख-दुःखादि में समबुद्धि न रहती हो, ऐसे व्यक्ति का इस अनादिशैव मत में प्रवेश का अधिकार है।

२. आदिशैव

जो साधक पूर्व मत में ही रुकना न चाहता हो, तो द्वितीय आदिशैव मत को स्वीकार करे। आदिशैव मत के साधक को अनादिशैव की तरह ही आचरण करना है, परन्तु अनादिशैव की अपेक्षा एक शिथिलता परिलक्षित होती है कि साधक यथाशक्ति शास्त्र का आचरण करे, अशक्त होने पर कहीं-कहीं त्याग कर सकता है, फिर भी वह अनादिशैव से श्रेष्ठ है[१]।

३. अनुशैव

इस मत के साधक को लिङ्गार्चन तथा जङ्गम तोषण एक साथ ही बताया गया है। इस मत में कर्मबाहुल्य पर जोर न देकर ज्ञान पर अधिक जोर का विधान किया गया है[२]।

४. महाशैव

अनुशैववत् ही आचरण विहित है, विशेषता यह दृष्टिगोचर होती है कि इस मत का आश्रयण किये हुए साधक को भौतिक पदार्थों का उपभोग करने से पहले पूजा के रूप में शिव को समर्पित कर प्रसाद रूप में स्वीकार करना चाहिए, इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति न करते हुए सदैव शिवाराधना में लगा रहना चाहिए[३]।

५. योगशैव

इस मत में प्रविष्ट साधक चराचर जगत् को शिवमय देखे और सर्वत्र आत्म-तादात्म्य स्थापित करे। इसमें प्रविष्ट साधक को आचारादि पालन तथा जङ्गम पूजन की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि उसकी सर्वत्र शिवमय दृष्टि रहती है। इस मत के

---

१. पारमेश्वरागम, ६.१२-१३।

२. वहीं, ६.१४-१५।

३. वहीं, ६.१९-२०।

साधक के लिए विशिष्ट नियम यह है कि वह एकान्त स्थान पर वास करते हुए धनादि की आशा छोड़कर अहङ्कार और ममत्व से रहित होकर अपने स्वरूप को ही ईश्वर मानकर ध्यान में लगा रहे[१]।

६. ज्ञानशैव

इस मत में साधक को ध्यान, जङ्गमतोषण, लिङ्गपूजन तथा योगाभ्यास की कोई आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि इस मत में पहुँचा हुआ साधक अपने जीवन को पूर्वोक्त पाँच शैवमतों के आचरण से अपने को पूत कर चुका होता है। अत एव वह निश्चित रूप से इसी जीवन में शिव को प्राप्त कर लेता है[२]।

७. वीरशैव

वीरशैव मत में स्थित साधक ज्ञान और योग दोनों को साधन बनाता हैं, क्योंकि बिना दोनों को आश्रय बनाये इस मत का आश्रय लिया हुआ साधक मुक्ति-लाभ नहीं ले सकता। वीरशैव में यह स्पष्ट किया गया हैं कि भक्ति में वीरता प्रदर्शित करने के कारण उसे 'वीर' कहा जाता है। बलप्रदर्शन, पराक्रम तथा वैरभाव के कारण वह वीर नहीं हो सकता।[३] एक अन्य निर्वचन में बताया गया है कि तुरीयावस्थापन्न सभी योगी 'वीर' कहे जाते हैं, परन्तु इस वीरशैव मत में गुरूपदिष्ट मार्ग पर दृढ़ता से चलने वाले वीरशैव कहे जाते हैं। जो वीरशैव गुरु, लिङ्ग, जङ्गम, पादतीर्थ, प्रसाद, भस्म और रुद्राक्ष का धारण एवं पञ्चाक्षर मन्त्र का जप–इन आठ आवरणों से संयुक्त रहते हैं, वे सब शिवरूप में ही पृथिवी पर विचरण करते हैं।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि ज्ञानमार्ग का अधिकार प्राप्त करने के लिए शास्त्रविहित कर्मों का अनुष्ठान करना पड़ता है तथा ज्ञान की परिनिष्ठित अवस्था प्राप्त होने पर पूर्वस्वीकृत कर्म का त्याग किया जा सकता है। अत एव अनादिशैव में कर्म की श्रेष्ठता, आदिशैव में भगवत्स्मरण, अनुशैव में मनन, महाशैव में दृढ़ निश्चय, योगशैव में अष्टाङ्ग योग तथा ज्ञानशैव में सर्वत्र ज्ञान की भावना ही विशेषता से प्रतिपादित की गयी है[४]। वीरशैव के साधक की ज्ञान और योग दोनों में स्थिति आवश्यक बताई गयी है। इसीलिए यह मत ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी माना गया है।

---

१. पारमेश्वरागम, ६.२१-२३।

२. वहीं, ६.२५-२७।

३. वहीं, ६.३७-३९।

४. वहीं, ६. ३२-३६।

त्रिकाल में भस्म से स्नान, लिङ्गार्चन, शिवभक्त गृहस्थों के यहाँ भिक्षाटन, एकान्तवास, मौन-धारण, शिवशास्त्र का अवलोकन, विषयों से विरक्ति, भूतदया, चित्तवृत्ति का निरोध, सर्वत्र ईश्वर-दर्शन आदि वीरशैव के नियम बताये गये हैं[१]। इन लक्षणों से युक्त वीरशैव मतावलम्बी यदि प्राणिहिंसा, पद-हिंसा, मद्य, मांस, स्त्री आदि का सेवन करता है, तो उसका निश्चित रूप से पतन कहा गया है[२]। इस मत का आश्रय लिए हुए साधक को सदैव सावधान होकर ही इस पथ पर चलना चाहिए, केवल भिक्षा हेतु ही ग्राम-प्रवेश बताया गया है, अन्यथा ग्राम से बाहर का ही वास श्रेष्ठ है। हठपूर्वक वीरशैव मत में प्रवेश का निषेध किया गया है[३]।

वीरशैव मत के वैशिष्ट्य के प्रतिपादन में कहा गया है कि यह मत तात्कालिक भोग तथा मोक्ष दोनों को देने वाला एकमात्र साधन है। पापाचारी भी इस वीरशैव मत का आश्रय प्राप्त कर शिवमय हो जाता है, जिसे देखकर यमदूत दूर से ही पलायित हो जाते हैं[४]। जिस प्रकार काशीमरण मात्र से किसी भी जीव की मुक्ति सुनिश्चित बताई गयी है, उसी प्रकार वीरशैव मत में प्रविष्ट साधक बिना किसी भेद-भाव के मुक्ति-लाभ कर शिवस्वरूप को प्राप्त कर लेता है[५]। जैसे–आश्रमों में तुरीय स्थान स्थित संन्यासाश्रम सर्वश्रेष्ठ है, उसी प्रकार इन सात शैवमतों में सप्तम स्थान पर परिनिष्ठित वीरशैव मत सभी मतों में श्रेष्ठतम है। शास्त्रों में प्रसिद्ध अवधूत को ही वीरशैव कहा गया है[६]। अवधूत, संन्यासी, योगी, पाशुपत, शिवलिङ्गी, वीर, वीरशैव, महामाहेश्वर, यति आदि शब्द वीरशैव के पर्याय कहे गये हैं[७]। शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा और समाधि वीरशैव मतावलम्बी के छः अङ्ग बताये गये हैं।



---

१. पारमेश्वरागम, ९.५८-६३
२. वहीं, ९.२३-२५
३. वहीं, ९.३४
४. वहीं, ९. ४१-४६
५. वहीं, ९.१२
६. वहीं, ९.९०
७. वहीं, १०.६७

शैवभारती शोध प्रतिष्ठानम्
डी. 35/77, जंगमवाडीमठ
वाराणसी - 221001

ISBN 81-86768-72-6

Rs. 450.00